श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतं - नवमं

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

(श्रीरघुनाथजी, श्रीकल्याणरायजी, श्रीद्वारिकेश्वरजी, श्रीव्रजराजजी और केषांचित्
संस्कृत टीकाओंके हिंदी-अनुवाद तथा श्लोकार्थ, गुजरातीभावानुवाद,
श्रीगोविन्दराजभट्टजीके प्रकाशटिप्पणम् एवम्

संगिनी

टीका सहित)

❑ संपादक व लेखक ❑

गोस्वामी राजकुमार

❑ *प्रकाशक* ❑

गोस्वामी राजकुमार नृत्यगोपालजी
"चरणाट" बंगला नं. ५, ठाकुर विलेज, ठाकुर डिग्री कॉलेज के सामने,
कांदिवली (पूर्व), मुंबई - ४०० १०१. ● दूरभाष : २८८४ ६५०६
वि. सं. २०६१ ● वल्लभाब्द ५२७

प्रति : १०००

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतं -नवमं

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

अनुक्रमणिका

क्रमांक	प्रकरण	पृष्ठसंख्या
१.	कृष्णाश्रयस्तोत्रम् (मूल पाठ)	१
२.	श्लोकार्थ (हिंदी)	३
३.	श्रीरघुनाथानां विवरणम्	५
४.	श्रीकल्याणरायाणां विवरणम्	११
५.	त्रिगृहश्रीगोविन्दराजभट्टानां प्रकाशटिप्पणम्	१२
६.	श्रीद्वारकेश्वराणां विवृत्तिः	३३
७.	श्रीव्रजराजानां विवरणम्	५०
८.	केषांचित् विवरणम्	७४
९.	गुजराती भावानुवाद	९३

श्लोकार्थ

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

कलिकाल खलधर्मी है और लोक पाखंडप्रचुर है अतः भगवद्-प्राप्ति के समस्त मार्ग नष्ट हो गये हैं, सो अब कृष्ण ही मेरी गति हैं।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

समस्त देश म्लेच्छों से आकांत हैं एवं केवल एक पाप का ही घर बन चुके हैं। आज के ऐसे युग में सज्जनों को पीड़ा होती देखकर लोग व्यग्र हो गये हैं। ऐसी परिस्थिति में कृष्ण ही मेरी गति हैं।

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

इस कलिकाल में गंगाजी जैसे श्रेष्ठ तीर्थ दुष्टों से घिर चुके हैं। जिससे इनका अधिदैविकस्वरूप तिरोहित हो गया है। ऐसे में कृष्ण ही मेरी गति हैं।

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

सत्पुरुष अहंकार से विमूढ बन गये हैं एवं पाप का अनुकरण करने लगे हैं। स्वयं को पुजाने एवं धनलाभ के लिए ही यत्न कर रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में कृष्ण ही मेरी गति हैं।

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रततयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

आज के समय में मंत्रों का किसी को परिपूर्ण ज्ञान नहीं है, मंत्रों को ग्रहण करने में आवश्यक व्रत-नियम का भी पालन नहीं हो रहा है अतः इन मंत्रों की अर्थशक्ति एवं इनमें रहने वाले देवता तिरोहित हो गये हैं। ऐसे में कृष्ण ही मेरी गति हैं ॥५॥

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

अनेकविध वादविवादों के कारण समस्त कर्म, व्रत आदि नष्ट हो चुके हैं। आज केवल पाखंड के लिए ही सभी प्रयत्न कर रहे हैं। अतः कृष्ण ही मेरी गति हैं।

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

प्रभु ने अजामिल जैसे महापातकी के दोषों का नाश किया था। अपने अखिल माहात्म्य को प्रभु ने इस प्रकार से ज्ञापित कर रखा है अतः ऐसे कृष्ण ही मेरी गति हैं।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

अन्य समस्त देवता प्राकृत हैं। अक्षरब्रह्म के आनंद की गणना की जा सकती है। जहाँ हरि-श्रीकृष्ण तो पूर्णानंद हैं अतः कृष्ण ही मेरी गति हैं।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

विवेक-धैर्य-भक्ति इत्यादि से रहित, विशेषरूप से पाप में आसक्त, ऐसे मुझ दीनहीन की कृष्ण ही गति हैं।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वसामर्थ्यवान, सभी के मनोरथ पूर्ण करने वाले, शरणागत का उद्धार करने के लिए श्रीकृष्ण को मैं (उपर कहे श्लोकानुसार) विनति कर रहा हूँ।

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

इस कृष्णाश्रयस्तोत्र का जो कृष्ण की सन्निधि में पाठ करेगा, कृष्ण उसके आश्रय बन जायेंगे-यह मैं श्रीवल्लभ कह रहा हूँ।

यह श्रीवल्लभाचार्यविरचित कृष्णाश्रयग्रंथ संपूर्ण हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्रघुनाथचरणविरचितविवरणविभूषितम् ।

य आविरासीद्घोरेस्मिन् कलौ श्रीवल्लभाभिधः ।
निजदास्यं स नो देयादव्यादपि दुराश्रयात् ॥ १ ॥
सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वमार्गेष्विति । सर्वे कर्मज्ञानोपासनादयस्ते मृग्यन्ते तत्तत्फलार्थिभिरिति मार्गा इष्टप्राप्त्युपायास्तेषु सर्वेषु नष्टेषु तिरोहितेषु सत्सु । अनेन जीवानां सर्वथैवागतिकत्वं सूचितम् । एवं विधेऽप्यशक्येर्थे मम सर्वस्वनिवेदिनो दासस्य कृष्ण एव गतिः शरणं, प्राप्तव्योर्थ 'आश्रयणं च । अत्रास्तिवितिपदं व्याख्यानेऽध्याहार्यम् । एवकारेणान्यनिषेधः सूचितः । किं च, कालकृतोपद्रवेणाप्यगतिकत्वं कलौ चेत्यनेनाहुः कलाविति । बहिर्धर्मरूपाभासोन्तर्दोषग्रस्तो धर्मः खलो भवति, तादृशो धर्मो यस्मिन्कलौ ।

इस घोर कलियुग में जो यह 'श्रीवल्लभ' प्रकट हुए हैं।
वही हमें अपना दास्य प्रदान करें एवं अन्याश्रय से भी बचाएँ ॥१॥

अब प्रथम श्लोक के अंतर्गत **सर्वमार्गेषु** इत्यादि शब्दों की हम व्याख्या कर रहे हैं। **सर्वे** शब्द से तात्पर्य है कर्म, ज्ञान, उपासना इत्यादि मार्ग। इन इन कर्म, ज्ञान, उपासना आदि की इच्छा रखने वाले जीव जब इनके द्वारा भगवान की प्राप्ति करना चाहते हैं, तब ये मार्ग कहलाते हैं अर्थात् इष्टप्राप्ति के उपाय कहलाते हैं। आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि, वर्तमान में ये सभी मार्ग नष्ट हो चुके हैं, तिरोहित हो चुके हैं। इन समस्त मार्गों के नष्ट हो जाने पर अब जीव की कोई गति ही नहीं रह जाती है - यह आचार्यचरण सूचित कर रहे हैं। इस प्रकार की विकट या अशक्य परिस्थिति खड़ी होने पर भी आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, सर्वस्व निवेदित कर देने वाले मुझ दास की कृष्ण ही गति हैं अर्थात् शरण हैं। वही मुझे प्राप्त करने हैं एवं वही मेरे आश्रय हैं, यह अर्थ है। पूरे श्लोक का अर्थ ऐसे करना चाहिए कि - समस्त मार्गों के नष्ट हो जाने पर, खलधर्मी कलिकाल आ जाने पर एवं लोक में प्रचुर पाखंड फैल जाने पर कृष्ण ही मेरी गति हों। ध्यान दें कि यहाँ आचार्यचरणों ने 'कृष्ण ही मेरी गति हैं' इस प्रकार से भारपूर्वक 'ही' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे ज्ञात होता है कि, केवल कृष्ण ही हमारी गति हैं, अन्य दूसरे देवी-देवता नहीं। और भी, यह समझें कि इस कलि में काल ने उपद्रव मचा रखा है, जिससे इस कलियुग में धर्माचरण की कोई गति नहीं रह गई है - इसे बताने के लिए आचार्य ने कलौ च खलधर्मिणि कहा है। जो धर्म बाहरी ओर से केवल धर्म का आभास मात्र देता हो परंतु भीतर से दोषग्रस्त हो, वह 'खलधर्म' कहलाता है, धर्म की ऐसी गति जिस कलिकाल में हो गयी हो ऐसे कलिकाल में कृष्ण ही हमारी गति हैं, यह अर्थ है।

खलानां दांभिकहैतुकपाषण्डिनामेव धर्मो यस्मिन्निति वा, क्वचि'त्खरधर्मिणी'त्यपि पाठः श्रूयते, तत्रापि खरो रौद्रो धर्मो यस्येति, अत्रैवं व्युत्पत्तिः- खरश्चासौ धर्मश्चेतिकर्मधारये कृते पश्चान्मत्वर्थीय 'इनि'प्रत्ययः, नो चेद्बहुव्रीहौ 'क'प्रत्ययः प्रसज्येत । चकारात्कर्मज्ञानाद्यतिरोधानेषु कल्यतिरिक्तकालेष्वपि । किञ्च, पाषण्डा वेदबाह्यो धर्मः, स प्रचुरः अधिको यस्मिन्, एवंविधे लोके व्यवहार्यजनतायां सत्यां, सर्वप्रकारेण कृष्णाश्रयणं विना निस्तारो नास्त्येवेति सर्वस्यापि फलितार्थो ज्ञेयः। अत एव ' बृहन्नारदीये'प्युक्तं, ' हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम् । कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथे'ति । अत्र सर्वत्रापि क्वचिन्निमित्तसप्तमी, क्वचि'दर्हाणां कर्तृत्व' इत्यनेन सप्तमी ज्ञेया ॥ १ ॥

अथवा दुष्टों का या दंभ का हेतु रखनेवाले पाखंडियों के धर्म का फैलावा जहाँ हो गया है, ऐसे कलिकाल में कृष्ण ही हमारी गति हैं, ऐसा

---

१ आश्रयो वेति पाठः ।

अर्थ कर लें। कहीं-कहीं 'खलधर्मिणि' के स्थान पर 'खरधर्मिणि' पाठ भी सुना गया है, अतः यदि खरधर्मिणि का अर्थ लेना हो तो खर का अर्थ होता है 'रौद्र'। अर्थात् जहाँ धर्म तामसी हो गया हो, ऐसे कलिकाल में कृष्ण ही गति हैं, यह अर्थ है। यदि खरधर्म शब्द का अर्थ समझना हो तो कर्मधारयसमास करके 'इन्' प्रत्यय लगा कर करना चाहिए। इसमें बहुव्रीहि-समास से अर्थ नहीं करना चाहिए। 'च' शब्द से यह ज्ञात होता है कि कर्म-ज्ञान आदि मार्ग तिरोहित न भी हुए हों, तब भी कलिकाल से अतिरिक्त दूसरे कालों में भी कृष्ण ही हमारी गति हैं। और जो भी वेदविरुद्ध धर्म हैं वह सभी कुछ पाषंड है और जिस कलिकाल में ऐसे पाखंड की प्रचुरता है, ऐसे प्रकार के लोक में जनव्यवहार पाखंडी हो जाने पर समस्त प्रकारों से कृष्ण का आश्रय किए बिना उद्धार होना संभव ही नहीं है, यह सभी का फलितार्थ समझ लेना चाहिए। इसी कारण बृहद्-नारदपुराण में 'केवल हरि का ही नाम हमारा जीवन है, उनके अतिरिक्त इस कलिकाल में हमारी और कोई गति नहीं है' (बृहद्-नारदीय/पू.भा./१/४१/११५) इस प्रकार से कहा गया है। इस संपूर्ण ग्रंथ में कहीं पर निमित्त-सप्तमी तो कहीं पर 'अर्हाणां कर्तृत्वे' इस सूत्र के द्वारा केवल सप्तमी-विभक्ति जान लेनी चाहिए ॥१॥

धर्मोत्पत्तौ बाह्याभ्यन्तरभेदेन बाधमुद्भावयन्तो निष्प्रत्यूहं श्रीकृष्णाश्रयणं विदधति ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

म्लेच्छाक्रान्तेष्विति । धर्माद्यर्थिभिर्वासयोग्येषु देशेषु कुरुक्षेत्रगङ्गातटादिषु म्लेच्छैराक्रान्तेषु व्याप्तेषु सत्सु, अत्रोभयथा म्लेच्छा ज्ञेया जात्या कर्मणा च । नन्वेवंविधेष्वपि देशेषु पुण्यात्मानो भविष्यन्त्येव तैः सह धर्माद्याचरणं कुतो नेत्यत आहुः- पापैकेति । कलिना ग्रस्तत्वात्पापस्यैवैकस्य निलयाः स्थानभूता जाताः । चकारादनेवंविधेष्वपि । एतेन धर्मादिषु बाह्यसाधननिवृत्तिरुक्ता । तर्ह्याभ्यन्तरसाधनं स्मरणादि कुतोनेत्यत आहुः- सत्पीडेति । सतां सत्पुरुषाणां धार्मिकाणां भगवत्परायणानामपि यादृशी पीडा नोचिता तादृश्या अपि दर्शनादन्येषां विश्वासशैथिल्येन व्यग्रेषु विक्षिप्तचित्तेषु कर्त्तव्यतामूढेषु लोकेषु सत्सु । कृष्ण एव गतिर्ममेति पूर्ववत् व्याख्येयम् ॥ २ ॥

इस प्रकार से आचार्यचरण धर्म की उत्पत्ति में बाहर और भीतरी रूप से बाधाओं को बताते हुए अब आगे के श्लोक में निर्विघ्नरूप से कृष्ण का आश्रय करने का विधान कर रहे हैं।

इस श्लोक के अंतर्गत सर्वप्रथम म्लेच्छाक्रांतेषु इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि, धर्म आदि की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों के रहने लायक कुरुक्षेत्र-गंगातट आदि स्थल म्लेच्छों से व्याप्त हो गये हैं। यहाँ बताए गये म्लेच्छ जाति से भी म्लेच्छ हैं एवं कर्म से भी। परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि भले ही धर्मस्थलों पर म्लेच्छों का फैलावा हो गया है, तथापि धर्मस्थलों पर पुण्यात्मा भी तो निवास करते ही होंगे, तो उनके संग धर्माचरण क्यों नहीं किया जा सकता ? कृष्ण का आश्रय लेने की ही क्या आवश्यकता है ? तो इसका समाधान आचार्यचरण पापैक इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। इन शब्दों से आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि, कलिकाल से ग्रस्त होने के कारण ये सभी धर्मस्थल केवल पाप ही घर बन चुके हैं और यदि न भी बने हों, तब भी कृष्ण ही हमारी गति हैं, तीर्थस्थल आदि भी हमारा कल्याण नहीं कर सकते, यह च शब्द से ज्ञात होता है। इस उपदेश के द्वारा आचार्यचरणों ने धर्म के बाहरी साधन निष्फल कह दिए हैं। परंतु यहाँ शंका यह होती है कि यदि धर्म के बाहरी साधन व्यर्थ हैं तो फिर धर्म के भीतरी साधन, जैसे भगवत् स्मरण आदि धर्म के साधक क्यों नहीं हो सकते ? तो इस शंका का समाधान आचार्यचरण सत्पीड़ा इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। इस पंक्ति का अर्थ यह है कि सत्पुरुष धार्मिक भगवत्परायणों को भी जो पीड़ा नहीं होनी चाहिए, वैसी पीड़ा होती दिखाई देने के कारण दूसरों का धर्म पर से विश्वास डगमगा जाता है एवं वे व्यग्र-विक्षिप्त-किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं। अतः भगवत्स्मरण में उनकी पूर्णरूप से निष्ठा उत्पन्न नहीं हो पाती; ऐसी परिस्थिति में कृष्ण ही मेरी गति हैं, यह आचार्यचरणों का कथन है ॥२॥

ननु गङ्गादिपूर्वोक्तपुण्यदेशानां वस्तुसामर्थ्येन 'साधनत्वं कुतो नेत्याशङ्क्य वस्तुसामर्थ्यतिरोधानान्न तथात्वमिति समाहितिपूर्वकं कृष्णाश्रयमाहुः-

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादीति । आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकादिभेदेन त्रैविध्यं तीर्थादावप्यस्ति, तत्र 'पुरुषश्चाधिदैवत'-

---

१ गङ्गाप्रयागेष्विति पाठः । २ साधकत्वमिति पाठः । ३ उच्यते इति पाठः ।

मितिवचनाद्भगवद्रूपमेव तीर्थादौ सामर्थ्यरूपेणास्तीति मन्तव्यं, तच्च भगवदिच्छयेदानीं बहुधा तिरोहितं, न तु सर्वथा, अत एवंविधेषु गङ्गादितीर्थवर्येषु तीर्थमुख्येषु म्लेच्छादिभिः केवलदुष्टैरावृतेषु सत्सु, इह अस्मिन् भूलोके काले वा कृष्ण एव गतिर्ममेति पूर्ववत् ॥ ३ ॥

परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि, आपके कहे हुए गंगा आदि पुण्यदेशों में भले ही म्लेच्छों का वास हो गया हो परंतु स्वयं गंगाजी तो वहाँ बह ही रही हैं, क्या उनमें भी सामर्थ्य नहीं है ? इस शंका का समाधान करते हुए आचार्यचरण आगे के श्लोक में आज्ञा करते हैं कि इस कलिकाल में गंगा आदि पुण्यदेशों का सामर्थ्य भी तिरोहित हो गया है अतः एक कृष्ण का ही आश्रय करना चाहिए।

गंगादि इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। इन तीर्थस्थलों में आधिभौतिक-आध्यात्मिक-आधिदैविक के प्रकार से त्रिविधता तो अवश्य है एवं "हे अर्जुन ! प्रकृति अधिभूत है एवं विराट पुरुष (भगवान) अधिदेव है (भ.गी.८/४)" इत्यादि वचनों द्वारा तीर्थस्थलों में भगवद्-रूप ही सामर्थ्यरूप से विद्यमान है परंतु भगवदिच्छा से ही अधिकांशतया वह सामर्थ्य तिरोहित हो गई है, पूर्ण रूप से नहीं। अतएव गंगातट जैसे मुख्य तीर्थस्थल म्लेच्छों अर्थात् केवल दुष्टों से ही घिर चुके हैं अतः इस भूलोक में अथवा इस काल में केवल कृष्ण ही मेरी गति हैं, यह अर्थ है ॥३॥

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारेति । किञ्च, वयं सर्वज्ञाः के वास्मत्तोधिकवेत्तारो यान् वयं पृच्छाम इत्येवंविधाहङ्कारेण विशेषतो मूढेषु आत्मोद्धारोपायज्ञानशून्येषु, 'लोकेष्वि'तिपदं पूर्वस्मादध्याहार्यम् । किञ्च, सत्सु महापुरुषेषु पापं दुष्टाचरणमपकार इति यावत्, तमनुवर्तयन्त्यनुतिष्ठन्ति ये ते पापानुवर्तिनः, एवंविधेषु सत्सु, अथवा जीविकाद्यर्थं सत्सु सत्पुरुषेषु पापानुवर्तिषु निषिद्धाचरणपरेषु । किंविशिष्टेषु तेषु लाभपूजेति । लाभो द्रव्यादेः पूजा स्वोन्नतिपूर्वकं लोककृतसन्माननं, अर्थः स्वप्रयोजनं, एतत् त्रितयसिद्ध्यर्थमेव यत्न उद्यमो येषां तेषु सत्सु, कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहंकार इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। **इस पंक्ति का अर्थ यह है कि, "हम सर्वज्ञ हैं" "हमसे अधिक कौन जानता है जिससे हम पूछें"** इस प्रकार के अंहकार **द्वारा विशेष मूढ व्यक्ति अर्थात् आत्मोद्धार के उपाय को न जानने वाले लोगों की बहुतायत** (प्रथम श्लोक में आए लोकेषु पद को यहाँ **भी प्रयुक्त कर लें) हो जाने पर और सत्सु अर्थात् महापुरुषों में भी पाप** अर्थात् दुष्टाचरण बढ़ जाने पर इत्यादि सभी विकट परिस्थितियों **में कृष्ण ही गति हैं। ऐसे दुष्टजनों का जो व्यक्ति** अनुकरण कर रहे हैं, वे पापानुवर्ती हैं। अर्थात् महापुरुष भी जीविका के लिए पापानुवर्ती **हो गये हैं या निषिद्ध आचरण करने लगे हैं।** इन लोगों में कौन सा निषिद्ध आचरण विशिष्टरूप से हो गया है, यह आचार्यचरण **लाभपूजार्थ** इत्यादि शब्दों से कहे रहे हैं। लाभ का अर्थ है-धनसंपत्ति प्राप्त होनी एवं पूजा का अर्थ है - अपनी उन्नति चाहते हुए लोक में सम्मान प्राप्त करने की इच्छा रखनी एवं अर्थ से तात्पर्य है - अपने स्वार्थ को पूर्ण करना। भगवत्प्राप्ति को छोड़कर केवल इन्हीं तीन वस्तुओं को प्राप्त करने का जो यत्न कर रहे हैं, वे दुष्ट हैं और ऐसे दुष्टजनों से लोक के व्याप्त हो जाने पर कृष्ण ही मेरी गति हैं, यह अर्थ है ॥४॥

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञानेति । [1]वृद्धजनगुर्वाद्युपसत्त्यभावेन विद्योपशमात्पाठार्थविनियोगादीनामपरिज्ञानेन मन्त्रेषु नष्टेषु तिरोहितेषु सत्सु, पुनः किंविशिष्टेषु अव्रतयोगिषु अव्रतेषु व्रतभ्रष्टेषु योगः स्थितिरस्ति एषामेतेनैवंविधेष्वतिरोहितानामप्यकिञ्चित्कत्वमेव । यद्वा, स्वस्वाश्रमस्था योगिन उच्यन्ते तेष्वप्यव्रतेषु सत्सु । पुनः किंविशिष्टेषु तिरोहितार्थदेवेषु । तिरोहितः गुप्तः अर्थो मन्त्रार्थः, देवोऽधिष्ठात्री देवता, एतद् द्वयं येषां मन्त्राणां न ज्ञायते तैः कियानर्थः सेत्स्यतीति भावः ॥ ५ ॥

अब अपरिज्ञान इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। इस पंक्ति का अर्थ यह है कि, इस कलियुग में वृद्धजनों, गुरु इत्यादि महापुरुषों का कोई संग करना नहीं चाहता अतः ऐसे सत्संग का अभाव हो चला है। विद्या का नाश हो गया है एवं भगवद्नाम वाले पाठों के लिए कहाँ, क्या, किसका विनियोग करना चाहिए, इसका भी परिपूर्ण ज्ञान आज लोगों में नहीं है अतः इन पाठों में रहे हुए मंत्र नष्ट हो चुके हैं, तिरोहित हो गये हैं। ये मंत्र विशेषरूप से क्यों नष्ट हो गये हैं यह आचार्यचरण अव्रतयोगिषु पद द्वारा आज्ञा कर रहे हैं। अर्थात् जो लोग व्रतभ्रष्ट हो चुके हैं वे अव्रतयोगिषु हैं और ऐसे लोगों की आज सर्वत्र बहुलता है अतः इस परिस्थिति में यदि एकबारगी ये मंत्र-आदि तिरोहित न भी हुए होते, तो भी ऐसे व्रतभ्रष्टों के उद्धार के लिए कुछ नहीं कर सकते थे। अथवा यों अर्थ कर लें कि अपने-अपने आश्रमों (अर्थात् ब्रह्मचर्य - गृहस्थ - वानप्रस्थ

---

१ आचार्योपसत्त्यभावेनेति पाठः ।

- संन्यास) की मर्यादा को निभाते हुए जो जीवनयापन कर रहे हैं वे योगी हैं; वे जब इनकी मर्यादा भंग करते हैं तो उन्हें अव्रतयोगी कहा जाता है। और अधिक किस प्रकार से ये सभी नष्ट हो गये हैं, यह आचार्यचरण तिरोहितार्थदेवेषु इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तिरोहित का अर्थ है -गुप्त। अर्थ से तात्पर्य है - मन्त्र का अर्थ एवं देव का अर्थ है उस मंत्र में रहने वाला देवता। (जैसे सर्वोत्तम स्तोत्र में 'ऋषिरग्नि'..... प्रभु (५) श्लोक में श्रीमत्प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि इस स्तोत्र के दृष्टा-ऋषि वे स्वयं हैं, इसके देवता श्रीमहाप्रभुजी हैं एवं इन मन्त्रों के बीज स्वयं श्रीकृष्ण हैं।) परंतु जिन मंत्रों के अर्थ का एवं अधिष्ठाता देवता का ही अतापता न हो, उस मंत्र से क्या अर्थ फलित होगा ? यह भाव है ॥५॥

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावादेति । कुतार्किकबौद्धाद्यागमोक्ता ये वादा वाग्जालरूपाः 'यावज्जीवेत्सुखं जीवेदि'त्येवंरूपाः तैः कृत्वा वैदिकागमाद्युक्तसर्वकर्मव्रतादिषु विनष्टेषु विशेषतो नष्टेषु नास्तिक्येन पराङ्मुखेषु सत्सु । किञ्च, पाषण्डेषु वेदादिविरुद्धार्थेष्वेव एकः असाधारणः प्रयत्नः पुनः पुनरुद्यमो येषां, एवंविधेषु लोकेषु सत्सु कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥६॥

अब इस श्लोक के अंतर्गत नानावाद इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं।

कुतार्किक बौद्धमत के शास्त्रों में कहे गये वाग्जालरूप (वाणी से व्यामोहित कर देने वाले) जो वाद हैं अर्थात् 'जब तक जीना सुख से जीना। उधार कर-कर के मौजमजा कर लेना चाहिए। एक बार मृत्यु हो जाने के पश्चात् कौन उधार वसूल करने आने वाला है ?' (विभिन्न संप्रदायों में एक नास्तिकों का संप्रदाय भी है जो चार्वाक-मत के नाम से जाना जाता है। उपर्युक्त कथन उन्हीं के संप्रदाय का है। ये संप्रदाय भगवान-वेद-शास्त्र-कर्मकांड-पुनर्जन्म इत्यादि को नहीं मानता। टीकाकार यहाँ नानावाद के संदर्भ में ऐसे ही वेदनिंदक संप्रदायों को इंगित कर रहे हैं) इस प्रकार का मत रखते हैं, ऐसे व्यक्तियों का संग हो जाने के कारण वैदिक-शास्त्रों में कहे गये समस्त कर्म-व्रत आदि विशेषरूप से नष्ट हो गये हैं अर्थात् नास्तिकता के कारण लोग भगवद्-शास्त्रों से पराङ्मुख (विपरीत) हो चले हैं। और पाषण्डेषु अर्थात् वेद-आदि से विरुद्ध-कार्य करने का ही जो बारंबार प्रयत्न कर रहे हैं, वे पाखंडी हैं और ऐसे लोगों की भरमार हो जाने पर कृष्ण ही मेरी गति हैं, यह अर्थ है ॥६॥

विश्वासार्थं सदृष्टान्तमाश्रयणमाहु :-

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादिदोषाणामिति । शूद्रीभर्तुर्ब्रह्मबन्धोरजामिलनाम्नो दोषाणां महापातकानां नाममात्रेण नाशकोस्माकमनुभवे स्थितः, शाब्दानुभवे अन्तःसाक्षिप्रत्यक्षे वा स्थितो विषयीकृत इति यावत् । 'आदि' पदाद्गजेन्द्रप्रभृतयः, यमलोकस्थिता नारकिणश्च । इदं नृसिंहपुराणादौ प्रसिद्धम् । ज्ञापितं दैवजीवेष्वखिलं समग्रं निजमाहात्म्यं येन, एवंविधः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ७ ॥

कृष्ण का ही आश्रय लेना आवश्यक है, इस पर विश्वास दृढ़ करने के लिए अब आचार्यचरण आगे के श्लोक द्वारा कुछ दृष्टांत कह रहे हैं।

अजामिलादिदोषाणाम् इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। अजामिल के दृष्टांत द्वारा आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि, वेश्यापति-अधमब्राह्मण अजामिल नामक महापातकी के दोषों का मृत्यु के समय केवल भगवान का नाम ले लेने मात्र से नाश हो गया था एवं उसका उद्धार हो गया था, यह बात हमारे अनुभव ये है ही। (देखें श्री. भा. ६/२/८)। इस तरह केवल नाम से उद्धार हो जाने का अनुभव शास्त्रों में भी है, हम सभी के अन्तःकरण में भी है और प्रत्यक्षरूप से भी है, यह अर्थ है। 'अजामिलादि' शब्द में आदि पद से गजेन्द्र (देखें श्री.भा. ८/३/३२,३३) एवं यमलोक में नर्क भोगनेवाले जीव भी गिन लेने चाहिए, इनका भी भगवद्-आश्रय, भगवद्-नाम लेने से ही उद्धार होता देखा-सुना-पढ़ा गया है। भगवान का इस प्रकार से उद्धार करना नृसिंहपुराण इत्यादि शास्त्रों में प्रसिद्ध है अतःदैवीजीवों में अपने अखिल माहात्म्य को जिस श्रीकृष्ण ने ज्ञापित कर (बता) दिया है, ऐसे श्रीकृष्ण मेरी गति हैं, यह अर्थ है ॥७॥

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति । सकला ब्रह्मादयो ये देवास्ते प्राकृताः, प्रकृतिर्माया तन्निबन्धनोत्पत्तिस्थितिविलया, अतस्तेषामाश्रयणं न कालादिभयनिवर्तकं प्रत्युत भयजनकमेव । अत एवोक्तं दशमे 'मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्नि'त्यादौ । तर्हि बृहदक्षरं तथास्त्विति चेत्तदपि नेत्याह-गणितानन्दकमिति । ब्रह्मापेक्षया शतगुणितानन्दत्वेनापरिमिता

नन्दत्वाभावात्पुरुषोत्तमापेक्षयाल्पत्वाद्धरेः सकलदुःखहारकस्य श्रीकृष्णस्य पूर्णानन्दत्वादखण्डितानन्दत्वात्सर्वैरूपायैः सर्वात्मना, कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

अब प्राकृता इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। ब्रह्मा आदि जो समस्त देवता हैं, वे प्राकृत हैं। प्रकृति से तात्पर्य है माया अर्थात् ये सभी देवता माया से बंधे होने के कारण इनकी उत्पत्ति-स्थिति होती रहती है अतःइन देवताओं का आश्रय हमें काल-आदि के भय से छुटकारा नहीं दिला सकता अपितु और उल्टे भय उत्पन्न करवा देता है। इसी कारण श्रीमद्भागवत के दशम-स्कंध में माता देवकी के भगवान के प्रति "हे प्रभो ! यह जीव लोकान्तरों में भटकता फिरा परंतु इसे ऐसा कोई स्थान न मिला जहाँ यह निर्भय हो सके। अब इसे आपके चरणारविंदो में स्थान मिल गया है, जिससे यह सुख की नींद सो रहा है और मृत्यु भी इससे भयभीत होकर भाग गयी है। (श्री.भा. १०/३/२७)" इस प्रकार के वचन हैं। परंतु फिर भी यहाँ एक शंका यह होती है कि भले ही ये समस्त देवता प्राकृत हों किंतु अक्षरब्रह्म में तो उद्धार करने की सामर्थ्य है ही अतःश्रीकृष्ण का ही आश्रय करने की क्या आवश्यकता है ? अक्षरब्रह्म का ही आश्रय क्यों न कर लिया जाय ? तो इस शंका का समाधान आचार्यचरण गणितानंदकं इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि, ब्रह्मा की अपेक्षा अक्षरब्रह्म में सौ गुना आनंद अधिक अवश्य है परंतु पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की तरह अपरिमित (जिसकी गणना न की जा सके) आनंद नहीं है अतः पुरुषोत्तम के आनंद से तो अल्प ही है। और सकलदुःखहर्ता हरि-श्रीकृष्ण तो पूर्णानंद हैं और इनका आनंद कभी खंडित होने वाला नहीं है अतः सभी प्रकार से कृष्ण ही हमारी गति हैं ॥८॥

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

विवेकेति । 'विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यती'त्येवंरूपः, त्रिविधदुःखसहनं धैर्यपदार्थः। भक्तिपदेन क्रमायातमाश्रयणमुच्यते । आदिपदेन तत्साधनान्युच्यन्ते । एतेषां विविच्य निरूपणं तु 'विवेकधैर्याश्रय'व्याख्याने कृतमस्ति तत एवावगन्तव्यम् । विवेकादिभगवद्धर्मरहितस्य मम कृष्ण एव गतिः । किञ्च, न केवलमेतद्राहित्यमपि तु विशेषतोऽतिशयेन पापासक्तस्य महापातकाचरणरतस्यापि । पापवर्जनेऽसमर्थत्वाद्ग्लान्या दीनस्य । भगवताप्येतादृशानां स्वाश्रयेणैव सिद्धिरुक्ता 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनय'इति, 'अपि चेत्सुदुराचार' इत्यादौ ॥ ९ ॥

अब विवेक इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। "हरि जो करेंगे वह उनकी अपनी ईच्छा से करेंगे-यही विवेक है" इस वाक्यानुसार मन में इस प्रकार से अनुसंधान रखना विवेक है। और तीन प्रकार के (आध्यात्मिक - आधिदैविक - आधिभौतिक) दुःखों को सहन करना धैर्य कहलाता है। यहाँ मूलश्लोक में आचार्यचरणों ने विवेक-धैर्य के पश्चात् भक्ति पद का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है 'आश्रय'। आदि पद के द्वारा आचार्यचरण भक्ति/आश्रय सिद्ध करने के साधनों को कह रहे हैं अर्थात् कुलमिला कर तात्पर्य यह हुआ कि, इन विवेक-धैर्य-भक्ति एवं उसके साधनों से रहित होने के कारण कृष्ण ही मेरी गति हैं। इन विवेक-धैर्य आदि का निरूपण तो विवेकधैर्याश्रय ग्रंथ के व्याख्यान में किया जा चुका है अतः वहीं से समझ लेना चाहिए। और, यह भी समझें कि केवल विवेकधैर्य आदि से रहित जीव की ही नहीं अपितु विशेषरूप से अतिशय पाप में आसक्त अर्थात् महापातकी आचरण करने वाले की भी गति कृष्ण ही हैं। ऐसे व्यक्ति पाप का आचरण त्यागने में असमर्थ होते हैं अतः उनमें ग्लानि उत्पन्न होती है, इसी कारण आचार्यचरण उन्हें दीन कह रहे हैं। भगवान ने भी ऐसे जीवों का उद्धार "हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र, पापयोनिवाले जो कोई भी हों, मेरी शरण होकर तो परमगति को प्राप्त होते हैं (भ.गी.९/३२)" "यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाव से मेरा भक्त होकर मुझे निरंतर भजता है तो उसे संत ही समझना चाहिए (भ.गी.९/३०)" इत्यादि श्लोकों द्वारा उनकी ही शरण द्वारा कहा है ॥९॥

सर्वस्वनिवेदिनां साधनं फलं च स्वप्रभुरेव संपादयिष्यतीति प्रार्थनामपि तथैवाहुः-

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वसामर्थ्येति । [1]कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थत्वात्सर्वसामर्थ्यसहितस्त्वं मम प्रभुः । किंविशिष्टः सर्वत्रैव यत्र क्वाप्यखिलान्सर्वान्वाञ्छितानर्थान्करोतीत्यखिलार्थकृत् यतस्त्वमेवंविधः स्वामी अतः कारणात् कृष्ण हे परब्रह्म शरणस्थस्य शरणागतस्य सम्यगुद्धारं विज्ञापयामि अहं त्वत्पुरः स्थितः शरणार्थी ॥ १० ॥

सर्वस्व निवेदन करने वालों को साधन एवं फल अपने प्रभु ही संपादित करेंगे अतः आचार्यचरण आगे के श्लोक में प्रार्थना भी वैसी ही कर

---

१ अन्यथाकरणेति ख. ग.

रहे हैं ।

इस श्लोक में आए **सर्वसामर्थ्य** शब्द की व्याख्या कर रहे हैं । भगवान श्रीकृष्ण कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुम् समर्थ हैं अतः आचार्यचरण उन्हें 'सर्वसामर्थ्यसहितः' पद से संबोधित कर रहे हैं और प्रार्थना कर रहे हैं कि ऐसे सामर्थ्यवान तुम मेरे प्रभु हो । और प्रभु श्रीकृष्ण में क्या विशिष्टता है ? तो आचार्यचरण उन्हें **सर्वत्रैवाखिलार्थकृत्** पद से संबोधित कर रहे हैं अर्थात् यत्र-तत्र जहाँ कहीं भी भक्त की जो मनोकामना हो, उन सभी को भगवान पूर्ण कर देते हैं, इसी कारण वे **अखिलार्थकृत्** हैं । अतः आचार्यचरण आगे प्रार्थना करते हुए कह रहे हैं कि, हे कृष्ण ! चूँकि तुम मेरे ऐसे समर्थ स्वामी हो अतः हे परब्रह्म । शरणागत का संपूर्ण रूप से उद्धार करने की मैं तुमसे विनति कर रहा हूँ, मैं तुम्हारे समक्ष शरणार्थी हूँ ॥१०॥

एतत्पाठमात्रपरस्याप्येतदुक्तफलमाहुः-

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्णाश्रयमिति । कृष्ण आश्रीयते येन स्तोत्रेण तत्कृष्णाश्रयं, कृष्ण आश्रयः प्रतिपाद्योर्थो यस्येति वा । इदं यः कृष्णसन्निधौ समीपे 'सन्निधि' पदात्तदनन्यभक्तसमीपेपि पठनीयं सन्निधेस्तुल्यत्वात् पठेदधीयीत तस्याश्रयानभिज्ञस्यापि स्वयमेव कृष्ण आश्रयो भवेत् । कथमिदमतिदुर्लभमेतावन्मात्रेण भवेदिति नाशङ्कनीयं, यतः कारणात् इतिश्रीवल्लभोब्रवीत् । इति इममर्थं श्रीवल्लभ आचार्यवर्योब्रवीदुक्तवानतः किमाश्चर्यम् । अत्राचार्यवचनानां वस्तुशक्तिरेव प्रयोजिका, यतस्तद्वचनैः प्रेरितो भगवांस्तदाश्रयो भवति न तु तत्कृतमण्वपि साधनमपेक्षते ॥ ११ ॥

अब आगे के अंतिम श्लोक में आचार्यचरण इस ग्रंथ का केवल पाठ मात्र करने से भी क्या फल प्राप्त होगा, यह बता रहे हैं ।

कृष्णाश्रय शब्द की व्याख्या कर रहे हैं । जिस स्तोत्र का पाठ करने से कृष्ण अपने भक्त पर आश्रित हो जाएँ, वह कृष्णाश्रय है । अथवा यों अर्थ कर लें कि, जिस स्तोत्र-पाठ में आश्रयरूप से कृष्ण का प्रतिपादन किया जा रहा है, उस स्तोत्र को कृष्णाश्रय कहते हैं । इस ग्रंथ का श्रीकृष्ण की सन्निधि (निकटता) में पाठ करने से अथवा तो श्रीकृष्ण के ही किसी अनन्य भक्त के समीप पाठ करने से यह होता है कि, जो जीव भगवान-कृष्ण के आश्रय से अनभिज्ञ है, उसके भी स्वयं ही कृष्ण आश्रय हो जाते हैं । ऐसे अतिदुर्लभ-श्रीकृष्ण इस ग्रंथ का मात्र पाठ करने मात्र से हमारे आश्रय कैसे बन जायेंगे ? यह संदेह मत करो, क्योंकि ये स्वयं श्रीवल्लभ कह रहे हैं (इति श्रीवल्लभोब्रवीत्) । इति अर्थात् इस संपूर्ण अर्थ को आचार्यवर्य श्रीवल्लभ ने कहा है अतः इसमें क्या आश्चर्य करना ? यहाँ तो भगवद्-आश्रय प्राप्त करने में केवल आचार्यचरणों की वाणी की सामर्थ्य ही मूल कारण है क्योंकि उनके ही वचनों से प्रेरित होकर भगवान अपने जीव के आश्रय बनते हैं, खुद जीव के द्वारा किए गये साधनों की तो लेशमात्र भी अपेक्षा नहीं रखते ॥११॥

सुखेन श्रीयतां कृष्णः किमाधेश्चिन्तया मुधा ।
आचार्यवाक्सुधासिक्ता माकृड्ढ्वं संशयं जनाः ॥ १ ॥
आचार्यचरणाम्भोजे दृढं विश्वस्य विस्तरात्
रघुनाथश्चकारेदं कृष्णाश्रयविचारणम् ॥ २ ॥
इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथस्य कृतौ
कृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं संपूर्णम् ।

हे जीवों ! संसार की आधि-व्याधि से क्यों चिंतातुर हो रहे हो, आचार्यवाणी के अमृत से सराबोर हो सुख से कृष्ण का आश्रय करो, संशय मत करो ॥१॥

आचार्यचरणकमलों में दृढ़-विश्वास रखने वाले श्रीरघुनाथ ने कृष्णाश्रय-ग्रंथ का विस्तारपूर्वक विचार किया है ॥२॥

यह केवल श्रीमद्वल्लभनंदनचरणों में शरणागत श्रीरघुनाथ द्वारा किया गया कृष्णाश्रयस्तोत्र का विवरण संपूर्ण हुआ ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमत्कल्याणरायचरणविरचितप्रकाशप्रकाशितम् ।

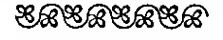

यल्लीलालवसंस्पर्शान्न रोचन्तेऽन्यदाशिषः ।
तं राधाहृदयानन्ददायकं कृष्णमाश्रये ॥ १ ॥
यत्कृपादृष्टितो जन्तुर्गोविन्दं विन्दते मुदा ।
भक्त्याहं तान्निजाचार्यानभिवन्देऽर्थसिद्धये ॥ २ ॥

श्रीकृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वात्स्वीयानां तदर्थं वरप्रदानमिव कुर्वन्तः श्रीमदाचार्यचरणाः कृष्णाश्रयस्तोत्रं निरूपयन्ति । तत्राधुना [1]देशादिषट्साधनानामसाधकत्वं वदन्तो भक्तानां भगवानेव सर्वसाधनरूपश्चतुर्विधपुरुषार्थरूप इति, दशलीलानिरूप्य इति, दशविधभक्तसेव्य इति, प्राणानामिवास्य स्तोत्रस्य सर्वसाधकत्वमिति च दशभिः श्लोकैः प्रार्थनाव्याजेन तं स्तुवन्ति । तत्र प्रथमं मुख्याङ्गत्वात्कालस्य तत्रासाधकत्वं वदन्तः कालधर्मनिराकरणपूर्वकमाश्रयं प्रार्थयन्ते-

जिनकी लीला के क्षणमात्र के संबंध से अन्य मनोरथ रुचिकर नहीं लगते
ऐसे राधा के हृदय को आनंद देने वाले 'कृष्ण' का मैं आश्रय करता हूँ॥१॥
जिनकी कृपादृष्टि से जीव गोविंद को प्राप्त करते हैं, उन निज-आचार्यचरणों को
भक्तिपूर्वक मैं अर्थसिद्धि के लिए प्रसन्नता से वंदन करता हूँ॥२॥

श्रीकृष्ण का आश्रय समस्त वस्तुओं का साधक है अतः स्वीयजनों को वह आश्रय एक वरदान की भांति देते हुए आचार्यचरण कृष्णाश्रयस्तोत्र का निरूपण कर रहे हैं। इस स्तोत्र के प्रथम छह श्लोकों के द्वारा उन्होंने देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्म इत्यादि धर्म के छह साधनों को अयोग्य कहा है और शेष चार श्लोकों द्वारा यह कहा है कि भक्तों के सर्वसाधनरूप एवं चतुर्विध पुरुषार्थरूप तो भगवान ही हैं। अथवा तो इस ग्रंथ के दस श्लोकों द्वारा उन्होंने यह बताया है कि वे दस प्रकार के भक्तों द्वारा सेव्य हैं। अथवा तो जैसे दस प्रकार के प्राणों के द्वारा हमारा जीवनचक्र चलता है, उसी प्रकार ये दस श्लोक भी हमारे जीवन के साधक हैं अतः इन दस श्लोकों के द्वारा आचार्यचरण प्रार्थना करने के बहाने भगवान की स्तुति कर रहे हैं। धर्म के इन छह अंगो में सबसे मुख्य अंग 'काल' है अतः आचार्यचरण सर्वप्रथम काल की असाधकता बता कर भगवान से आश्रय की प्रार्थना कर रहे हैं।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वमार्गेष्विति । कलौ खलधर्मिणि खलोऽन्तर्दुष्टो धर्मस्तद्वति सति । 'खरधर्मिणी'तिपाठे दुःसहचेष्टिते कलौ सतीत्यर्थः । 'कृषिर्भूवाचके' तिवाक्यनिरूप्यः सदानन्दः पुरुषोत्तम एव मम गम्यत इति गतिराश्रय ऐहिकपारलौकिकार्थसाधकोस्त्विति शेषः । खलधर्ममाहुः-लोके जने पाषण्डः प्रचुरः सर्वापेक्षयाधिको यस्मिँस्तादृशे सति । अत एव सर्वे [2]मृग्यन्त इति मार्गाः पुरुषार्थोपायाः कर्मज्ञानादयस्तेषु नष्टप्रायेषु सत्सु, पाषण्डप्रवेशादात्मसुखवाचक-स्वर्गपदस्य लोकभ्रमजननाच्चित्तशुद्ध्यजननात्कर्ममार्गस्य, मायावादाभिनिवेशाज्ज्ञानमार्गस्य, निरीश्वरत्वाङ्गीकाराद्योगस्य, विभूतिपरत्वादुपासनामार्गस्य च मुख्यफलासाधकत्वेन नष्टप्रायत्वम् ।

सर्वमार्गेषु इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। जिस धर्म का स्वरूप भीतर से दुष्ट हो उसे खलधर्म कहते हैं, जब धर्म का स्वरूप ऐसा दुष्ट हो गया हो तब कृष्ण ही मेरी गति हैं, यह आचार्यचरणों का तात्पर्य है। जहाँ खलधर्मिणि के स्थान पर खरधर्मिणि पाठ माना गया है, वहाँ

---

१ काल-देश-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्मणाम् । २ यैः कर्मादिभिः पुरुषार्था मृग्यन्ते ।

भट्टश्रीगोविन्दराजकृतटिप्पणम् ।

मिलिन्दवृन्दोपमचारुकेशं सुभक्तशेषं सुखकारिदेशम् ।
पयोदनीकाशमनोज्ञवेशं तं वेङ्कटेशं शरणं प्रपद्ये ॥
नत्वा श्रीवल्लभाचार्यचरणे शरणे सताम् ।
कृष्णाश्रयप्रकाशस्य व्याख्यानं सुनिरूप्यते ॥

संस्पर्शादिति । सम्यक् सम्बन्धादित्यर्थः । सम्बन्ध सम्यक्त्वं चात्रान्यापरिभूतत्वम् । अन्यदाशिष इति । न च अन्याश्रता आशिषश्चेति विग्रहे अन्याशिष इति भाव्यमिति वाच्यम् , 'अषष्ठ्यतृतीयास्थस्ये'ति दुर्गागमात् । राधाहृदयानन्ददायकमिति । राधाहृदयायानन्दं ददातीति तथा । भगवत्सुखस्यानन्दरूपत्वान्नानुपपत्तिः काचित्, इतरथाऽव्याप्यवृत्तित्वेन सुखकथनस्यैवोचितत्वात् । अत एवोक्तं 'प्रेमामृत'टीकायाम्, 'आनन्दोन्तःकरणदेहादिसर्वव्यापकः सुखमव्याप्यवृत्ती'ति । ननु 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादिभिः श्रुतिभिरानन्दस्य भगवद्रूपत्वात्स्वदायक इत्यर्थः पर्यवसन्न इति चेत्, इष्टापत्तेः, स्वरूपदानस्योचितत्वात् । एतेनानयोरभेदः सङ्गच्छते । तदुक्तमाथर्वणीयकृष्णोपनिषदि 'पूर्णप्रेमास्पदी राधा श्रीकृष्णमनसोद्भवा', तस्मान्न भिन्नेति । यत्कृपादृष्टित इति । स्वीयत्वेन परिग्रहादित्यर्थः । अभिवन्द इति । भक्त्यार्थसिद्धये निजाचार्यानभिवन्द इति सम्बन्धः । तत्र सेवाविषयकप्रेम्णा निर्विघ्नग्रन्थपरिसमाप्तिसिद्ध्यर्थं निजाचार्यनमस्काररूपं मङ्गलं करोमीत्येतद्वाक्यार्थः । सेवा त्वत्र नमनादिरूपा । न च प्रेमविशिष्टसेवयेति वक्तुमुचितं, प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यात् । तथा चोक्तमस्मदाचार्यैर्निबन्धे 'धात्वर्थः सेवा प्रत्ययार्थः प्रेमेति । तत्वार्थदीपे तु 'प्रेमसेवात' इति फलितार्थकथनम्, अन्यथा प्रत्ययार्थः प्रधानं प्रकृत्यर्थे विशेषणमि'तिन्यायविरोधः स्यात् । वस्तुतस्तु एतस्य सामान्यन्यायत्वेन विशेषन्यायस्यैव बलीयस्त्वात् । एतदुक्तं विवरणे 'प्रकृतिप्रत्यययोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यमितिसामान्यन्यायादिच्छाविषयतया शब्दबोध्य एव शाब्दसाधनतान्वय इति स्वर्गकामादिवाक्ये क्लृप्तविशेषन्यायस्य बलीयस्त्वादश्वेन जिगमिषति असिना जिघांसतीत्यादिलौकिकप्रयोगेश्वादिरूपसाधनस्य 'तदन्वेष्टव्यं तद्विजिज्ञासितव्यं मन्तव्यमित्यादिवैदिकप्रयोगे तव्यार्थभूतविधेश्च 'सन्'प्रत्ययाभिहितेच्छाविषय एव गमनादावन्वयस्य व्युत्पन्नत्वाच्च प्रकृत्यभिहितायां विद्यायां यज्ञादीनां विनियोग इति । ननु 'भावे'इत्यधिकारात्प्रत्ययार्थस्य भावत्वमुचितं न तु प्रेमत्वमिति चेत् , अत्रोच्यते, भावार्थकत्वं तु प्रत्ययस्य तावदुभयवादिसिद्धमेव, तत्र भावशब्देन देवादिविषयिणी रतिः प्रकृते सर्गः । पुरुषाद्ब्रह्मादीनामुत्पत्तिर्विसर्गः । उत्पन्नानां तत्तन्मर्यादया पालनं स्थानम् । स्थितानामभिवृद्धिः पोषणम् । पुष्टानामाचार ऊतिः । तत्रापि सदाचारो मन्वन्तरम् । तत्रापि विष्णुभक्तिरीशानुकथा । भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोधः । निष्प्रपञ्चानां स्वरूपलाभो मुक्तिः । मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेणावस्थानमाश्रय इति' । दशविधभक्तसेव्य इति । सात्त्विकसात्त्विकाः, सात्त्विकराजसाः, सात्त्विकतामसाः । राजसराजसा, राजससात्त्विका, राजसतामसाः । तामसतामसाः, तामसराजसाः, तामससात्त्विकाः । एके निर्गुणा इत्येतैर्दशविधैर्भक्तैः सेव्य इत्यर्थः । प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्तीति । 'किमासनं ते गरुडासनाये'त्यनेन प्रार्थनाव्याजेनैव स्तुतिनिरूपणस्यैवोचितत्वादिति भावः । गम्यते प्राप्यत इत्यर्थः । ननु 'भावे' इत्यधिकारात्कथमत्र कर्मणि प्रत्यय इति चेत्, सत्यम्, 'कृत्यल्युटो बहुल'मित्यत्र 'बहुल'मितियोगविभागात्तथा । अत एव 'एवं च बहुलग्रहणं योगविभागेन कृन्मात्रस्यार्थव्यभिचारार्थं पादाभ्यां हियते पादहारकः कर्मणि ण्वुल्' इति वैयाकरणशिरोमणयः । पाषण्ड इति । वेदविरुद्धत्वं पाषण्डत्वम् । आत्मसुखवाचकेति । 'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पद'मित्यनेन स्वर्गपदस्यात्मसुखवाचकत्वादित्यर्थः । लोकभ्रमजननादिति । लोकत्वेन भ्रमजननादित्यर्थः । मायावादाभिनिवेशादिति । विवर्ताधिष्ठानत्वेन मायोपहितब्रह्मणः कर्तृत्वकथनादित्यर्थः । विवर्तस्तु अतात्त्विकोऽन्यथाभासः । यद्वा, वस्तुनस्तदसमसत्ताको विवर्तः । अथवा कारणविलक्षणोऽन्यथाभावो विवर्तः । कारणभेदं विनैव तद्व्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्त इति वा । निरीश्वरत्वाङ्गीकाराद्योगस्येति । निर्वीजयोगाङ्गीकारादित्यर्थः । योगस्तु चित्तवृत्तिनिरोधः स तु भगवद्ध्यानार्थमङ्गत्वेनोपयुक्त एकः । ध्यानाभावेप्यात्मबोधाङ्गभूतो द्वितीयः । उभावपि प्रामाणिकौ ।

"जिस कलिकाल की गतिविधियाँ असहनीय हो जाएँ, ऐसा कलिकाल आने पर कृष्ण ही मेरी गति हैं" - ऐसा अर्थ करना चाहिए। और - कृष् शब्द सत्ता का वाचक है एवं 'ण' शब्द आनंद का वाचक है। इन दोनों से मिश्रित स्वरूप होने के कारण भगवान को 'कृष्ण' कहा जाता है"- इस वाक्य में निरूपित हुए सदानंद पुरुषोत्तम ही मुझे रुचिकर लगते हैं - ऐसा भाव होना ही आश्रय करना है क्योंकि ऐहिक-पारलौकिक समस्त कार्यों के साधक वही हैं। कलि के खलधर्म को बताने के लिए आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, लोगों में पाखंड प्रचुर मात्रा में फैल चुका है, सभी की अपेक्षा अधिक। अतः ऐसे काल में कृष्ण ही मेरी गति हैं। इसी पाखंडता के कारण जो लोक पुरुषार्थ प्राप्त करने के उपाय कर्म-ज्ञान इत्यादि मार्गों को ढूँढ रहे हैं, वे नष्टप्राय हो चुके हैं। सर्वत्र पाखंड का प्रवेश हो जाने के कारण लोक में भ्रम फैल गया है कि स्वर्गसुख आत्मसुख देनेवाला है अतः ऐसे भ्रम से चित्तशुद्धि न होने के कारण कर्ममार्ग का; मायावाद जैसे भ्रामक शास्त्रों में उलझ जाने के कारण ज्ञान मार्ग का; नास्तिकवाद के कारण योग का एवं देवताओं की उपासना करने के कारण उपासनामार्ग नष्ट हो चुका है क्योंकि ये सभी मुख्यफल भगवान श्रीकृष्ण की प्राप्ति कराने सक्षम नहीं हैं।

चकारान्महादेवादिषु कलिकालानुगुणेषु सत्सु, एवकारस्य [1]विशेष्यान्वितत्वेनान्ययोगव्यच्छेदकत्वादंशः कलादिर्वा गतिर्मास्त्वित्यर्थः। अन्यार्थकत्वादस्य सिद्धत्वेपि प्रार्थनं न दोषाय। ननु भक्तिमार्गीयाणामपि कलिकालस्य बाधकत्वातद्गृहाद्यासक्तिमत्वाल्लौकिकक्रियापरत्वात्पापसंभवाच्च [2]भक्तिमार्गस्य कथमुद्धारकत्वं मुख्यफलसाधकत्वं चेति कर्मादितुल्यत्वात्किमाश्रयेणापीति चेत्, मैवं, भक्तिमार्गे त्वदुक्तदूषणानामभावात्। तथाहि-'कलेर्दोषनिधे'रिति 'कलौ तद्धरिकीर्तनादि'ति 'कलिं सभाजयन्ती' त्यादिवा-क्यैर्बाधकत्वाभावादल्पकालेनैव फलसिद्धेः प्रत्युत साधकत्वात्। 'श्रृण्वन् गृणन्', 'मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः', 'तावद्रागादयः स्तेना' इत्यादिवाक्यैर्भगवत्परत्वे गृहादेर्बन्धहेतुत्वाभावात्। 'एवं नृणां क्रियायोगा' इत्यादिवाक्यैर्लौकिकक्रियाया अप्यलौकिकतुल्यत्वात्।

महादेव और ऐसे अन्य दूसरे देवता भी कलिकाल के ही अनुरूप हो गये हैं अतः आचार्यचरण "कृष्ण ही मेरी गति हैं" यों आज्ञा कर रहे हैं। 'एव' शब्द यहाँ केवल कृष्ण को ही सूचित कर रहा है अतः भगवान के अन्य अंशकला आदि अवतार मेरी गति न होकर कृष्ण ही मेरी गति हैं, यह अर्थ निकलता है। इस श्लोक का भले ही यह अर्थ निकलता हो कि - केवल श्रीकृष्ण ही मेरी गति हों, अन्य दूसरे देवी-देवता नहीं - इस प्रकार से प्रार्थना की जा रही है परंतु ऐसी प्रार्थना करनी भी दोषरूप नहीं है। अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, भक्तिमार्गीयों को भी कलिकाल बाधक तो होता ही है, उनकी भी गृह-परिवार इत्यादि में आसक्ति होती ही है, वे भी लौकिककार्य तो करते ही हैं और उनसे भी पाप होना तो संभव है, फिर आप भक्तिमार्ग को कैसे उद्धार करनेवाला एवं मुख्यफल का साधक कह रहे हैं ? और आश्रय भी तो कर्म-ज्ञान-उपासना इत्यादि मार्गों के समान ही दिखाई देता है, फिर आश्रय से भी क्या सिद्ध होने वाला है ? यदि ऐसी शंका हो तो नहीं, ऐसा नहीं है। आप जो कह रहे हैं, वैसा दोष भक्तिमार्ग में नहीं है। वह ऐसे कि "हे परीक्षित् ! यों तो कलियुग दोषों का भंडार है परंतु इसमें एक बहुत बड़ा गुण यह है कि कलियुग में भगवान का केवल संकीर्तन करने मात्र से भगवत्प्राप्ति हो जाती है। (श्री.भा.१२/३/५१)", "सत्ययुग में भगवान का ध्यान करने से, त्रेता में यज्ञ द्वारा, द्वापर में उनकी सेवा से जो फल मिलता है, वह कलियुग में केवल उनके नाम का कीर्तन करने से मिल जाता है (श्री.भा.१२/३/५२)", "कलियुग में केवल भगवान का संकीर्तन करने से सारे कार्य सिद्ध हो जाते हैं अतः इस युग का गुण जानने वाले श्रेष्ठपुरुष कलियुग की बड़ी प्रशंसा करते हैं (श्री.भा.११/५/३६)" इत्यादि वाक्यों द्वारा कलिकाल बाधक नहीं है और अल्प समय में ही फलसिद्धि करा देने के कारण उल्टे साधक है। और "जो पुरुष आपके मंगलमय नाम एवं रूप का श्रवण-स्मरण और ध्यान करता है, उसे फिर से संसार-चक्र में नहीं आना पड़ता (श्री.भा.१०/२/३७)", "जिन लोगों का सारा समय मेरी कथावार्ताओं में ही बीतता है, वे यदि गृहस्थाश्रम में भी रहें तो भी घर उनके बंधन का कारण नहीं बन सकते (श्री.भा.४/३०/१९)" "जीव को घर तभी तक बाँधे रखता है, जब तक वह आपका नहीं हो जाता (श्री.भा.१०/१४/३६)" इत्यादि वाक्यों द्वारा भगवत्परायण जीवों के लिए घर बंधन का कारण नहीं होते। और यद्यपि समस्त कर्म मनुष्य को संसार-चक्र में फँसाते हैं परंतु भगवान को समर्पित कर देने से उनका कर्मपना नष्टा हो जाता है (श्री.भा. १/५/३४)" इस वाक्यानुसार उनकी लौकिकक्रिया भी अलौकिकक्रिया के समान हो जाती है।

'मत्कर्म कुर्वता'मित्यादिवाक्यैर्भगवत्सेवादिना विहिताकरणेपि प्रत्यवायाभावात्, 'धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः' 'ते मे न दण्डमर्हन्ती'त्यादिवाक्यैः कदाचित्पातकसंभवेपि नरकाद्यभावात्कीर्तनादिनैव पापनाशात्। 'सर्वधर्मान्परित्यज्य', 'अपि चेत्सुदुराचारः' 'यः कश्चिद्वैष्णवो लोके, 'यानास्थाये'त्यादिवाक्यैराचाराद्यभावेपि फलसिद्धेः। 'धर्मः सत्यदयोपेतः',

---

१ एवकारो हि त्रिप्रकारकः- अन्ययोगव्यवच्छेदकोऽयोगव्यवच्छेदकोत्यन्तायोगव्यवच्छेदकश्चेति, विशेष्यान्वितः प्रथमो यथा पार्थ एव धनुर्धरः, विशेषणान्वितो द्वितीयो यथा शङ्खः पाण्डुरेव, क्रियान्वितस्तृतीयो यथा नीलं सरोजं भवत्येवेति। २ क्वचिन्नास्ति।

टिप्पणी

यस्तु स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वेन प्रोक्तस्तथासिद्धिहेतुर्ज्ञानात्मा वा तथान्ये देहेन्द्रियादिसाधकास्तेऽप्रामाणिकाः । सर्वमेतच्च निबन्धे स्पष्टम् । कलिकालानुगुणेष्विति । 'द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु । स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान्मद्विमुखान् कुरु' 'मां च गोपय येन स्यात्सृष्टिरेषोत्तरोत्तरे'त्यादि पद्मपुराणाद्युक्तवचनैर्महादेवादीनां कलिकालानुगुणत्वस्य सिद्धत्वादित्यर्थः । अन्यार्थकत्वादिति । अत्र प्रमाणभूताः 'शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम । ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्त्वि'त्यादय आगमा अनुसन्धेया इति भावः । 'कलेर्दोषनिधे'रित्यारभ्य 'भवोपि फल्गु'रित्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः- 'कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति होको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्' 'कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्' 'कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः । यत्र संकीर्तनादेव सर्वः स्वार्थोपि लभ्यते' 'शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते । क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचित्तो न भवाय कल्पते' 'गृहेष्वाविशतां वापि पुंसां कुशलकर्मणाम् । मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः' 'तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम् । तावन्मोहोङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः' 'एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः । त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे' 'मत्कर्म कुर्वतां पुंसां काललोपो भवेद्यदि । तत्कर्म तस्य कुर्वन्ति तिस्रः कोट्यो महर्षयः' 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः । विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चित् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः' 'एवं विमृश्य सुधियो भगवत्यनन्ते सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम् । ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषां स्यात्पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः' 'ते देव सिद्धपरिगीतपवित्रगाथा ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः । तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे', 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवहितोहि सः' 'यः कश्चिद्दैष्णवो लोके मिथ्याचारोप्यनाश्रमी । पुनाति सकलान् लोकान् सहस्रांशुरिवोदितः', 'यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित् । धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह', 'धर्मः सत्यदयोपेतः विद्या वा तपसान्विता । मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि', 'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः । नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्' नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् । कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्' 'यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः । मुकुन्दसेवया यद्वत्तथात्माद्धा न शाम्यति' 'श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये । तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्', 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि' 'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेञ्जसा', 'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोर्जुन । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ', 'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्' 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् । स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोजित जितोप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्' 'किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने । तथापि तत्परा राजन् नहि वाञ्छन्ति किञ्चन', 'रूपमारोग्यमर्थांश्च भोगांश्चैवानुषङ्गिकान् । ददाति ध्यायतो नित्यमपवर्गप्रदो हरिः' 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये उत्तम श्लोकलीलया । गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्' 'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः', 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः । येन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि' 'महतां मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु'रिति । भक्तिसाध्यफलस्येति भगवत्स्वरूपप्राप्तेरित्यर्थः । तदुक्तमस्मत्प्रभुभिर्भक्तिहंसे' 'भक्तौ च न स्वरूपातिरिक्तफल-कत्व'मिति । 'स्मर्तव्य'इत्यारभ्य 'तदभावा'दित्यन्ते वचनानि तु 'स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् । सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतस्यैव च किङ्कराः' 'स्मृतेः सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते । पुरुषं तमजं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम्' 'कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः। जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम्' 'कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते । भस्मीभवन्ति राजेन्द्र महापातककोटयः' 'न वै जनो जातु कथंचनाव्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् । स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्यपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः' 'आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः । इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदे'ति । तत्र नवविधा भक्तिर्निदानं, ततः प्रेम, तेन च विशिष्टरूपभगवत्प्राप्तिः, सैव फलमिति फलसहितपूर्णभक्तिमार्गस्वरूपम् । अत एव सर्वनिर्णये 'स ज्ञानक्रियोभययुतः स एव फलं, तत्रापि साधनं प्रेमैव तत्साधनं नवविधा भक्ति'रिति श्रीमदाचार्यवर्य्याः । तथाच सामिकृतस्यापि स्मरणपर्यन्तं

'धर्मः स्वनुष्ठितः', 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं' 'यमादिभियोंगपथैः' 'श्रेयःस्रुति'मित्यादिवाक्यै' र्यथा जलौकसां नित्यं जीवनं सलिलं मतम् । तथा समस्तसिद्धीनां जीवनं भक्तिरिष्यत' इतिबृहन्नारदीयवाक्याच्च भक्तिरहितानां कर्मादीनाम-साधकत्वात्, भक्तिसहितानामेव साधकत्वात् । 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा', 'चतुर्विधाः', 'अकामः' 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य', 'किमलभ्यं', 'रूपमारोग्यमर्था'नित्यादिवाक्यैः केवलभक्तेरपि सर्वसाधकत्वात् । 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये', 'आत्मारामाश्च', ' नैकात्मतां', 'महतां मधुद्विं'डित्यादिवाक्यैः स्वतोपि फलरूपत्वात् ।

"मत्कर्म कुर्वतां" इस वाक्य के अनुसार तो भगवत्सेवा करने पर शास्त्रों में कहे कर्मों को न करने से भी दोष नहीं लगता। और "जो भगवान का भजन करते हैं, वे पापकर्म तो करते ही नहीं और यदि करें तो स्वयं भगवान उसके समस्त पापकर्म धो देते हैं (श्री.भा.११/५/४२)", "जो मेरी भक्ति करते हैं, वे दंड के पात्र नहीं हैं। वे पापकर्म करते ही नहीं, यदि करें तो भगवान का गुणगान उन पापों को तत्काल नष्ट कर देता है (श्री.भा.६/३/२६)", इत्यादि वाक्यों के अनुसार कदाचित वे पाप करें, तो भी उन्हें नर्क नहीं देखना पड़ता क्योंकि भगवद्-कीर्तन आदि से ही उनके पापों का नाश हो जाता है। "समस्त धर्मों को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आ (भ.गी.१८/६६)", "अतिशय दुराचारी भी यदि मेरा भजन करता है तो उसे साधु ही समझना चाहिए (भ.गी.९/३०)", "इस लोक में जो कोई भी वैष्णव है", "इन भागवत-धर्मों का पालन करने से मनुष्य कभी भी दुःखी नहीं होता और नेत्र बंद करके दौड़ने पर भी न गिरता है न फिसलता है (श्री.भा.११/२/३५)", "इत्यादि वाक्यों के अनुसार आचार-विचार का अभाव होने पर भी फलसिद्धि हो जाती है। और भी "जो मेरी भक्ति से वंचित हैं, उन्हें दया से युक्त धर्म एवं तपस्या से युक्त विद्या भी पवित्र करने में असमर्थ है (श्री.भा.११/१४/२२)," "धर्म का ठीक-ठीक अनुष्ठान करने पर भी यदि मनुष्य के हृदय में भगवान की लीला-कथा के प्रति भक्ति का उदय न हो तो वह व्यर्थ का परिश्रम ही है (श्री.भा.१/२/८)", "निर्मल-ज्ञान भी जो मोक्ष की प्राप्ति का साधन है, यदि भगवान की भक्ति से रहित हो तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती (श्री.भा. १/५/१२; १२/१२/५२)", "काम और लोभ की चोट से बारंबार घायल हुआ हृदय श्रीकृष्णसेवा से जैसी शांति का अनुभव करता है, वैसी शांति उसे यम-नियम, योगमार्गों से भी नहीं मिलती (श्री.भा. १/६/३६)", "हे भगवन्! आपकी भक्ति को छोड़कर जो लोग ज्ञानप्राप्ति के लिए भागते हैं, वे केवल दुःख भोगते हैं, उनके हाथ कुछ नहीं लगता (श्री.भा. १०/१४/४)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार एवं "जिस प्रकार जलचर प्राणियों का जीवन जल है, उसी प्रकार समस्त सिद्धियों का जीवन भक्ति है" इस बृहद्-नारदपुराण के वाक्यानुसार भक्ति से रहित कर्म-ज्ञान-उपासना आदि भगवत्प्राप्ति में असाधक हैं और भक्तिसहित किए जाएँ तभी साधक हो सकते हैं, यह सिद्ध होता है। और इसी प्रकार "कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, दान, धर्म इत्यादि से जो कुछ प्राप्त होता है, वह मेरा भक्त मेरे भक्तियोग से प्राप्त कर लेता है (श्री.भा.११/२०/३२)", "हे अर्जुन! विपदाग्रस्त, धनार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी ये चार प्रकार के लोग मेरा भजन करते हैं (भ.गी. ७/१६), "मनुष्य चाहे अकाम हो या सकाम उसे भक्तियोग द्वारा भगवान की आराधना करनी चाहिए (श्री.भा.२/३/१०)" हे भगवन्! जो ज्ञान के लिए प्रयत्न न करके आपकी लीलाकथा का श्रवणकीर्तन करते हैं, वह आप पर भी विजय पा लेते हैं (श्री.भा. १०/१४/३)", "लक्ष्मी भी जिन भगवान का आश्रय लेती है, उनके प्रसन्न हो जाने पर फिर कौन सी ऐसी वस्तु है जो प्राप्त नहीं हो सकती ? (श्री.भा.१०/३९/२)", "रूपमारोग्यमर्था" इत्यादि वाक्यों के प्रमाण द्वारा केवल भक्ति ही सर्वसाधक है। और "हे राजन्! मेरे निर्गुणःस्वरूप परमात्मा में निष्ठा होने पर श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओं ने मुझे आकर्षित कर लिया (श्री.भा.१/२/९)", जो ज्ञानी हैं एवं सदा आत्मा में रमण करनेवाले हैं, वे भी भगवान की निष्काम-भक्ति किया करते हैं (श्री.भा.१/७/१०)", "मेरी चरणसेवा में प्रीति रखनेवाले मेरे भक्त सायुज्यमोक्ष की भी इच्छा नहीं रखते (श्री.भा. ३/२५/३४)", "महतां" इत्यादि वाक्यों द्वारा भक्ति स्वयं ही फलरूप है।

अधुना कर्मादीनामधिकाराणां गतत्वाद्भक्तिमार्गे महदनुग्रहस्याधिकारत्वेनाधिकारिकृतस्यैव सफलत्वादत्राधिकारभेदेन गौणमुख्यफलसंभवात् । एतदुक्तं 'तत्त्वार्थदीपे'-'अधुना ह्यधिकारास्तु सर्व एव गताः कलौ । कृष्णश्चेत्सेव्यते भक्त्या कलिस्तस्य फलाय ही'ति भक्तिसाध्यफलस्यान्येनासंभवादन्यसाध्यस्य भक्तेरानुषङ्गिकत्वान्न कर्मादितुल्यत्वगन्धोपि । ननु पूर्णभक्तिमार्गस्याधिक्येपीह सामिकृतस्य तत्तुल्यत्वमिति चेत् , न 'स्मर्तव्यः' 'स्मृतेः' 'कृष्ण कृष्णे'ति 'न वै जनो जातु', 'कृष्णेति', 'आलोड्ये'त्यादिवाक्यैः सामिकृतस्यापि फलसाधकत्वादन्यस्य तदभावादलमुक्तिभिः ॥ १ ॥

वर्तमान में कर्म-ज्ञान-उपासना इत्यादि अधिकारों के लुप्त हो जाने के कारण भक्तिमार्ग में केवल महापुरुषों के अनुग्रह से ही अधिकार प्राप्त हो सकता है और उनके द्वारा अधिकृत-जीव ही इस मार्ग पर सफलता से चल सकते हैं परंतु हाँ, भक्तिमार्ग में अधिकारभेद (अर्थात् मुख्याधिकारी, मध्यमाधिकारी, जघन्याधिकारी) से उन्हें प्राप्त हुआ फल मुख्य या गौण हो सकता है। यही बात आचार्यचरणों ने तत्वार्थदीपनिबंध में कही है कि - वर्तमान में कलियुग के प्रभाव से समस्त धर्मों के अधिकार समाप्त हो गये हैं। अतः यदि भक्ति से कृष्ण की सेवा की जाय, तो यह कलियुग कृष्ण की सेवा करनेवालों को फलदायक होगा (शा.प्र./१९)। अतः भक्ति से प्राप्त किया जाने वाला फल दूसरे मार्गों से प्राप्त नहीं किया जा सकता और

टिप्पणी

विहितस्यापि कायवाग्विनियोगस्नेहाभावेपि मनोमात्रस्थित्यैव तादृशपुरुषविहितस्य वा फलसाधकत्वमिति स्पष्ट एवेतरेभ्य उत्कर्षः । तथाचोक्तं निबन्धे-'कायवाग्विनियोगाभावेपि स्नेहाभावेपि मनोमात्रस्थितौ फलमेतदि'ति । कर्ममार्गस्य तु न तथा, साङ्गाद्वैदिककर्मणः फलावश्यंभावनियमादिति तत्त्वम् ॥ १ ॥

पापा ये मुख्या इति । फलितार्थकथनमेतत्, इतरथा विशेषणसमासे 'पूर्वकालैके'त्यनेनैकशब्दस्य पूर्वनिपातः स्यात् । विग्रहस्तु पापेषु ये मुख्या इति । **यत्र गमनमात्रेण पुनः संस्कारसंभव इति ।** 'अङ्गबङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च । तीर्थयात्रां विना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हती'त्यनेन तथेत्यर्थः ॥ २ ॥

द्रव्याणामसाधकत्वं वदन्तस्तीर्थानामिति । तीर्थस्य तद्देशावच्छिन्नप्रवाहात्मकाध्यात्मिकदेवतारूपत्वेन द्रव्यत्वमितिभावः । अत एवोक्तमस्मत्प्रभुभिर्निबन्धे 'द्वितीयस्य प्रवाहरूपतया तीर्थत्वमि'ति । यादवकोशेपि-'तीर्थं मन्त्राद्यपाध्यायशास्त्रेष्वम्भसि पावन' इति । उक्तं च दशमस्कन्धीयसुबोधिन्यां देवतारूपत्वं 'कालिन्दीति समाख्याते' त्यस्य व्याख्याने 'आध्यात्मिकं देवतारूपमि'ति । 'प्रायश्चित्तानि चीर्णानी' तिवचनत्रयाणि- 'प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् । न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः' 'तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद्भवेत् । कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चयः' 'भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं प्रभो । तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृते'ति ॥३॥

प्रलपितकल्पत्वादिति । यत्तु 'शास्त्रदीपिकायां नवमाध्याये 'देवता वा प्रयोजयेत् अतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वादि'-त्यधिकरणे 'यद्यपि देवता विग्रहवती प्रतिगृह्य भुक्त्वा व्रजति प्रसीदति च तथापि यागादेव फलं विग्रहवती चानित्या स्यात्, ततश्च नित्यवेदविषयत्वं न स्यात्, सत्यपि विग्रहे प्रत्तस्य हविषो देवतया भोगः प्रत्यक्षविरुद्धोशक्योभ्युपगन्तुम्, न चाभुञ्जाना प्रसीदतीति युक्तम्, अत एवाप्रतिपन्नापूर्वत्यागे देवताप्रसादे वा फलमित्येतदपि निरस्तं, न हि तस्याः प्रसादः संभवतीत्युक्त'मिति पार्थसारथिमिश्राः तत्प्रौढिवादमात्रमेव । तथाहि-'यदुक्तं विग्रहवती चानित्या स्यात्ततश्च नित्यवेदविषयत्वं न स्यादि'ति, तदपेशलं, अनित्यानामपि यागादीनां वेदविषयत्वात्, विग्रहवत्त्वेनैव फलजनकत्वस्य 'तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयती'त्यादिश्रुत्युक्तत्वाच्च । मुख्यार्थाबाधेन न श्रुतेरुपचरितार्थत्वम् । अर्थवादानां स्वतः प्रामाण्यं न तु विध्येकवाक्यतया । एतेनास्मिन्नेवाधिकरणे यच्छाबरभाष्ये सिद्धान्तितं तत्स्वमताग्रहमात्रमेव । प्रकृतमनुसरामः । यदपि 'सत्यपि विग्रहे प्रत्तस्य हविषो देवतया भोगः प्रत्यक्षविरुद्धोशक्योभ्युपगन्तुमि'ति, तदप्यविचाररमणीयम् । विश्वादीनामपि प्रत्यक्षभोगाभावत्वेन 'सर्वमनुष्या विष्णुनाऽशितमश्नन्ती'तिश्रुतौ पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन' इति स्मृतौ 'विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम् । पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पते' 'पितृशेषं तु यो दद्यात् हरये परमात्मने । रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभागिन' इति स्कान्दे 'यः श्राद्धकाले हरिभुक्तशेषं ददाति भक्त्या पितृदेवतानाम् । तेनैव पिण्डांस्तुलसीविमिश्रानाकल्पकोटिं पितरस्तु तृप्ता' इति ब्राह्मे च प्रतिपादितस्य भोगस्य विरोधापत्तेः । यत्तु निर्णयसिन्धुः-'एतत्सर्वं निबन्धविरोधान्निर्मूल'मिति, तन्न, श्रीधरस्वामिनृसिंहपरिचर्यादिमूलं वदतः स्वस्यैव वदङ्व्याघातात् । एतेन 'न चाभुञ्जाने'त्यारभ्य 'प्रसादः संभवतीत्युक्त'मित्यन्तं यदुक्तं तदेतेनैव निरस्तम् । वस्तुतस्तु विशिष्ट एव देवतेति न काप्यनुपपत्तिः । एतेन तदुक्तकर्ममार्गस्य प्रलपितकल्पत्वं सिद्धमिति निगर्वः । यत्तु मुक्तावल्यामात्मनिरूपणे 'सुतरामीश्वरभेद' इत्यारभ्य 'परमं साम्यमुपैतीति श्रूयते' इत्यन्तं पञ्चाननभट्टाचार्या आहुस्तत्रामादिकमेव । तथाहि यदुक्तं 'सुतरामीश्वरभेदोऽन्यथा बन्धमोक्षानुपपत्ते'रिति, तत्तुच्छं, बन्धस्य सांसारिकजीवविषयत्वेन सुतरां भेदाभावात् । यदपि 'योपीश्वराभेद' इत्यारभ्य 'समर्पिता' इत्यन्तं वदन्ति तदपि तथा । तथाहि अभेदबोधिका किल 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'ति श्रुतिः । नहि तदीयत्वप्रतिपादनद्वारा स्तुतिस्तस्याः शक्योर्थोपि त्वौपचारिकः, न च श्रुतेरुपचरितार्थत्वं संभवति मुख्यार्थाबाधात् । अत ए'वांशो नानाव्यपदेशा'दित्यधिकरणे 'अद्वैतश्रुतयस्तु जातिदेशकालाभेदेन निमित्तौपचारादि'त्युक्त्वा 'न च यत्परास्तदौपचारिकं युक्त'मित्युक्तं वाचस्पतिमिश्रैः । न च 'सर्व एवात्मानः समर्पिता इति श्रुतिविरोधः, सर्वात्मनां तत्त्वेनैव भवनमिति तदर्थात् । यदपि 'मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तावभेदो जायते इत्यपि न, भेदस्य नित्यत्वे नाशायोगात्' तदप्यसत्, भेदस्य भ्रममात्रविषयत्वेन वस्तुन एवाभावात् । यदपि 'भेदनाशेपि व्यक्तिद्वयं स्थास्यत्येवे'ति तदपि न 'एष संप्रसादः अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्यादिश्रुतिविरोधात् । एतेन 'न च द्वित्वमपी'त्यारभ्य

दूसरे मार्गों से प्राप्त होने वाला फल तो भक्ति का बहुत ही तुच्छफल है इसलिए भक्ति की तुलना कर्म से लेशमात्र भी नहीं हो सकती। परंतु यहाँ यदि कोई ये शंका करे कि, पूर्णभक्तिमार्ग कदाचित् कर्ममार्गों से अधिक हो सकता है परंतु आधे-अधूरे रूप से किया गया भक्तिमार्ग तो कर्मयोग के समान ही है ? यदि ऐसी शंका हो तो नहीं, ऐसा नहीं हैं। क्योंकि "सतत विष्णु का स्मरण करना चाहिए (पद्मपुराण उ.ख./६/७१/१००)", "व्यासजी ! जो श्रीकृष्ण के चरणारविंदों का सेवक है, वह कभी दुर्भाग्यसे मार्ग भटक भी जाय, तब भी उसकी मुक्ति तो होती ही है (श्री.भा.१/५/१९)" "कृष्ण कृष्ण (श्री.भा. १०/१०/२९; १०/२९/१९; १०/१७/२३)" "न वै जातु", "उस बैलरूपी दैत्य से भयभीत होकर सभी व्रजवासी कृष्ण ! कृष्ण ! पुकारते हुए श्रीकृष्ण की शरण में आ गये (श्री.भा. १०/३६/६)", "आलोड्य" इत्यादि वाक्यों द्वारा आधे-अधूरे प्रकार से की गई भक्ति भी फल-साधक सिद्ध होती है, अन्य मार्गों में ऐसा नहीं है। अब इस संदर्भ में पर्याप्त विवेचन हो चुका ॥१॥

ननु पुण्यदेशस्थितिमात्रेणापि पुरुषार्थसिद्धेः किमितीतरव्यवच्छेदपूर्वकमाश्रयप्रार्थनमित्याशङ्क्यदेशानामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते -

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

म्लेच्छाक्रान्तेष्विति । देशेषु हीनैराक्रान्तेषु सत्सु । ननु म्लेच्छा अपि न्यायवर्तिनश्चेत्तदा को दोषस्तत्राहुः- पापैकनिलयेष्विति । पापरूपा एव ते तदेकनिलयेषु, पापा ये मुख्यास्तन्निलयेषु, पापस्य वा । अथवा पूर्वोक्तेषु पापैकनिलयेषु च [1]अङ्गबङ्गादिषु, यत्र गमनमात्रेण पुनः संस्कारसंभवः । ननु लोका वणिजादयः समीचीनाश्चेत्यापैः किं कार्यमत आहुः- सदिति । साधूनां पीडया व्यग्राः स्वधर्माचरणमेवानिष्टहेतुः प्रत्यक्षत्वान्न कार्यमुत प्राकृतं कर्म वेति व्याकुला लोका येषु । सद्धर्मस्य शुभहेतुत्वानिश्चयेन श्रद्धाद्यभावात्तेपि सहाया न भवन्तीत्यर्थः । 'अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः । यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः' इत्यादिवाक्यैर्देशानां कृष्णाश्रितानुकूलत्वात् । शेषं पूर्ववत् ॥ २ ॥

अब यहाँ यह शंका होती है कि, पुण्यदेशों में रहने से भी पुरुषार्थ की सिद्धि तो हो ही जाती है, फिर उन सबको छोड़कर आचार्यचरण क्यों आश्रय के लिए ही प्रार्थना कर रहे हैं ? तो इन देशों को धर्म का असाधक कहते हुए आचार्यचरण अग्रिम श्लोक में आश्रय की प्रार्थना कर रहे हैं।

म्लेच्छाक्रान्तेषु इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि देश में हीन जाति के लोगों का आक्रमण हो जाने पर कृष्ण ही गति हैं। परंतु सभी तो ऐसे नहीं होते। कुछ म्लेच्छ न्यायप्रिय भी तो होते हैं, उनमें क्या दोष है ? तो आचार्यचरण पापैकनिलयेषु इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि भले ही वे न्यायप्रिय हों, परंतु हैं तो पापरूप ही एवं पाप का घर हैं। अथवा यों अर्थ कर लें कि इस प्रकार पापीजन एवं अंगबंग आदि देशों में रहने वाले दुष्टजन - जहाँ जाने मात्र से सारे संस्कार पुनःकरने पड़ते हों, - ऐसे लोगों से आक्रान्त हो जाने पर कृष्ण ही गति हैं, यह अर्थ है। किंतु यहाँ प्रश्न यह होता है कि, यदि बनिया-आदि अन्य जातियों के लोग सदाचारी हों तो पापाचरण उनका क्या बिगाड़ सकता है ? तो आचार्यचरण इसे सत् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि सत्पुरुषों को पीड़ा होती देख कर सभी लोग व्यग्र हो गये हैं और स्वधर्माचरण करना ही इन सत्पुरुषों की पीड़ा का कारण बना है - यह प्रत्यक्षरूप से दिखाई दे रहा है अतः धर्म करना या फिर प्राकृत-लौकिक कार्य ही करने अथवा तो फिर क्या करना चाहिए ? - इस प्रकार से वे व्याकुल हो गये हैं। और सद्-धर्म का परिणान शुभ ही होगा, यह इस कलियुग में निश्चितरूप से कहा नहीं जा सकता, इस कारण लोगों में धर्म के प्रति श्रद्धा का अभाव हो गया है। अतः सदाचारी लोग भी धर्म करने में सहायक नहीं हो सकते, यह अर्थ है। और देवता भी भारतवर्ष में उत्पन्न हुए मनुष्यों की इस प्रकार से महिमा गाते हैं कि - जिन जीवों ने भारतवर्ष में भगवान की सेवा के योग्य मनुष्य जन्म प्राप्त किया है, उन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया है ? इस परम सौभाग्य के लिए तो हम भी तरसते रहते हैं (श्री.भा.५/१९/२१)" इत्यादि वाक्यों के द्वारा भारतदेश के सभी स्थल कृष्ण का आश्रय करने वालों के अनुकूल है ॥२॥

ननु गङ्गादितीर्थैरपि सर्वपुरुषार्थसिद्धेः किं केवलाश्रयेणेत्याशङ्क्य द्रव्याणामसाधकत्वं वदन्तस्तीर्थानामाहुः-

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादीति । गङ्गा[2]दीनि यानि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टैरेवावृतेषु सत्सु, अतो न तैः पुरुषार्थसिद्धिः । ननु कथं दुष्टैरेवावृतत्वं

---

१. अङ्गबङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च । तीर्थयात्रां विना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हति स्मृतेः । २. क्वचित्पुँल्लिङ्गपाठः ।

टिप्पणी

'सर्वजनसिद्धत्वा'दित्यन्तं यदुक्तं तत्सर्वमनेनैव परास्तम् । यदपि 'योपि तदानीमभेदप्रतिपादक आगमः सोपि निर्दुःखत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति संपदाधिक्ये पुरोहितोयं राजा संवृत्त इतिवदि'ति, तदपि न लब्धवर्णप्रतीक्ष्यं दत्तोत्तरत्वात् । 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति श्रुतिस्तु जीवन्मुक्तपरा तस्मात्तार्किकमतस्यापि प्रलपितकल्पत्वं सिद्धमिति निष्कर्षः । वचनसङ्ग्रहस्तु- 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः' 'को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजं । न भजेत्सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः । देवोसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा। भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वयम्' 'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे' इति ।

आचार्यचरणद्वन्द्ववन्दनानन्दितात्मना ।
शिष्येण बालकृष्णानां किञ्चिदत्र विचारितम् ॥

'त्वं चे'त्यारभ्य 'भक्त्या त्वनन्यये'त्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः-

'त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय । अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज । प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशं च मां कुरु । त्वामाराध्य यथा शंभो ग्रहीष्यामि वरं सदा । द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु । स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान्मद्विमुखान् करु । मां च गोपय येन स्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा' । 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते ॥ ६ ॥

'रहुगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा । न वन्दनान्नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकम्' 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपे'ति । अनुभवविषयीभूत इति । अजामिलादीनामिति शेषः । पक्षान्तरे त्वजामिलेतरभक्तविषयीभूतः सन्निति तदर्थः । अजामिलस्य तु परम्परासम्बन्धेन स्वनाम्नैवोद्धारात् । दोषोपस्थितावित्यारभ्य सूचितमित्यन्ते-ननु 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते । आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोपि न मे प्रियः ' इत्यनेन भक्तिमार्गीयस्यापि वेदविहितकरणत्वेन दोषोपस्थितावपि प्रायश्चित्तादेः प्राप्तत्वादित्थं कथमुच्यते इति चेत्, सत्यं, महादोषोपस्थितौ भगवदिच्छां ज्ञात्वा प्रायश्चित्तादिकरणम् । तदुक्तं सर्वनिर्णये 'प्रायश्चित्तं पातकादीनामि'ति । अल्पदोषोपस्थितौ तु तदाश्रयणमेव कार्यं न प्रायश्चित्तादि । एतदुक्तं सर्वनिर्णये-'अनेनाल्पबहिर्मुखतायामपि भागवतमनुसन्धेयमित्युपायः कथित' इति सर्वं समञ्जसम् ॥ ७ ॥

ये त्वक्षरमित्यादिनेति । 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते । सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्' 'संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः । ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः' 'क्लेशोधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् । अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते' इत्येतेन तथेत्यर्थः । सैषानन्दस्येति । 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति । युवा स्यात्साधु युवाध्यायकः । आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शंत देवगन्धर्वाणामानन्दाः स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः स एक आजानजानां देवानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः, ये कर्मणा देवानपियन्ति श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः स एको देवानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ते ये शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः स एको बृहस्पतेरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः स एकः प्रजापतेरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्ये'त्यनेन प्रपाठकेन ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वादित्यर्थः । पूर्ण आनन्दो येनेति । मर्यादापुष्टिस्थस्येति शेषः । येनेति करणे तृतीया । ननु करणस्य व्यापारवत्त्वनियमात्कथमस्य फलोपधानासाधारण-कारणत्वमिति चेत्, अत्रोच्यते, यत्र भगवान् साधनं कारयित्वैव फलं प्रयच्छति तत्र भगवतः करणत्वं, प्रयोज्यप्रवृत्युपहित-प्रयोक्तृधर्मस्य साधनकारयितृत्वस्य तज्जन्यत्वेन व्यापारत्वादिति । पूर्ण आनन्दो यस्मादिति । पुष्टिस्थस्येत्यर्थः । हेतोर्निर्व्यापारसाधारणत्वात् । ननूभयोरपि मुख्यफलप्राप्तित्वेन को वा विशेषः पुष्टिस्थस्येति चेत्, साधनानपेक्षत्वस्यैव

तत्र ब्राह्मणादीनामपि सत्त्वात्, न, अतिपरिचयादनादरेण तत्र भक्त्यभावेन प्रतिग्रहाद्यपाधिभिरवस्थानाच्च तेषामपि दुष्टत्वमेव । ननु सर्वदोषनिवारकेषु तेषु सत्सु [1]दुष्टत्वमसंभवीति चेत्, न, 'सर्वेण गाङ्गेन जलेन सम्यङ्मृत्स्नाशतेनाप्यथ भावदुष्टः । आजन्मतः स्नानपरोपि नित्यं न शुद्ध्यतीत्येव वयं वदाम' इत्यादित्यपुराणवचनात्, 'मत्स्यकच्छपमण्डूकास्तोये मग्ना दिवानिशं । वसन्तोपि च ते स्नानात्फलं नार्हन्ति कर्हिचित्' 'श्रद्धाविधिसमायुक्तं यत्कर्म क्रियते नृभिः । शुचिशुद्धेन भावेन तदानन्त्याय कल्पते' 'विधिहीनं भावदुष्टं कृतमश्रद्धया च यत् । तद्धरन्त्यसुरास्तस्य समूढस्याकृतात्मन'इति योगियाज्ञवल्क्यवचोभिः, 'अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोच्छिन्नसंशयः । हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिन ' इति वायुपुराणवचनाच्च, 'प्रायश्चित्तानि चीर्णानी'त्यादिभिश्च तेषां भगवद्बहिर्मुख्यनास्तिक्यादिदोषानिवारकत्वात् ।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, गंगा जैसे उत्तम तीर्थों के द्वारा तो समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि हो सकती है, फिर यहाँ केवल भगवद्-आश्रय की ही बात क्यों की जा रही है ? इसका समाधान करते हुए आचार्यचरण तीर्थों में रहे हुए धर्म के साधनों को असाधक कहते हुए वहाँ की परिस्थिति का वर्णन अग्रिम श्लोक द्वारा कर रहे हैं।

गंगादि इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि गंगा जैसे जो श्रेष्ठ तीर्थ हैं, वे दुष्टों द्वारा घिर जाने के कारण उनसे किसी भी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। परंतु वहाँ ब्राह्मण आदि उच्च जाति के लोग भी तो हैं, फिर तीर्थ कैसे दुष्टों से घिर गये हैं ? नहीं, इन तीर्थक्षेत्रों में निवास करते-करते ब्राह्मणों को भी तीर्थों का अति-परिचय हो जाने के कारण, ये तीर्थों का अनादर करने लगे हैं (कहा जाता है कि 'अतिपरिचयादवज्ञा सततं गमनादनादरो भवति' अर्थात् एक ही जगह बारंबार जाने से मान घट जाता है एवं अति-परिचय हो जाने के कारण कभी अपमान भी सहना पड़ सकता है) इनमें भक्ति का अभाव हो गया है और दान लेने की उपाधि से वे ग्रस्त हो जाते हैं, इस कारण ब्राह्मण भी दुष्ट हो गये हैं। परंतु एक संदेह यह है कि तीर्थ तो समस्त दोषों का निवारण कर देते हैं, तो वहाँ रहने वाले दुष्ट हो ही कैसे सकते हैं ? नहीं, ऐसा नहीं है क्योंकि "गंगाजल से सौ बार स्नान करने पर भी और मिट्टी से भी सौ बार स्नान करने पर भी यदि किसी के भावों में दुष्टता है तो वह भले ही जीवनपर्यंत स्नान करता रहे, शुद्ध नहीं हो सकता" इस पुराणवाक्य के द्वारा एवं "मछली, कछुए, मेंढक इत्यादि तो गंगाजल में दिनरात रहते हैं परंतु उन्हें गंगास्नान का फल कभी नहीं मिलता", "जो मनुष्य श्रद्धा-विधिपूर्वक शुद्धभाव से कर्म करता है, वह अनंतफल प्राप्त करता है", "विधिहीन, भावदुष्ट एवं अश्रद्धा से जो कर्म करता है, उस मूर्ख एवं अकृतात्मा के समस्त कर्मों को असुर हर ले जाते हैं" (वायु पु. उतरार्द्ध /१५/१२७)" इत्यादि योगी याज्ञवल्क्य के वचनों द्वारा एवं "अश्रद्धालु-पापात्मा-नास्तिक-संशयात्मा-स्वार्थी, ये पाँच व्यक्ति तीर्थफल के भागी नहीं होते" इस वायुपुराण के वाक्य द्वारा एवं "जैसे शराब के घड़े को नदियाँ पवित्र नहीं कर सकतीं, वैसे भगवान से विमुख यदि बारंबार प्रायश्चित् करे तो भी पवित्र नहीं हो सकता (श्री.भा.६/१/१८)" इत्यादि वाक्यों के द्वारा भी यह सिद्ध होता है कि ऐसे लोगों के भगवद्-बहिर्मुखता एवं नास्तिकता जैसे दोषों का निवारण तीर्थक्षेत्र भी नहीं कर सकते।

ननु वस्तुशक्त्यां सत्यां कथमेतत्, न ह्यग्निः कदाचिन्न दहतीत्याशङ्क्याधिदैविकदेवतारूपतिरोधानाद्वस्तुन एवाभावादित्याहुः-तिरोहिताधिदैवेष्विति । दुष्टान्प्रत्याधिदैवतिरोधानात्सतः प्रत्येव प्राकट्यात्, अत एव श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे 'तीर्थादावपी'ति । अत एव सतां 'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानी'त्यनेन तीर्थीकरणमुच्यते । आधिदैविकाभावे जले दृश्यमानदोषाभावात्किं तीर्थीकरणं स्यात् । शेषं प्राग्वत् ॥ ३ ॥

किंतु शंका यह है कि, चाहे कुछ भी हो तीर्थों की सामर्थ्य तो स्वरूपतः विद्यमान है ही और अग्नि कभी जलाए नहीं, ऐसा तो हो नहीं सकता अतः तीर्थक्षेत्र कुछ न कुछ तो करेंगे ही ? यदि ऐसी शंका होती हो तो आचार्यचरण **तिरोहिताधिदैवेषु** इत्यादि शब्दों से यह कह रहे हैं कि, इस कलिकाल में इन तीर्थों का आधिदैविक - देवतारूप भी निरोधान हो चुका है अतः इनका वास्तविक स्वरूप विद्यमान है ही नहीं। 'तिरोहित' शब्द का अर्थ होता है 'छुप जाना' अतः आपश्री का तात्पर्य यह है कि तीर्थों का आधिदैविकस्वरूप दुष्टों के लिए तिरोहित हो गया है, सत्पुरुषों के लिए तो प्रकट ही है। इसी कारण आपश्री ने श्रीभागवतार्थतत्वदीप में "काशी जैसे तीर्थक्षेत्रों में भी देहत्याग करने से जिसे मुक्ति प्राप्त होती है, वह उसी को प्राप्त होती है, जिस पर श्रीकृष्ण प्रसन्न हुए हों (शा.प्र./४७)" यह कहा है। अतएव "हे प्रभो ! आप जैसे भगवान के प्यारे भक्त स्वयं ही तीर्थस्वरूप होते हैं। आपलोग अपने हृदय में विराजे हुए भगवान द्वारा तीर्थों को भी महातीर्थ बना देते हैं (श्री.भा.१/१३/१०)" इत्यादि वाक्यों द्वारा भले ही सत्पुरुष तीर्थस्थलों को तीर्थ बना देते हैं परंतु इन तीर्थों का तो आधिदैविक-स्वरूप ही तिरोहित हो चुका है और इनमें रहे हुए दोष प्रत्यक्ष तो दिखाई नहीं देते अतः सत्पुरुष भी तीर्थो को क्या पावन कर सकेंगे ? सो ऐसी परिस्थिति में आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि - कृष्ण ही मेरी गति हैं ॥३॥

---

१. असंभावितमिति पाठः ।

टिप्पणी

विशेषादित्यलं बहुना । 'ताविमावि'त्यारभ्य 'प्रकृतेः परः ' इत्यन्तानि वचनानि-'ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ । भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ' 'बभौ भूः पक्कसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः' 'अन्ये चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' 'वसुदेवगृहे साक्षात् भगवान् पुरुषः परः । जनिष्यते तत्प्रियार्थं संभवन्तु सुरस्त्रियः' 'विदितोसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः । केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिद्रुगि'ति । चकारश्च व्यर्थः स्यादिति । 'भारव्ययाय च भुवः' इत्यत्र भक्तार्तिनाशसुखदानादिकं चकारेण गृह्यते । तच्च पुष्टिपुरुषोत्तमकार्यमेवेति तदतिरिक्तकल्पनायां चकारो व्यर्थः स्यादित्यर्थः । व्याप्तिबलेनेति । अन्वयव्यतिरेकव्याप्तिबलेनेत्यर्थः । तथाहि यत्र यत्र कर्तृत्वं तत्र तत्र देहवत्त्वं यथा कुलालादावित्यन्वयव्याप्तिः । यत्र यत्र देहवत्त्वाभावस्तत्र तत्र कर्तृत्वाभावः, यथा मुक्तात्मनीति व्यतिरेकव्याप्तिरिति । न चाप्रयोजकत्वम्, देहवत एव कर्तृत्वात्, न ह्याशरीरी कुलालः शक्नोति कार्यं कर्तुम् । वस्तुतस्तु 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' 'सर्वतः पाणिपादान्त'-मित्यादिविरोधः । 'अशरीरं शरीरेष्वि'त्यादयस्तु पाञ्चभौतिकशरीरनिषेधपराः । न च व्रीहियववत् विकल्पसंभवः प्रमेयापहारनिबन्धनाभावात् । ननु गीतायां चतुर्दशाध्याये 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति' इत्युपादाय 'गुणेभ्यो नान्यं कर्तारमनुपश्यत्यपि तु गुणा एव कर्माणि कुर्वन्तीति' श्रीधरस्वामिव्याख्यानाद्धेतुनिरूपितव्याप्तावप्यतिव्याप्तिरिति चेत्, अत्र वदामः-गुणानामपि देहवत्त्वेनैव तथाकथनं न तु केवलतया । अत एवाग्रे 'गुणानतीत्ये' त्यस्य व्याख्याने 'देहाद्याकारः समुद्भवः परिणामो येषां ते देहसमुद्भवास्तानेतांस्त्रीनपि गुणानतीत्यातिक्रम्ये'त्युक्तं श्रीधरस्वामिभिरिति विद्वांस एव विदाङ्कुर्वन्तु । 'आनन्दमात्रे'त्यारभ्य 'मुदितवक्त्र' इत्यन्तानि वचनानि । 'निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्म तन्त्रो निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः । आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा' 'बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते । गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः' ' त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः । उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम्' 'न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् । पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः' 'नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु । व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः' 'एवं वृन्दावनं श्रीमान् कृष्णः प्रीतमनाः पशून् । रेमे संचारयन्नद्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः' 'वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च । वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप' 'सहबलः सगवतंसविलासः सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः । हर्षयन् यर्हि वेणुरवेण जातहर्ष उपरम्भति विश्वम्' 'यदुपतिर्द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते । मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् व्रजगवां दिनतापमि'ति ॥ ८ ॥

मोक्षप्राप्यत्वादिति । स्वरूपलाभप्राप्यत्वादित्यर्थः । तथाच श्रुतिः 'ब्रह्मविदाप्नोति परमि'ति । अस्या अर्थः-अक्षरवित् परं पुरुषोत्तमं प्राप्नोतीति । मोक्षरूपत्वमिति । भक्तिमार्गस्थाय भगवद्भजनं कुर्वते स्वीयाय सर्वफलदातृत्वं भगवत एव तथाचाक्षरफलदातृत्वमपि स्वस्यैवेति तद्रूपत्वान्मोक्षरूपत्वमित्यर्थः । तथाचोक्तं निबन्धे 'यथा सारथी रथी तदन्तःस्थितश्च तथान्तर्याम्यक्षरं कृष्णः । एवं सति पुरुषोत्तमत्वेन सर्वत्र दर्शनं भवति परब्रह्मैव त्रिप्रकारेण वर्तते इति त्रयो भेदा इति' ।

'यद्यदा'रभ्य 'अव्याहतानी'त्यन्तानि वचनानि 'यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम्' 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः' अव्याहतानि कृष्णस्य चक्रादीन्यायुधानि तम् । रक्षन्ति सकलापद्भ्यो येन विष्णुरुपासित' इति । ताच्छील्यादौक्किबिति । 'आक्रेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुका-रिष्वि'तिस्मरणात् । 'सकृदेवे'त्यारभ्य 'तत्तथा साधयिष्यामी'त्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः- 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम' 'ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे' 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः' 'दर्शयंस्तद्विदां लोके आत्मनो भृत्यवश्यताम् । व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः' 'ततस्तु भगवान् कृष्णो वयस्यैर्व्रजबालकैः । सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन्मुदम्' 'तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः । स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे' 'राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां देवप्रियः कुलपतिः क्वच किङ्करो वः । अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्' 'तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्

ननु [1]कर्तृसमीचीनत्वे सर्वफलसिद्धेः किमाश्रयेऽन्यव्यवच्छेदेनेत्याशङ्क्यकर्तृणामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते-

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारविमूढेष्विति । सत्स पण्डितेषु अहङ्कारेण वयं शास्त्रज्ञा इतिगर्वेणान्यं पृच्छन्त्यपि नेति मायावादाद्यभिनिवेशाद्विशेषेण मूढेषु सत्सु । ज्ञानवत्कृतिरपि तेषां दुष्टत्याहुः लाभपूजार्थयत्नेष्विति । लाभपूजार्थमेव यत्नो येषां, ते पारमार्थिकमपि कर्म लाभपूजाभ्यामेव कुर्वन्ति । पापान् पुंसः, पापं वानुवर्तन्तेऽतः सङ्गान्नदोषाभ्यां दुष्टत्वान्न तेषां स्वतः फलसिद्धिराश्रये तु भगवत्कृपायां स्वत एव वेदार्थस्वदोषयोः स्फुरणात्फलसिद्धिः, भगवान् भगवदीयो वा वेदार्थं जानातीति भक्तानामेव वेदतात्पर्यज्ञानात् । शेषं सुगमम् ॥ ४ ॥

अब यहाँ यह शंका होती है कि, भले ही तीर्थक्षेत्रों की व्यवस्था बिगड़ चुकी हो परंतु वहाँ जाकर धर्माचरण करने वाला व्यक्ति यदि सदाचारी हो तो क्या समस्त फलसिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता ? फिर इन सबको छोड़कर केवल आश्रय पर ही क्यों भार दिया जा रहा है ? यदि ऐसी शंका हो तो अग्रिम श्लोक द्वारा आचार्यचरण धर्माचरण करनेवालों की असाधकता बताते हुए आश्रय के लिए ही प्रार्थना कर रहे हैं।

अहंकारविमूढेषु इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। सत्सु का अर्थ है 'पंडितजन'। आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि, वर्तमान में पंडितों में अहंकार पनप जाने के कारण "हम शास्त्रों के ज्ञाता हैं", इस प्रकार के गर्व द्वारा वे दूसरों से कुछ भी जानना-पूछना ही नहीं चाहते और मायावाद जैसे शास्त्रों में भटक जाने के कारण और अधिक मूढ हो गये हैं। उनकी कृतियाँ ज्ञानियों जैसी दिखाई देने पर भी दुष्ट ही हैं, इसे आचार्यचरण लाभपूजार्थयत्नेषु इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि जो केवल लाभपूजा (ऐसी पूजा जिसके द्वारा स्वार्थ सिद्ध होता हो, परमार्थ नहीं, वह लाभपूजा है) के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, वे पारमार्थिक कर्म भी लाभपूजा के लिए ही करते हैं। पापी-पुरुष के अथवा पाप का अनुगमन करने वाले के संगदोष एवं अन्नदोष द्वारा दुष्ट हो जाने के कारण धर्म करनेवालों को स्वतः ही फलसिद्धि नहीं होती और भगवद्-आश्रय करने पर तो भगवत्कृपा से अपने-आप ही वेद का तात्पर्य समझ में आ जाता है एवं अपने दोषों का ज्ञान हो जाने से फलसिद्धि प्राप्त हो जाती है। वेद का तात्पर्य या तो भगवान जानते हैं या भगवदीय, अतः भक्तों को वेद का तात्पर्यज्ञान होता है एवं वह फलसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। शेष तो पूर्व के श्लोकों जैसा ही है ॥४॥

पूर्ववदाशङ्क्य मन्त्राणामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते-

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञाननष्टेष्विति । मन्त्रा वैदिका आगमोक्ताश्च, तेषु अपरिज्ञाननष्टेषु अपरिज्ञानेन तात्पर्यफलदेवतास्वरूपाज्ञानेन नष्टप्रायेषु सत्सु । वैदिकानां गुरुकुलवासब्रह्मचर्यशूद्रासन्निध्यनध्यायराहित्यपूर्वकं पठितानां साधकत्वेनाव्रतयोगिनामसाधकत्वात् । आगमोक्तानां तात्पर्याज्ञानेनार्थदेवयोस्तिरोभावादसाधकत्वात् । भगवदाश्रये तु 'यस्य स्मृत्ये'त्यादिवाक्यैः 'सर्वं संपूर्णतां याती'ति मन्त्राणामपि साधकत्वात् ॥ ५ ॥

पहले की गई शंका की भाँति आचार्यचरण अग्रिम श्लोक द्वारा मंत्रों की भी असाधकता बताते हुए आश्रय के लिए प्रार्थना कर रहे हैं।

अपरिज्ञाननष्टेषु इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। वैदिक एवं पौराणिक मंत्रों के अपरिज्ञान से (अज्ञान से) अर्थात मंत्रों का तात्पर्य, मंत्रों के देवता एवं मंत्रों के स्वरूप के अज्ञान से मंत्र नष्टप्राय हो गये हैं। वैदिक मंत्र तो गुरुकुल में रहने, ब्रह्मचर्य का पालन करने, शूद्रों के सन्मुख न बोलने एवं अध्ययन में प्रमाद न करते हुए पढ़ने से साधक बन सकते हैं परंतु इन व्रतों का पालन न करने से वे मंत्र असाधक बन गये हैं। और पौराणिक-मंत्र तो उनका तात्पर्य-ज्ञान न होने से उनके अर्थ एवं देवता दोनों तिरोहित हो गये हैं, इसलिए असाधक हो गये हैं। किंतु भगवद्-आश्रय करने पर तो "जिसका नाम-स्मरण करने से सभी अपूर्ण वस्तुओं में पूर्णता आ जाती है, ऐसे भगवान-अच्युत को नमस्कार है" (बृहन्नारदीय पू.खं. १७/१०८) इत्यादि वाक्यों के अनुसार ये मंत्र भी साधक बन जाते हैं ॥५॥

ननु मीमांसादिना मन्त्रतात्पर्यनिर्धारात्कर्मभिरेव फलसिद्धेः किमाश्रयेणेत्याशङ्क्य कर्मणामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते-

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

---

१ कर्तृसमीचीनत्वेनेति

टिप्पणी

भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः । त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो' ' मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन् सर्वान् लोकान् निर्भयान्नाध्यगच्छत् । त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति' 'वसति मनसि यस्य सोव्ययात्मा पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपातः । गतिरथ मम वा तवास्ति चक्रप्रतिहतवीर्यबलस्य सोन्यलोकः' ॥१०॥

'देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ ।
तत्तथा साधयिष्यामि यद्रीतं तन्महात्मनेति' ॥११॥

दूरीकरोति विकटं किल सङ्कटानां सङ्गं विशंकटतरं वरसेवकानाम् ।
यत्पद्मरागमणिवर्यविराजमानं तद्वेङ्कटेशमुकुटं प्रकटं रटामः ॥१॥
निखिलपण्डितमण्डलमण्डितं हरिमुखाब्जसरोरुहभास्करम् ।
अतुलमङ्गलनामविराजितं जनमनोहररूपमहं भजे ॥२॥
श्रीमत्कल्याणरायाणां नमस्कृत्य पदद्वयम् ।
कृष्णाश्रयप्रकाशस्य तत्प्रणीतस्य टिप्पणम् ॥३॥
गुरुश्रीबालकृष्णानामात्मजेन सतां मतम् ।
कृतं गोविन्दराजेन नाम्ना तत्त्वनिरूपणम् ॥४॥
इति श्रीमत्कल्याणरायचरणकोकनदमधुपायमानान्तःकरणतिघरो
पनामकबालकृष्ण भट्टात्मजगोविन्दराजकृतं तत्त्वनिरूपणाभिधं
कृष्णाश्रयप्रकाशटिप्पणं समाप्तिमगमत् ।

नानावादविनष्टेष्विति । कर्माणि सोमयागादीनि, व्रतादीनि च, तेषु सर्वेषु प्रपञ्चः सर्वोपि मिथ्येति वेदानामपि तथात्वात्प्रपञ्चवत्स्वाज्ञानकल्पितत्वेन वेदानां तद्बोधितानां च व्यवहारमात्रेण प्रामाण्यान्न किञ्चित्कर्तव्यं प्राप्तव्यं वास्तीति केषाञ्चिद्वादः, 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोग्र' इत्यादिवाक्यैर्ब्रह्मादीनामपि यज्ञैरेवोत्कर्षात्पूर्ववासनात एवोत्तरोत्तरप्रवृत्तेः कर्मैव कर्तव्यं तेनैव फलं न कोप्युपास्यः फलदाता प्रवर्तको वा, देवतापि चेतना नास्ति किन्तु मन्त्रमय्येवेति न देवताप्रीतिव्यापारः फलं वेति केषाञ्चिद्वादः, शास्त्रेण षोडशपदार्थविवेकानन्तरं श्रवणमननिदिध्यासनैः स्वात्मसाक्षात्कारे सति दुःखात्यन्ताभाव एव फलं न भगवान्सेव्यः फलं वेति केषाञ्चिद्वादः, प्रकृतितद्विकारोपधानविलये पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं फलं, न भगवानिति केषाञ्चिन्मतम्, एवंविधैर्नानावादैर्विशेषेण नष्टेषु सत्सु । विपरीतार्थनिश्चयेन फलाजनकत्वाद्विनाशः ।

परंतु एक आशंका यह है कि, मीमांसा (विचार-विमर्श) द्वारा ही मंत्र के तात्पर्य का निर्धारण कर लिया जाय और फिर कर्म से ही फल की सिद्धि भी हो जायेगी अतः आश्रय करने की ही क्या आवश्यकता है ? तो आचार्यचरण अग्रिम श्लोक में कर्मों की असाधकता कहते हुए आश्रय के लिए ही प्रार्थना कर रहे हैं।

नानावादविनष्टेषु इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि कुछ लोगों का ऐसा मानना है कि, ये सोमयज्ञ, व्रत-आदि जैसे समस्त कर्मों में निरा प्रपंच भरा पड़ा है और ये मिथ्या हैं। वेदों को कुछ लोग मिथ्या ही मानते हैं एवं अपने अज्ञान के कारण कपोल-कल्पनाओं से वे ऐसा कहते हैं कि वेद में कही हुई बातें तो केवल लौकिक-व्यवहार साधने के लिए हैं, वास्तव में न तो इनसे कुछ अलौकिकतत्व प्राप्त करना है अथवा न तो इनमें कोई अलौकिक तथ्य है, ऐसा कुछ लोगों का मत है। कुछ लोगों की मान्यता ऐसी है कि, "परमेष्ठिनो वा एष" इत्यादि वाक्यों के द्वारा ब्रह्मा जैसे देवताओं की भी महिमा यज्ञ से ही बढ़ी है, इसलिए पहले वासना से ही उत्तरोत्तर कर्मों में प्रवृत्ति होती है अतः इन यज्ञ - आदि के कर्म करने ही कर्तव्य हैं, इससे ही फलप्राप्त होगा। इसके अलावा और कोई दूसरा फलदाता या प्रवर्तक नहीं है। देवताओं में भी चेतना नहीं है अपितु मंत्रमय ही हैं अतः देवताओं से भी प्रीति रखने का कोई फल मिलने वाला नहीं है। इसी प्रकार कुछ लोगों की मान्यता यह है कि, सर्वप्रथम शास्त्रों द्वारा षोडश पदार्थों का विवेक जान लो, फिर श्रवण-मनन-निदिध्यासन करते हुए अपनी आत्मा से साक्षात्कार होने पर समस्त दुःख दूर हो जाना ही फल है, भगवान फल अथवा सेव्य नहीं हैं। इसी प्रकार कुछ लोगों की मान्यता यह है कि, प्रकृति एवं उसके विकारों का विलय हो जाने के पश्चात् जब जीव अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित हो जाता है - वही फल है, भगवान फल नहीं हैं। इस प्रकार नाना प्रकार के वादों द्वारा समस्त कर्म-व्रत नष्ट हो चुके हैं। तात्पर्य यह कि विपरीत अर्थ का निश्चय हो जाने से योग्य फलप्राप्ति नहीं होती, इस कारण विनाश हो चुका है।

वस्तुतः 'पुरुष एवेदं सर्वं', 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं' 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' 'एष उ एव तं साधु कर्म कारयति' 'अहं सर्वस्य प्रभवः' 'को नु राजन्निन्द्रियवान्' 'देवोसुरो मनुष्यो वा''फलमत उपपत्तेः' 'त एवं तृप्तास्तर्पयन्त्येनमिं'ति 'देवा वै सत्रमासत' 'विशते तदनन्तरम्' 'मामेवैष्यसि' 'आनन्दं ब्रह्मणो रूप' मित्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायैः प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वात्सत्यत्वेन कर्तव्यस्य सफलत्वाद्भगवतः सर्वेश्वरत्वेन सेव्यत्वात्प्रवर्तकत्वात्फलदातृत्वात्तृप्तिसत्रकरणाद्यनुपपत्त्या देवतानामपि चेतनत्वाद्भगवत्सायुज्यस्य मोक्षत्वादानन्दरूपत्वेन भगवत एव फलरूपत्वात्पूर्वोक्तवादानां प्रलपितकल्पत्वात् । स्वमताग्रहेणैव निषिद्धदशम्यादिविद्धैकादश्यादिव्रतकरणाच्च । कर्मत्वेपि व्रतादीनां पृथगुपादानं ज्ञानाद्यङ्गत्वबोधनाय ।

वास्तव में तो "भगवान ही भूत-भविष्य और वर्तमान सभी कुछ हैं (पु.सू./२)", "एतदात्म्यमिदं" "यह परमात्मा सबको वश में रखनेवाला, सब पर शासन करने वाला एवं सबका अधिपति है. (बृ.४/४/२२)" यह परमात्मा जिसका उद्धार करने की इच्छा रखता है, उससे अच्छे कार्य करवाता है (कैव.उप.२/८) "मैं ही सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ (भ.गी. १०/८)", "हे राजन्! ऐसा कौन है जिसके इंद्रियाँ हों और वह भगवान की सेवा करना न चाहे ? (श्री.भा.११/२/२)", "देव-असुर-मनुष्य-यक्ष-गंधर्व कोई भी हो, यदि भगवान के चरणकमलों का सेवन करे तो कल्याण का भागी होता है (श्री.भा. ७/७/५०)", "जीवों के कर्मों का फल परब्रह्म से ही प्राप्त होता है (ब्रह्मसूत्र ३/२/३८)" "त एवं तृप्ताः""देवा वै", "भक्तियोग द्वारा ही मुझ पुरुषोत्तम का स्वरूप जाना जा सकता है। भक्तियोग द्वारा मुझे जाननेवाला तुरंत वैकुण्ठ में प्रवेश कर जाता है (भ.गी. १८/५५)", "मन से निरंतर मेरा चिंतन कर, मेरा भक्त होकर मेरा पूजन कर, मुझे प्रणाम कर, इस प्रकार से तू मुझको ही प्राप्त होगा (भ.गी. ९/३४)", "आनंदं ब्रह्मणो रूपम्" इत्यादि श्रुतिस्मृतिपुराण के वाक्यों द्वारा प्रपंच ब्रह्मात्मक है और सत्य है। इसी कारण समस्त कर्म-ज्ञान आदि सफल होते हैं। और भगवान सर्वेश्वर होने के कारण सेव्य हैं, सभी के प्रवर्तक हैं और फलदाता हैं। इसी कारण अपने स्वार्थ के लिए यज्ञ आदि करना असफल जाता है। देवता भी चेतन हैं, भगवान का सायुज्य ही मोक्ष है, भगवान ही आनंदरूप हैं एवं वही फलरूप होने के कारण पूर्व में कही सभी मान्यताएँ कपोल-कल्पित हैं। अपने मत के आग्रह के कारण ही लोग निषिद्ध मानी गई दशमी-वेध एकादशी आदि का

व्रत कर लेते हैं अतः आचार्यचरण कह रहे हैं कि समस्त कर्म-व्रत आदि नष्ट हो चुके हैं । (जिस एकादशी को दशमी स्पर्श कर लेती हो, ऐसी एकादशी को व्रत करना हमारे संप्रदाय में निषिद्ध माना जाता है । अर्थात् एकादशी के दिन सूर्योदय से पहले-पहले यदि दशमी तिथि समाप्त हो जाती हो, तब तो एकादशी-व्रत करना चाहिए परंतु सूर्योदय के बाद भी दशमी तिथि निवृत्त न हुई हो तो उस एकादशी को दशमी-तिथि ने स्पर्श कर लिया है अतः उस दिन एकादशी-व्रत रखना निषिद्ध कहा गया है । और, यदि एकादशी को द्वादशी स्पर्श करती हो तो कोई हानि नहीं परंतु दशमी स्पर्श नहीं करनी चाहिए ।) यों तो व्रत-आदि करना भी एक कर्म ही है परंतु आचार्यचरण उन्हें ज्ञान का अंग बताने के लिए अलग-अलग करके बता रहे हैं ।

ननु तेपि स्वयं कुर्वन्ति परानपि बोधयन्ति मिथ्यात्वनि:फलत्वाल्पफलत्वानन्दाभावज्ञाने कथं कुर्युः कथं वा बोधयेयुस्तेषामपि मतानां शङ्करजैमिनीगौतमादिप्रवर्तितत्वाच्चेत्यत आहुः-पाषण्डैकप्रयत्नेष्विति । पाषण्डनिमित्तमेव मुख्यः प्रयत्नो येषु 'त्वं च रुद्रे'तिसार्द्धेन 'त्वामाराध्ये'तिश्लोकद्वयेन च भगवता महादेवं प्रति तथैवाज्ञापनेन तथैव तेषां प्रवृत्तेः, स्वयं कर्मादिकरणेन स्वस्य महत्त्वख्यापनेन मतप्रवर्तनात्, 'यद्यदाचरति श्रेष्ठ' इतिन्यायात् । आधुनिकानां तैरेव मोहितत्वात् । नहि देवादिप्रवर्तितशास्त्रत्वमात्रेण सन्मतत्वं किन्तु वेदाविरोधित्वे सति वेदानुसारित्वात् । अन्यथा बृहस्पतिप्रवर्तितबौद्धशास्त्रस्यापि सन्मतत्वप्रसङ्ग इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या । शेषं प्राग्वत् ॥ ६ ॥

यहाँ एक शंका यह होती है कि भले ही नाना प्रकार की मान्यताएँ हैं परंतु इनका अनुसरण करने वाले तो खुद भी ऐसा कर रहे हैं और दूसरों को भी बोध करा रहे हैं । अब यदि वे इन यज्ञ-कर्म-व्रत आदि में असत्यता, निष्फलता, अल्पफल एवं आनंदशून्यता जान लें तो खुद क्यों करेंगे और दूसरों को क्यों बोध करायेंगे ? अरे इनका मत भी तो शंकर, गौतम, जैमिनी जैसे ऋषियों से मान्यता प्राप्त किए हुए हैं, फिर आप इन्हें कपोल-कल्पित कैसे मान रहे हैं ? यदि ऐसी शंका हो तो आचार्यचरण पाषंडैकप्रयत्नेषु इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं । तात्पर्य यह कि मुख्यरूप से पाषंड के लिए ही जो प्रयत्न कर रहे हैं, उन्हें आपश्री 'पाषंडैकप्रयत्नः' कर रहे हैं । स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने "हे रुद्र ! मोहशास्त्र की रचना करिए । असत्य को सत्य एवं सत्य को असत्य करिए । मेरा माहात्म्य लुप्त करके अपना माहात्म्य फैला दीजिए" (पद्म.पु./षष्ठ उ.खं.७१/१०८)", एवं "त्वमाराध्य तथा शंभो (पद्म.पु. ६ उ.खं. ७१/१०६)". इन दोनों श्लोकों के अनुसार महादेवजी को पाखंड फैलाने की आज्ञा दी है, इसलिए इनकी प्रवृत्ति पाखंड फैलाने में ही हो गई है । और "महापुरुष जो-जो आचरण करते हैं, साधारण मनुष्य उनका अनुकरण करते हैं । वह अपने कर्मों से जो आदर्श स्थापित कर देते हैं, संपूर्ण विश्व उनके अनुसार कार्य करता है (भ.गी.३/२१)" इस वाक्य के अनुसार सर्वप्रथम वे स्वयं ऐसा करते हैं एवं स्वयं का माहात्म्य स्थापित करके दूसरों को प्रवृत्त करते हैं । इसलिए आधुनिक जीव इनसे मोहित हो गये हैं । अतः समझना चाहिए कि, केवल किसी देवता आदि के द्वारा प्रवर्तित होने से कोई भी मार्ग सन्मार्ग नहीं हो जाता, किंतु सन्मार्ग होने के लिए उसे वेद का विरोधी न होते हुए वेद के अनुकूल होना चाहिए । अगर ऐसा नहीं मानेंगे तो बृहस्पति के द्वारा प्रवर्तित किया गया बौद्ध-शास्त्र भी सन्मार्ग सिद्ध हो जायेगा । अब हमने इस विषय में प्रमाण-अप्रमाण का पर्याप्त विचार कर लिया है । शेष श्लोक का अर्थ तो पूर्वश्लोकों की ही तरह है ॥६॥

ननु 'धर्मेण पापमपनुदति' 'धर्मे सर्वं प्रतिष्ठित'मितिश्रुतेः पूर्वं दोषाभावाय धर्मः कार्यस्तेन चित्तशुद्धौ माहात्म्ये स्वरूपे च ज्ञाते तदाश्रयादिकं कार्यं न त्वाशु दोषवतैवान्यथा क्व योगिध्येयो भगवान् क्व दुष्टो जीव इत्याशङ्क्य 'यमेवैष वृणुते' 'रहुगणैतत्' 'भक्त्या त्वनन्यये' त्यादिनाङ्गीकृत्या महदनुग्रहेण च भक्त्या दोषवतापि गम्यत इति तन्माहात्म्यमपि तथेति महापुरुषद्वारा शरणागतौ सर्वं तत एव भविष्यतीत्यभिप्रेत्य भक्तानां भगवानेव चतुर्विधपुरुषार्थरूप इति प्रथमं धर्मरूपत्वं वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते-

परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि, "धर्म से पाप का नाश होता है, धर्म में ही सभी कुछ प्रतिष्ठित है (महानारायणोपनिषद् खं.२२/१) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा सबसे पहले दोष दूर करने के लिए धर्म करना चाहिए, इससे चित्त की शुद्धि होगी और भगवान के माहात्म्य का स्वरूप ज्ञात होगा, तब उनका आश्रय करना उचित होगा । ऐसे दोषयुक्त जीवों को शीघ्र आश्रय का उपदेश करना ठीक नहीं है क्योंकि कहाँ तो बड़े-बड़े योगी-मुनियों के द्वारा ध्यान किए जाते भगवान और कहाँ ये दुष्ट जीव ? यदि ऐसी शंका होती हो तो समझना चाहिए कि "यह परमात्मा प्रवचनों या ज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं होता परंतु जिसे यह वरण करता है, उसे प्राप्त होता है (कठो.१/२/२३; मुंड.३/२/३)", "हे राजा रहूगण ! केवल तप, यज्ञ, वैदिक कर्म, दान, अतिथिसेवा, दीनसेवा इत्यादि किसी भी साधन से परमात्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता (श्री.भा. ५/१२/१२)", "केवल अनन्य भक्ति से ही मुझे इस रूप में देखा और जाना जा सकता है (भ.गी.११/५४)" इत्यादि वाक्यों के प्रमाण द्वारा भगवान द्वारा स्वीकार कर लेने से एवं महद्-अनुग्रह करने से दोषयुक्त जीव भी भक्ति द्वारा भगवान को प्राप्त कर सकता है क्योंकि भक्ति का ऐसा ही माहात्म्य है । सो महापुरुष के द्वारा भगवान के शरणागत होने पर ही सभी कुछ सिद्ध हो जायेगा, इस अभिप्राय से भक्तों के चतुर्विध पुरुषार्थ भगवान ही हैं इसलिए

भगवान का प्रथम धर्मस्वरूप बताते हुए आचार्यचरण आश्रय की प्रार्थना अग्रिम श्लोक में कर रहे हैं।

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादीति । अनुभवविषयीभूतोऽजामिलादीनां ये दोषास्तेषां नाशकः । ज्ञापितं अखिलं माहात्म्यं येन तादृशः, तेन पापनिवर्तकत्वमिष्टप्रापकत्वं च धर्मकार्यमुक्तमतो दोषोपस्थितावपि तदाश्रयणमेव कार्यं भगवदीयानां न तु तं विहाय प्रायश्चित्तादीति सूचितम् । यद्वा, परम्परासंबन्धेनापि पूर्वोक्तः, स्वनामसाम्येनाप्यजामिलोद्धारात् अनुभवे स्थितो महदनुग्रहेण । ज्ञापितमखिलं लीलादिरूपं तद्येन । शेषं प्राग्वत् ॥ ७ ॥

अजामिलादि इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि यह बात हमारे अनुभव में है कि भगवान ने अजामिल जैसे महापातकी जीवों के भी दोष नष्ट कर दिए थे, उन जैसे दोषों के भगवान नाशक हैं। और भगवान ने अपना समस्त माहात्म्य ज्ञापित कर रखा है, अतएव आचार्यचरण इस श्लोक में भगवान का पापों को दूर करना एवं इष्ट की प्राप्ति कराना जैसे धर्म के कार्यों को कह रहे हैं। इसलिए भगवदीयों को चाहिए कि दोष होने पर भी भगवान का ही आश्रय करें, उन्हें छोड़कर प्रायश्चित्त आदि करने की आवश्यकता नहीं है, यह सूचित होता है। अथवा यह समझें कि, अजामिल महापातकी था और मृत्यु के समय उसने अपने पुत्र 'नारायण' को पुकारा परंतु भगवान का नारायण नाम तो परंपरा से उनके ही अर्थ में प्रयुक्त होता चला आया है अतः अपना माहात्म्य प्रदर्शित करने के लिए भगवान ने महद्-कृपा करके अपने नाम के समान पुत्र का नाम लेने पर भी अजामिल का उद्धार कर दिया था, यह बात हमारे अनुभव में है। यहाँ आचार्यचरण भगवान को 'ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः' कह कर संबोधित कर रहे हैं क्योंकि प्रभु ने अपने लीलादिरूप समस्त माहात्म्य को ज्ञापित कर रखा है। शेष श्लोक का अर्थ तो पहले जैसा ही है ॥७॥

ननु 'तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' 'यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छती'त्यादिश्रुतेः कर्ममार्गेपि ब्रह्मयज्ञाध्ययनादिनाग्न्यादिसायुज्यसिद्धे 'ये त्वक्षर'मित्यादिना ज्ञानेनाप्यक्षरसायुज्यसिद्धेः को विशेषः कृष्णाश्रय इति किमिति तस्यैव प्रार्थनमित्याशङ्क्य तारतम्यज्ञानार्थं सर्वस्वरूपनिरूपणपूर्वकमर्थरूपत्वं वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते-

अब यहाँ यह शंका होती है कि "स्वाध्याय का अध्ययन करना चाहिए", "जो जो इस यज्ञ का अध्ययन करता है, उसे इष्ट-प्राप्ति हो जाती हैं एवं अग्नि-वायु-सूर्य इत्यादि देवताओं का सायुज्य प्राप्त होता है (तैति.आ.२/१५/प्रपाठक-२/अनु.१५) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार कर्ममार्ग में भी ब्रह्मयज्ञ-आदि एवं अध्ययन द्वारा अग्नि-वायु इत्यादि देवताओं की प्राप्ति बताई गई है। और "जो अक्षरब्रह्म की उपासना करते हैं, वे अंत में मुझको ही प्राप्त करते हैं (भ.गी.१२/३)" इस वाक्यानुसार ज्ञान से भी अक्षरब्रह्म की प्राप्ति कही गई है, अब कृष्णाश्रय में ही ऐसी क्या विशेषता है जो आप उसकी ही प्रार्थना कर रहे हैं ? यदि ऐसी शंका होती हो तो आगे के श्लोक में आचार्यचरण अक्षरब्रह्म एवं पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के भेद को बताने के लिए उन सभी के स्वरूप का निरूपण कर रहे हैं। इसी स्वरूप के द्वारा वे भगवान का 'अर्थ' रूप बता कर आश्रय की प्रार्थना कर रहे हैं।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति । यस्मात्सकला देवाः प्राकृताः सत्त्वाहङ्कारप्रभवत्वात् । बृहदक्षरं गणितानन्दकं 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवती' त्यारभ्य 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्द' इत्यन्तेन ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वात् कृष्ण एव हरिः सर्वदुःखहर्ता पूर्णानन्दश्च । पूर्णश्चासावानन्दश्च, पूर्ण आनन्दो येन यत्र यस्मादिति वा, तस्मात्कृष्ण एव गतिर्ममास्त्वित्यर्थः । (देवादिसायुज्येपि तेषां प्रकृत्युपधानेन तन्मुक्तेः सगुणत्वेन 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुने' तिभगवद्वाक्यात्पुनः संसारसंभवेनाल्पानन्दत्वेन स्वर्गवदमुक्तित्वात्) ज्ञानमार्गेऽक्षरमुक्तेर्निर्गुणत्वेप्यक्षरस्य गणितानन्दत्वेनाल्पत्वात् क्षुधितस्यात्यल्पभोजनमभो-जनमेवेतिवदप्रयोजकत्वात् । अज्ञातार्थहृस्वार्थ'क'प्रत्ययेनाव्यक्तत्वं पुरुषोत्तमापेक्षयाल्पत्वं च सूचितम्। पूर्णानन्दत्वेन निर्गुणमुक्तिदायकत्वेन कृष्ण एव शरणं भावनीय इति सिद्धम् । तदुक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः 'निर्गुणा मुक्तिरस्माद्धि सगुणा सान्यसेवये'ति ।

प्राकृता इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं कि, समस्त देवता प्राकृता हैं क्योंकि ये सभी सत्वगुण के अहंकार द्वारा उत्पन्न हुए हैं। और बृहद् अर्थात् अक्षरब्रह्म गणितानंद हैं क्योंकि तैतिरीयोपनिषद् की "अब आनंद का विचार किया जाता है (२/८/२)" से लेकर "प्रजापति के जो सौ आनंद हैं, वह ब्रह्मा का एक आनंद है (२/८/१२)" यहाँ तक के श्लोकों में ब्रह्मानंद की गणना की गई

है अतः आचार्यचरण यहाँ लिख रहे हैं, कि कृष्ण ही सर्वदुःखहर्ता-हरि हैं एवं पूर्णानंद भी हैं । केवल भगवान-श्रीकृष्ण द्वारा ही आनंद में पूर्णता आती है अथवा भगवान-श्रीकृष्ण से ही आनंद पूर्ण होता है अतः आचार्यचरण "कृष्ण ही मेरी गति हों" इस प्रकार कह रहे हैं, यह अर्थ है । अन्य देवता यदि सायुज्य-मोक्ष भी दे दें, तो वे तो प्राकृत हैं एवं सगुण हैं अतः उनके द्वारा दी गई मुक्ति भी सगुण होगी । और इसी कारण "हे अर्जुन ! प्राकृत-जगत् में ब्रह्मलोक से लेकर नीचे तक सभी लोक बारंबार मृत्यु-जन्म के क्लेश से पूर्ण हैं (भ.गी.८/१६)" इन भगवद्-वाक्यों के अनुसार मुक्ति होने के बाद भी पुनः संसार में गिर जाने की संभावना रहती है अतः इन प्राकृत-देवताओं का आनंद अल्प होने के कारण स्वर्ग की भाँति जीव अमुक्त ही रहता है । (यहाँ श्रीमद्-भागवत में कहे "तावद् प्रमोदते.... कालचालितः (श्री.भा.११/१०/२६) एवं भगवद्-गीता में कहे" क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति (९/२१) इत्यादि वाक्यों का अनुसंधान करना चाहिए जहाँ वर्णित है कि, चाहे जीव को स्वर्ग भी क्यों न प्राप्त हो जाय, वह स्वर्गसुख भी तभी तक भोग सकता है जब तक उसके पुण्य शेष हों । पुण्य समाप्त होते ही वह पुनः मृत्युलोक में आ गिरता है । टीकाकार यहाँ यही बात समझाना चाह रहे हैं कि अल्प स्वर्गसुख की भाँति ये प्राकृत देवता भी जीव को पूर्णरूप से मुक्ति नहीं दे सकते ।) और ज्ञानमार्ग में अक्षरब्रह्म यद्यपि निर्गुण हैं तथापि अक्षरब्रह्म गणितानंद हैं और इसी कारण अल्प भी हैं अतः जैसे किसी भूखे व्यक्ति को कौर दो कौर अल्पभोजन करा देना भोजन न कराने के बराबर ही होता है उसी प्रकार अक्षरब्रह्म का अल्प-आनंद भी व्यर्थ ही सिद्ध होता है । इसी अल्पता को बताने के लिए आचार्यचरणों ने 'गणितानंदकं' शब्द में 'क' प्रत्यय का प्रयोग किया है, जिससे पूर्णपुरुषोत्तम-श्रीकृष्ण की तुलना में अक्षरब्रह्म की अल्पता सूचित होती है । अतः पूर्णानंद एवं निर्गुणमुक्तिदायक होने के कारण कृष्ण की ही शरणभावना करनी चाहिए, यह सिद्ध होता है । यही बात आचार्यचरणों ने "निर्गुण-मुक्ति हमारे पुष्टिप्रभु के द्वारा प्राप्त होती है एवं सगुणमुक्ति अन्य देवताओं की सेवा द्वारा (शा.प्र./४)" इस वाक्य द्वारा कही है ।

ननु 'ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ । भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ' 'कलाभ्यां नितरां हरेः' इत्यादिनांशत्वकथनाद्देहस्य च त्रिदिवेशादावपि पाञ्चभौतिकत्वजन्यत्वनियमेन जन्मश्रवणात् सुखस्यात्मगुणत्वेन भेदाच्च कथं पूर्णत्वं, कथं चानन्दरूपत्वमानन्दवत्त्वं तज्जनकत्वं वा परं वक्तुं शक्यमिति चेत्, मैवम्, 'ताविमा'वित्यादीनामर्थानवगमात् । तथाहि-भगवान् भक्तानामार्तिनाशार्थं सुखदानार्थं च प्रकटः भुवो भारव्ययायेहानयोः कृष्णार्जुनयोस्ताविमौ भगवतो हरेरंशौ चागतौ कृष्णयोर्यदुकुरूद्वहयोः प्रविष्टत्वाद्यदुकुरूद्वहौ कृष्णौ च जातौ, यत आगतौ तत्र यदुकुरूद्वहत्वाभावात् । तत्तत्कार्यकरणार्थं व्यूहेषु भगवतस्तत्तदंशापेक्षणादनयोरपि सङ्कर्षणांशत्वेन भूभारहरणार्थमपेक्षणात् । अंशयोरेवावतारत्वे पूर्णत्वाभावे. 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' 'वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः परः' । 'विदितोसि भवान् साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः पर' इत्यादिकं विरुध्येतात्र चकारश्च व्यर्थः स्यात् ।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि "भगवान-हरि के अंशभूत नर-नारायण ही इस समय पृथ्वी का भार उतारने के लिए श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के रूप में अवतीर्ण हुए हैं (श्री.भा.४/१/५९)", "हरि के दोनों कलावतार श्रीकृष्ण एवं बलराम से पृथ्वी सुशोभित होने लगी । (श्री.भा. १०/२०/४८)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार - श्रीकृष्ण को तो भगवान का अंश कहा गया है और देवताओं की देह भी पाञ्चभौतिक एवं जन्म लेने वाली सुनी गई है । साथ-साथ श्रीकृष्ण का भी लौकिकरूप से जन्म हुआ है । तो फिर श्रीकृष्ण को किस प्रकार से पूर्ण कहा जा सकता है ? और इसी प्रकार आनंदरूप, आनंदवान, आनंददायक या आनंद से पर भी कैसे कहा जा सकता है ? नहीं, ऐसा नहीं है । अभी आप उपर्युक्त श्लोकों का अर्थ ही नहीं समझे हैं । उस श्लोक का अर्थ यह है कि - भगवान भक्तों के दुःख को दूर करने के लिए एवं सुखदान करने के लिए प्रकट हुए । भुवि के भार को दूर करने के लिए कृष्ण-अर्जुन के रूप में भगवान-हरि के अंश (नर-नारायण) आ गये । और भगवान-हरि का अंश इन दोनों प्रविष्ट होने के कारण ये दोनों कृष्ण-अर्जुन हो गये परंतु जिस भगवान-हरि से ये दोनों अंश प्रकट हुए हैं वहाँ केवल कृष्ण या अर्जुन नहीं हैं, वहाँ तो भगवान पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही हैं और इस ग्रंथ में उन्हीं पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की बात कही जा रही है । पृथ्वी पर इस प्रकार के कार्यों को करने के लिए भगवान को अपने अंशावतारों की आवश्यकता होती है । अतः ये दोनों भगवान के अंशरूप ही हैं और इनमें पूर्णता नहीं है क्योंकि यदि इनमें ही पूर्णता मान लेंगे तो फिर "अन्य सभी तो भगवान के अंशावतार एवं कलावतार हैं परंतु भगवान (अवतारी) तो श्रीकृष्ण ही हैं (श्री.भा. १/३/२८)", "वसुदेवजी के घर में स्वयं पुरुषोत्तम भगवान प्रकट होंगे (श्री.भा. १०/१/२३)", "मैं समझ गया कि आप प्रकृति से अतीत साक्षात् पुरुषोत्तम हैं । आपका स्वरूप है केवल अनुभव और केवल आनंद (श्री.भा.१०/३/१३)" इत्यादि वाक्यों से विरोध हो जायेगा एवं उपर्युक्त श्रीमद्-भागवत के (१/३/२८) श्लोक में प्रयुक्त हुआ 'च' शब्द भी व्यर्थ हो जायेगा; जो भगवान - हरि एवं उनके अंशों के भेद को ही बता रहा है ।

तथाचोक्तं श्रीभागवत 'तत्त्वार्थदीपे' 'सर्वातिरिक्तरूपेण नरः स्वावेशधारकः । तपोऽतिरिक्तकार्यं तु पूर्णे कृष्णे न

चान्यथे'ति । 'सर्वे'ति । व्याख्या तु 'सर्वकार्यकर्तृत्वात्सर्वरूपो नारायणः । पुष्टिकार्यकर्तृत्वादतिरिक्तोवतारः । तत्राधिकारमाशङ्क्य परिहरति 'स्वावेशे'ति । नरस्तु तादृशमंशं बिभर्ति न त्ववतार इत्यर्थः । 'ताविमौ वै भगवत' इति मूलवाक्यं 'कृष्णस्तु स्वयं भगवाने'तेन विरुध्यते इति समाधत्ते 'तपोतिरिक्ते'ति । मार्गद्वयस्थापनार्थमवतीर्णोपि पूर्णप्राकट्याभावे कार्यं न सेत्स्यतीति पूर्णे कृष्ण एव प्रविष्टावंशाविति मूलार्थ' इति । 'बभावि'त्यत्र कलाभ्यामंशाभ्यां भूर्बभौ हरेः सम्बन्धिनी भूः पदैरनुभावैर्लीलाभिश्च नितरां बभावित्यर्थ इति । अन्यथोक्तवचनविरोधात् । देहस्य पाञ्चभौतिकत्वजन्यत्वनियमस्य प्राकृत विषयत्वादप्राकृते यथावेदमेवार्थसिद्धेः, अन्यथा ज्ञानेच्छादीनामनित्यत्वनियमान्नित्यं ज्ञानादिकमपि तत्र न सिद्धयेत् ।

इसी कारण आचार्यचरणों ने भी तत्वार्थदीपनिबंध में "सर्व (ब्रह्माण्डात्मक) एवं अतिरिक्त (अंतर्यामीस्वरूप) इन दो स्वरूपों से नारायण प्रकट हुए हैं। नर में नारायण का आवेश मात्र है। तप से अतिरिक्त भक्ति-मुक्ति आदि दान करने का कार्य तो पूर्णकृष्ण के द्वारा ही होता है, अन्यथा नहीं (भा.प्र. ४/३३)" यह कहा है।

इस श्लोक की व्याख्या में तो यह कहा गया है कि, समस्त कार्यों को पूर्ण करने की सामर्थ्य होने के कारण भगवान-नारायण 'सर्वरूप' हैं और पुष्टि-कार्य करने के लिए उनका अलग रूप से अवतार हुआ है। अब यदि किसी को यह शंका हो कि, नर में भी नारायण का स्वरूप मानना चाहिए, तो आचार्यचरण "स्वावेश" शब्द से इस शंका का परिहार कर रहे हैं। आपश्री यह कह रहे हैं कि, नर में तो नारायण का आवेशमात्र है। नर ने तो नारायण के जैसे अंश को धारण किया है, वह नारायण का अवतार नहीं है, यह अर्थ है। "ताविमौ" यह मूलवाक्य "कृष्णस्तु...." वाक्य से विरुद्ध जाता है अतः इस श्लोक में 'तपोतिरिक्त' शब्द से आचार्यचरणों ने समाधान किया है। यहाँ यह समझना चाहिए कि दो प्रकार के मार्गों का स्थापन करने के लिए (पुष्टि एवं मर्यादा) अवतीर्ण होने पर भी भगवान के पूर्ण-प्राकट्य के बिना उनका कार्य संपूर्ण न होगा अतः पूर्ण - कृष्ण में यह दोनों अंश प्रविष्ट हुए, यह मूलार्थ है। और, 'कलाभ्यां.....हरे' इस श्लोक में प्रयुक्त हुए 'बभौ' शब्द का अर्थ यह है कि - भगवान के इन दोनों कला - अंशों के चरणकमल, अनुभाव एवं लीलाओं से हरि से संबंधित हुई पृथ्वी सुशोभित होने लगी। अन्यथा तो फिर "कृष्णस्तु भगवान स्वयं" इस वाक्य से विरोध हो जायेगा। और देह के पाञ्चभौतिक पदार्थों से उत्पन्न होने का नियम तो प्राकृत विषयों में है; भगवान जो अप्राकृत हैं उनका स्वरूप तो वेद के अनुसार ही समझा जा सकता है। अन्यथा तो फिर 'ज्ञान', 'इच्छा' इत्यादि वस्तुएँ तो इस संसार में अनित्य हैं अर्थात् नश्वर हैं अतः भगवान जो अप्राकृत और नित्य हैं, उनमें ज्ञान और इच्छा करने जैसे धर्म भी कैसे माने जा सकेंगे ?

ननु ज्ञानादिभिरेव जगत्कर्तृत्वोपपत्तौ प्रत्यक्षबाधाच्च किमित्यानन्दमयो नित्यो देहोङ्गीकार्य इति चेत्, न, कर्तृत्वनिर्वाहार्थमेव व्याप्तिबलेन नित्यज्ञानवत्तथाविधदेहस्वीकारात् । नित्यापरिच्छिन्नतनोः प्राकट्यस्यैव जन्मत्वेन जन्यत्वाभावात् । 'आनन्दाद्धयेव' 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'स यथा सैन्धवघनः' 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' 'आनन्दमयोभ्यासात्' 'आह च तन्मात्रम्' 'केवलानुभवानन्दस्वरूपः' 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' 'बहूनि सन्ति नामानि' 'त्रय्या चोपनिषद्भिश्च' 'न चान्तर्न बहिर्यस्ये'त्यादिश्रुतिन्यायपुराणवाक्यसहस्रैः प्रमाणप्रकरणीयलीलाभिश्च पूर्ण एव देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणात्मरूप एवानन्दरूपो ज्ञानरूपः पुरुषोत्तमो न त्वात्ममात्रमिति निर्बाधमबोधि । 'नित्यं विज्ञान'मिति 'पूर्णमेवावशिष्यते' 'भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञ' इत्यादिना नित्यत्वं, 'एष ह्येवानन्दयाती'श्रुतेरानन्दजनकत्वम् । 'कृष्णः प्रीतमनाः' 'वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीतिः' 'जातहर्षः' 'मुदितवक्त्र उपयाती'त्यादिनानन्दवत्त्वं चेति नानुपपन्नं किञ्चित् ।

परंतु यहाँ एक शंका यह हो सकती है कि, इस जगत् की उत्पत्ति भगवान ने ज्ञान, इच्छा एवं प्रयत्नों से ही की है, जो प्राकृतदेह में ही संभव होते हैं फिर भगवान की देह को आनंदमय एवं नित्य कैसे माना जा सकता है ? नहीं, ऐसा नहीं है। यहाँ यह समझना चाहिए कि जहाँ-जहाँ कर्तृत्व है (कर्तृत्व अर्थात् किसी कार्य को करना) वहाँ-वहाँ देह तो स्वीकार करनी ही पड़ेगी क्योंकि देह की सत्ता स्वीकारे बिना कर्तृत्व पूर्ण होना संभव नहीं है। अब यदि भगवान की देह को मात्र प्राकृत मान लिया जाय तो प्रश्न यह उपस्थित होगा कि कोई प्राकृतदेहधारी जगत् की उत्पत्ति कैसे कर सकता है ? और यदि यह स्वीकारें कि भगवान ने ही जगत् की उत्पत्ति की है, तो फिर भगवान की कोई न कोई देह अवश्य है, यह भी स्वीकारना पड़ेगा। यहाँ यह समझें कि भगवान की वह देह आनंदमय एवं नित्य है, प्राकृत या अनित्य (नश्वर) नहीं है। इसी कारण जिसकी देह ऐसी नित्य एवं अपरिच्छिन्न है, उसका तो प्राकट्य ही हो सकता है और कहने मात्र के लिए लोक में उसे 'जन्म' का नाम दिया जाता है, वास्तव में ऐसे आनंदमय एवं नित्य भगवान का प्राकृत रीति से जन्म नहीं है। इसी बात का स्पष्टीकरण निम्नलिखित श्रुति-पुराणों के अनेक वाक्यों द्वारा दिया गया है। "आनंद (ब्रह्म) से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं (तै.उ.३/६/१)" "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म", "जिस प्रकार नमक का टुकड़ा अंदर-बाहर सभी प्रकार से संपूर्ण रसघन ही है, वैसे यह भगवान भी संपूर्णरूप से आनंदमय हैं (बृह.उप.४/५/१३)" "आनंद

ब्रह्मणो रूपम्" "श्रुति में बारंबार ब्रह्म के लिए 'आनंद' शब्द का प्रयोग हुआ होने के कारण 'आनंदमय' शब्द परब्रह्म परमेश्वर का वाचक है (ब्रह्मसूत्र १/१/१२)", "श्रुति उस परमात्मा को केवल सत्य, ज्ञान एवं अनंत ही बताती है, गुणमय नहीं (ब्रह्मसूत्र ३/२/१६)" "मैं समझ गया कि आप ही साक्षात् पुरुषोत्तम हैं, आपका स्वरूप है - केवल अनुभव और केवल आनंद (श्री.भा. १०/३/१३)", "भगवान का स्वरूप निर्दोष एवं पूर्ण है। भगवान स्वतंत्र हैं, जड़-शरीर एवं उसके गुणधर्मों से रहित हैं। आपके श्रीहस्त, चरण, श्रीमुख, उदर आदि अंग आनंदमय अथवा आनंद-स्वरूप हैं। आप सर्वत्र जड़, जीव तथा अंतर्यामी के त्रिविध-भेद से रहित हैं (शा.प्र. / ४४)", "तुम्हारे पुत्र के गुण और कर्मों के अनुरूप और भी बहुत से नाम हैं तथा बहुत से रूप हैं (श्री.भा. १०/८/१५; १०/२६/१८)","सारे वेद, उपनिषद्, सांख्य, योग एवं भक्तजन जिनके माहात्म्य का गीत गाते-गाते अघाते नहीं - उन्हीं भगवान को यशोदाजी अपना पुत्र मानती थीं (श्री.भा. १०/८/४५)", "भगवान में न बाहर है न भीतर, न आदि है न अंत, वे जगत के पहले भी थे और बाद में भी रहेंगे, वे समस्त इंद्रियों से परे और अव्यक्त हैं (श्री.भा.१०/९/१३)" इत्यादि हजारों श्रुति-न्यायपुराणवाक्यों एवं प्रमाण-प्रकरण में बताई गई लीलाओं के अनुसार भगवान-श्रीकृष्ण पूर्ण ही हैं, देहइंद्रिय - अन्तःकरण-आत्मरूप ही हैं, आनंदरूप-ज्ञानरूप पुरुषोत्तम ही हैं। केवल आत्मा मात्र नहीं- यह निर्बाधरूप से समझ लो। और, "नित्यं विज्ञानम्" "वह परब्रह्म पूर्ण हैं, यह जगत भी पूर्ण है क्योंकि पूर्ण-परब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने पर भी पूर्ण ही बचा रहता है (बृह.उप.५/१/१)", "हे प्रभु! जिस समय ब्रह्मा की संपूर्ण आयु समाप्त हो जाती है, काल की शक्ति से सारे लोक नष्ट हो जाते हैं, पंचमहाभूत अहंकार में, अहंकार महद् तत्व में और महद् तत्व प्रकृति में लीन हो जाता है - उस समय एक मात्र आप ही शेष रह जाते हैं - (श्री.भा. १०/३/२५)" इत्यादि वाक्यों में भगवान की नित्यता (शाश्वत् रहना) बताई गई है।" "एष हि एव आनन्दयाति" इस श्रुति द्वारा भगवान आनंद देने वाले हैं, यह बताया गया है और, "हे परीक्षित्! इस प्रकार सुंदर वृंदावन को देखकर भगवान श्रीकृष्ण बहुत ही आनंदित हुए (श्री.भा. १०/१५/९)", "हे परीक्षित्! वृंदावन का हरा-भरा वन, अत्यंत मनोहर गोवर्धन पर्वत एवं यमुना नदी को देखकर भगवान श्रीकृष्ण एवं बलरामजी के हृदय में उत्तम प्रीति का उदय हुआ (श्री.भा. १०/११/३६)", "जब हमारे श्यामसुंदर बाँसुरी बजाते हैं तो आनंद में भरकर उस ध्वनि से समस्त विश्व को मोहित कर देते हैं (श्री.भा. १०/३५/१२)" "देखो सखी! हम लोगों का असह्य विरह-ताप मिटाने के लिए उदित होने वाले चंद्रमा की तरह श्यामसुंदर हमारे समीप चले आ रहे हैं (श्री.भा. १०/३५/२५)" इत्यादि वाक्यों द्वारा श्रीकृष्ण आनंदशाली भी हैं अतः इसमें कुछ भी अप्रामाणिक नहीं है।

तथाप्यानन्दत्वदेहत्वयोर्विरोध इति चेत्, न, स्वस्वाधिकरणे प्रमाणैरेकत्रोभयोः सिद्ध्यसिद्धिभ्यां च विरोधाभावात् । तथाप्यानन्दस्य धर्मिरूपत्वे कथं धर्मरूपत्वमिति चेत् 'स यथा सैन्धवघनः' 'यः सर्वज्ञः' इतिश्रुतिभ्यां ज्ञानरूपत्वज्ञानाधारत्व-वदानन्दरूपत्वतदाधारत्वयोरविरोधात् । श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैः सर्वमेतद्यथा तथा विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितमिति नात्र प्रपञ्च्यते ॥ ८ ॥

परंतु फिर भी यदि कोई यह शंका करे कि, आनंदता और देह में परस्पर तो विरोध है क्योंकि देह तो साकार है और विनाशशाली है। अतः जो साकार एवं विनाशी है, उसमें आनंद कैसे रह सकता है ? एक और आप श्रीकृष्ण को जन्म लेकर देहधारण करना कह रहे हैं और दूसरी ओर आप उन्हें आनंदमय कह रहे हैं, तो यह कैसे संभव है ? नहीं, ऐसा नहीं है। क्योंकि श्रुतियों में अपने-अपने अधिकरण के अंतर्गत प्रमाणों से एक ही स्थल पर 'देह' एवं 'आनंद' दोनों को सिद्धि एवं असिद्धि के द्वारा इस विरोध का परिहार कर दिया गया है। तथापि यदि किसी को ऐसी शंका हो कि आनंद तो प्रभु का आकार होने से स्वयं धर्मि-स्वरूप है, फिर इसें धर्म-स्वरूप कैसे कहा जा रहा है ? (धर्म जहाँ रहता हो उसे धर्मि कहते हैं। जैसे सागर में रहा हुआ जल सागर का धर्म है एवं स्वयं सागर धर्मि है। सूर्य की दाहकता उसका धर्म है और स्वयं सूर्य धर्मि है) यदि ऐसी शंका हो तो जानना चाहिए कि "जैसे नमक का डला अंदर-बाहर दोनों तरफ से रसघन है, वैसे परमात्मा भी अंदर-बाहर दोनों तरफ से ज्ञानघन है (बृहदा. ४/५/१३)" "भगवान सर्वज्ञ हैं एवं सभी को जाननेवाले हैं (मुण्डक/१/१/९)" इत्यादि श्रुतियों में जैसे भगवान को ज्ञानरूप एवं ज्ञान का आधार दोनों बताया गया है, वैसे यहाँ भगवान आनंद-स्वरूप भी हैं एवं आनंद का आधार भी, यह समझ लें। हमारे प्रभुचरणों ने यह सभी कुछ विद्वन्मंडन ग्रंथ में यत्र-तत्र विस्तार से समझाया है अतः हम यहाँ विस्तार नहीं कर रहे हैं ॥८॥

ननु विवेकधैर्याभ्यां स्थित्वा भक्तिकरणे भगवानपि वशे भवतीति किमिति दैन्येनाश्रयः प्रार्थ्यते इत्याशङ्क्य सर्वमनोरथपूरकत्वात्सर्वफलार्थं काम्यत्वात्कामरूपत्वं वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते विवेकेति ।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

पूर्वं प्रभुस्वरूपविचारेणाश्रयमुक्त्वा जीवस्वरूपविचारेणाधुनोच्यते । भगवान् स्वेच्छया सर्वं करिष्यति न प्रार्थनीय

इतिनिश्चयो विवेकः । भक्तिविरोधिदुःखनिवृत्युपायाकरणेन त्रिदुःखसहनं धैर्यम् । भक्तिः साधनरूपापि । आदिपदा-त्पुण्यम् । विशेषत इति । तत्साधनैरपि रहितस्य । यद्वा, यत्किञ्चित्सत्त्वेपि विशेषतो नास्तीति न फलसिद्धिः । किञ्च, दीनस्य दरिद्रस्यातः सर्वसाधनरहितस्य । पापे आसक्तस्येति विपरीतसाधनवतो न तु प्रामादिकपापस्य । कृष्ण एवेति पूर्ववत् ।

अब यहाँ यह शंका होती है कि, केवल विवेक-धैर्य पर अवलंबित रहते हुए भक्ति करने से भी भगवान वश में हो जाते हैं, तो फिर दैन्यपूर्वक आश्रय के लिए प्रार्थना क्यों की जा रही है ? तो अब आचार्यचरण अग्रिम श्लोक द्वारा भगवान-श्रीकृष्ण को काम-स्वरूप कह रहे हैं क्योंकि वे समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाले हैं एवं समस्त फल की सिद्धि के लिए उनकी ही कामना की जाती है। अतः ऐसे काम-स्वरूप भगवान श्रीकृष्ण को वे विवेक इत्यादि शब्दों से प्रार्थना कर रहे हैं।

इसके पूर्व आचार्यचरणों ने प्रभु-स्वरूप का विचार करके 'आश्रय' का उपदेश दिया है और अब वे जीव-स्वरूप का विचार करके 'आश्रय' का उपदेश दे रहे हैं। भगवान सभी कुछ उनकी इच्छा से ही करेंगे, प्रार्थना द्वारा नहीं - मन में इस प्रकार का निश्चय करना ही 'विवेक' है। भगवद्-भक्ति से भिन्न अन्य दूसरे लौकिक दुःखों की निवृत्ति का उपाय न करना 'धैर्य' कहलाता है।

यहाँ मूल श्लोक में आए भक्ति पद से साधनरूपा भक्ति का अर्थ भी ले लेना चाहिए अर्थात् जीव में न फलरूपा भक्ति है और न ही साधनरूपा भक्ति। **'आदि'** पद से पुण्य का अर्थ लेना चाहिए अर्थात् जीव में पाप ही हैं, पुण्य नहीं। **विशेषतः** का अर्थ है, जीव विशेषरूप से इन समस्त साधनों से रहित है। अथवा ऐसा अर्थ कर लें कि जीव में थोड़े-बहुत साधन ही हैं, विशेष नहीं अतः उसे फलसिद्धि नहीं होती। और, दीनस्य का अर्थ है - जीव दरिद्र है और इसी कारण समस्त साधनों से रहित है। पापासक्तस्य का अर्थ है - जीव पाप में आसक्त है और पुष्टिभक्तिमार्ग के सिद्धांतों के विपरीत साधनों में निष्ठा रखने वाला है। यहाँ केवल प्रमाद या आलस्य या अनिभज्ञता के कारण पाप करने वालों को आचार्यचरण 'पापासक्त' नहीं कह रहे हैं बल्कि उन्हें पापासक्त कह रहे हैं जो पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों से विपरीत आचरण कर रहे हैं। अतः आपश्री आज्ञा कर रहे हैं कि, ऐसे जीवों की गति कृष्ण ही हैं।

अन्यत्र यत्किञ्चिद्वैगुण्येपि वैफल्याद्देवताकोपादनिष्टजननादल्पदत्वाच्चेदृशस्य विवेकादिकं दत्वा स्वतो वा सर्वफलदायकः परमकृपालुः कृष्ण एवेति स एवाश्रयणीय इति हृदयम् । नन्वस्मच्छब्दस्योच्चारयितृवाचकत्वादत्राचार्यचरणानां तथात्वाद्विशेषणान्यसङ्गतानीति चेत्, [1]न, अस्यान्यार्थत्वेनान्याधिकारेण कथनाद्भगवता वेदेषु 'प्रयतपाणिः शरणं प्रपद्ये' 'भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम' 'स्वस्ति मेस्तु वनस्पते' इत्यादौ यजमानाधिकारेण कथन इवादोषत्वादिति सर्वमनवद्यम् ॥९॥

अन्यत्र दूसरे मार्गों में तो जीव में थोड़ी-बहुत भी विगुणता हो जाय तो समस्त कर्म विफल हो जाते हैं, देवता कोपायमान हो जाते हैं एवं अनिष्ट हो जाता है और देवता उसे अल्प फल ही देते हैं अतः ऐसे जीव को भगवान या तो विवेक-धैर्य-भक्ति इत्यादि देकर अपना आश्रय प्रदान करते हैं अथवा तो परमकृपालु कृष्ण ही स्वयं समस्त फलदाता बन जाते हैं, यह बात हृदयंगम करनी चाहिए।

अब यहाँ एक शंका होती है कि, यदि ऐसा मान लिया जाय कि यह सभी कुछ आचार्यचरण भगवान से प्रार्थना कर रहे हैं तो फिर आचार्यचरण विवेकधैर्यभक्ति से रहित हैं, पापासक्त हैं और दीन हैं - यह सिद्ध हो जायेगा और तब तो इस श्लोक में कही गई समस्त बातें असंगत सिद्ध हो रही हैं ? (श्लोक को ध्यान से पढ़ेंगे तो ज्ञात होगा कि इसमें 'मम' शब्द का प्रयोग है। 'मम' शब्द का अर्थ होता है 'मेरे'। अब यदि इस ग्रंथ को यह मान लें कि आचार्यचरण इस ग्रंथ के द्वारा प्रभु से प्रार्थना कर रहे हैं तो फिर यह सिद्ध हो जायेगा कि 'विवेकधैर्य भक्ति आदि से रहित', 'पापासक्त', 'दीन' इत्यादि सभी कुछ आचार्यचरण स्वयं अपने लिए कह रहे हैं और इस परिस्थिति में तो विरोधाभास पैदा हो रहा है क्योंकि आचार्यचरणों का स्वरूप तो ऐसा है नहीं। इसका समाधान टीकाकार आगे दे रहे हैं।) नहीं, ऐसा नहीं है। इस श्लोक में आचार्यचरण दूसरे जीवों की ओर से प्रार्थना कर रहे हैं, दूसरे जीवों के अधिकार के अनुसार प्रार्थना कर रहे हैं, यह समझना चाहिए। अन्यथा तो भगवान ने वेदों में प्रयतपाणिः(ऋग्वेद ५/५१/२) भूयिष्ठान्ते (तैति.आ.१/८/८) स्वस्ति (आप.१/१३/७०; पार.गृह्यसूत्र ३/१५/२१) इत्यादि वाक्य कहे हैं, वे यजमान की ओर से कहे हैं, स्वयं उन्होंने नहीं। इसी प्रकार से यहाँ भी आचार्यचरण उपयुक्त समस्त बातें जीवों की ओर से कह रहे हैं, यह समझ लेना चाहिए अतः यह सभी कुछ उचित ही है ॥९॥

ननु सर्वथा निःसाधनस्य शरणागतावपि कथं समीहितसिद्धिः, भगवाँस्तु तत्तत्कृतिसापेक्षस्तस्मै तस्मै फलं ददाति, प्रत्युत भगवदेकशरणस्य तदेकमनसो देवान्तरानादरेण [2]तत्कृता अपि विघ्नाः स्युः 'श्रेयांसि बहुविघ्नानी'तिवाक्यादित्याशङ्क्य मोक्षप्राप्त्यत्वान्मोक्षरूपत्वं विज्ञापनं च वदन्तः समादधते सर्वसामर्थ्यसहित इति ।

---

१. 'नेति क्वाचिन्नास्ति । २ तत्तत्कृता इत्यपि पाठः ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वं पूर्णं सामर्थ्यं सर्वेषां सर्वेषु वा, तत्सहित इतीच्छया स्वतोपि सर्वं करोति । यदि मर्यादां रक्षेत्तदा भगवत्त्वेन ज्ञानैश्वर्यधर्मादीनां सिद्धत्वात्तत्तद्दत्वापि तत्तत्फलं दद्यात् । कदाचित्पूर्वस्थितमपि स्वस्मिन्नयेत्, सर्वत्र स्वस्यैव सामर्थ्यात् । 'यद्यद्विभूतिमत्' 'मत्तः सर्वं प्रवर्तत' इत्यादिवाक्यैः सर्वं सामर्थ्यं येषां सुदर्शनादीनां तैः सहित इति वा, तैरपि भक्तानिष्टनिवारणात्, 'अव्याहतानि कृष्णस्ये'तिवाक्यात् ।

अब यहाँ यह शंका होती है कि यदि सर्वथा निःसाधन जीव भगवान के शरणागत हो भी जाय, तब भी उसे फलसिद्धि कैसे होगी ? क्योंकि भगवान तो उस जीव से कुछ साधन करने की अपेक्षा तो रखते ही हैं और उन साधनों के अनुसार ही उसे फल भी देते हैं। और तो और, उल्टे केवल भगवान-श्रीकृष्ण के शरणागत होने से एवं केवल उनमें मन लगाने से दूसरे देवताओं का अनादर होगा और वे जीव के कार्यों में विघ्न और करने लग जायेंगे। कहा भी है कि "भले काम में सौ विघ्न आते हैं," अतः आचार्यचरण सर्वसामर्थ्यसहितः इत्यादि शब्दों से इस शंका का समाधान कर रहे हैं, और कह रहे हैं कि भगवान श्रीकृष्ण से ही मोक्ष प्राप्त होता है अतः वे ही मोक्ष-स्वरूप हैं।

भगवान में सभी के समस्त कार्यों का पूर्ण करने की सामर्थ्य है अथवा अन्य समस्त देवताओं में पूर्ण सामर्थ्यवान भगवान श्रीकृष्ण ही हैं अतः केवल इच्छा करने मात्र से वे स्वतः सभी कुछ कर देते हैं अतः आचार्यचरण उन्हें 'सर्वसामर्थ्यसहितः' कह रहे हैं। और यदि प्रभु मर्यादामार्गीय ढंग से फल देना चाहें, तो प्रभु वैराग्य-ज्ञान इत्यादि षड्गुण ऐश्वर्य से संपन्न हैं ही अतः जीव को वैराग्य, ज्ञान इत्यादि फल देकर भी उसके कार्य पूर्ण करेंगे।

और यदि जीव कदाचित् सर्वथा निःसाधन हो, तो भी उसे अपने निकट ले लेते हैं क्योंकि सर्वत्र सभी कुछ करने में केवल उनकी ही सामर्थ्य है। भगवद्-गीता के अनुसार "हे अर्जुन ! संसार में जो भी ऐश्वर्ययुक्त, कांतियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उस को तू मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुई जान (१०/४१)", "मैं प्राकृत-जगत् और वैकुंठ दोनों का कारण हूँ; मुझ से ही सबकुछ उत्पन्न होता है और चेष्टायुक्त होता है। इसे समझकर बुद्धिमान भक्तजन श्रद्धा और भक्ति से निरंतर मेरा भजन करते हैं (१०/८)" इत्यादि वाक्यों द्वारा सुदर्शन-चक्र आदि के सहित जो श्रीकृष्ण सर्वसामर्थ्य सहित हैं, उन्हें आचार्यचरण 'सर्वसामर्थ्यसहितः' कह रहे हैं क्योंकि "अव्याहतानि कृष्णस्य" इस वाक्य के अनुसार भगवान-श्रीकृष्ण सुदर्शन-चक्र से भी भक्तों के अनिष्ट का निवारण करते हैं।

ननु सामर्थ्ये सत्यपि कदाचिदाश्रितं न रक्षेत्, मर्यादयैव वा यदि फलं दद्यात्तदा किमाश्रयेणेत्यत आहुः- सर्वत्रैव देशेषु वर्णेषु आश्रमेषु कर्मादिषु वाखिलार्थान्करोतीत्यखिलार्थकृत् ताच्छील्यादौ क्विप् 'सकृदेव' 'ये दारागारपुत्राप्ते'त्यादिवाक्यैः सकृदपि शरणागतं भगवान् रक्षति किं पुनर्भजतः । मर्यादयापि फलदानेन्यनैरपेक्ष्येण भजतो भगवान्मर्यादानपेक्षः फलं प्रयच्छति, विहितत्वादिना भजतो मर्यादासापेक्षो 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति तन्मर्यादाया एव तादृशीत्वान्न क्षतिः । अत एव 'व्रजस्योवाह वै हर्षम्' 'चिक्रीडे जनयन्मुदम्' 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः' 'मुकुन्दो मुक्तिं ददाती'त्यादि 'तथा न ते माधव' मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्' 'वसति मनसि यस्ये'त्यादिवाक्यैः कालयमादयोपि चेद्भगवदीयान्निवर्तन्ते कुतस्तरां पुनरन्ये विघ्नकर्तार इति न किञ्चिदूषणम् । पूर्वोक्तं शरणे स्थितं सम्यगनायासेनोद्धरति, सकृदागतं तु यथाकथञ्चित् । ईदृशं श्रीकृष्णमहमाश्रयं विज्ञापयामि । 'कृष्णे'तिसम्बोधनपाठे शरणस्थसमुद्धारं विज्ञापयामीत्यन्वयः । अनेनेश्वरे दीनभावः कर्तव्य इति सूचितम्, दीनभावेन कृतस्यैवेश्वरतोषहेतुत्वात् ॥१०॥

अब यदि ये प्रश्न होता हो कि, भले भगवान में इस प्रकार की सामर्थ्य हो भी, फिर भी कदाचित् वे आश्रितों की रक्षा न करें तब क्या करना ? या फिर वे मर्यादा-भक्ति से ही फल देना चाहें तो फिर उनका आश्रय करने से क्या लाभ ? यदि ऐसी शंका होती हो तो आचार्यचरण **सर्वत्रैव** इत्यादि शब्दों से स्पष्टीकरण कर रहे हैं। सभी स्थानों पर समस्त वर्णों में, सभी आश्रमों में अथवा समस्त कर्मों को भगवान पूर्ण करते हैं अतः आचार्यचरण उन्हें सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् कह रहे हैं। भगवान के ऐसे स्वभाव के कारण आचार्यचरणों ने इस शब्द में 'क्विप्' प्रत्यय का प्रयोग किया है। "केवल एक ही बार जो मेरे शरणागत हो जाता है और मुझसे "मैं तुम्हारा हूँ" इस प्रकार से मुझे याचना करता है, मैं उसे सभी ओर से अभयदान दे देता हूँ, यह मेरा व्रत है" "जो भक्त स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक सभी कुछ छोड़कर मेरी शरण में आ गये हैं, मैं उन्हें कैसे छोड़ सकता हूँ (श्री.भा. ९/४/६५)" इत्यादि वाक्यों द्वारा एक बार भी जो भगवान के शरणागत हो जाता है उसकी वे रक्षा करते ही हैं, फिर उनका भजन करने वालों का तो कहना ही क्या ? मर्यादा से भी भगवान जब फल दान करते हैं तो, जो जीव भगवद्-प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य किसी भी फल की अपेक्षा न रखते हुए भगवान का भजन कर रहा है, उसे मर्यादा की अपेक्षा न रखनेवाले भगवान फलदान करते

हैं। विहित और विधिपूर्वक भजन करने वालों को "जो मेरे जिस प्रकार शरणागत होता है, मैं उसे उस प्रकार से प्राप्त होता हूँ (भ.गी. ४/११)" इस वाक्य के अनुसार भगवान मर्यादा की अपेक्षा रखते हुए फल देते हैं अतः यहाँ इस अर्थ में किसी भी प्रकार की क्षति नहीं है। इसी कारण "इस प्रकार सर्वशक्तिमान भगवान अपनी बाल-लीलाओं से व्रजवासियों को आनंदित करते और यह दिखलाते कि मैं अपने सेवकों के वश में हूँ (श्री.भा. १०/११/९)" "भगवान श्रीकृष्ण ग्वालबालों के साथ खेलने व्रज में निकल पड़ते एवं व्रज की गोपियों को निहाल करते हुए तरह-तरह के खेल खेलते (श्री.भा.१०/८/२७)", "जैसे श्रुतियाँ भगवान का वर्णन करते-करते कृतकृत्य हो जाती हैं, वैसे ही गोपियाँ भी पूर्ण काम हो गईं (श्री.भा. १०/३२/१३)", "भगवान अपने भक्तों को मुक्ति भी दे देते हैं परंतु भक्तियोग सहज में नहीं देते (श्री.भा.५/६/१८)", "हे भगवान ! जिन्होंने आपसे सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे ज्ञानियों की भाँति अपने साधन मार्ग से कभी गिरते नहीं हैं। वे बड़े-बड़े विघ्न डालनेवालों के सिर पर पैर रखकर निर्भय विचरण करते हैं (श्री.भा. १०/२/३३)", "हे प्रभु ! यह जीव मृत्युग्रस्त है। यह संपूर्ण लोक में भटकता फिरा परंतु कहीं शरण न मिली। अब आपके चरणारविंदों के शरणागत होकर स्वस्थ होकर सुख की नींद सो रहा है (श्री.भा.१०/३/२७)" "यह परमात्मा जिसके हृदय में वास करता है (वि.पु. ३/७/३४) इत्यादि वाक्यों द्वारा यह सिद्ध होता है कि काल, यमराज इत्यादि भी भगवदीयों के पास नहीं फटकते, फिर दूसरे विघ्न करने वालों की तो बात ही क्या कहनी ? अतः यहाँ इस अर्थ में कुछ भी दूषण नहीं है। अतः ज्ञात होता है कि इस ग्रंथ में कही गई समस्त देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार पापसक्त एवं विवेक-धैर्य-भक्ति आदि से रहित भक्त का तो भगवान भलीभाँति और अनायास ही उद्धार कर देते हैं और इनमें से किसी एक उद्देश्य से शरणागत हुए भक्त का जिस-किसी प्रकार से, यह जान लेना चाहिए। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि - ऐसे कृष्ण के आश्रय के लिए मैं प्रार्थना कर रहा हूँ। जहाँ 'कृष्णं' के स्थान पर 'कृष्ण' इस प्रकार संबोधन पाठ माना गया है, वहाँ - हे कृष्ण ! शरणागतों का संपूर्णरूप से उद्धार करने की मैं प्रार्थना कर रहा हूँ - इस प्रकार से आचार्यचरण प्रार्थना कर रहे हैं, ऐसा अर्थ कर लेना चाहिए। इससे यह सूचित होता है कि ईश्वर में सदैव दीनभाव रखना चाहिए क्योंकि दीनभाव से ही भक्ति करने पर भगवान संतुष्ट होते हैं ॥१०॥

'दश वै पशोः प्राणा आत्मैकादश' इतिश्रुतेः प्राणानामिव सर्वसाधकत्वं ज्ञापयितुं दशभिः श्लोकैः स्तोत्रं निरूप्य फलस्यात्मवदक्षयत्वं ज्ञापयितुमेकादशेनात्मरूपेणैतत्स्तोत्रपाठफलमाहुः-

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्ण आ समन्तात् श्रीयते सेव्यतेनेन, कृष्ण आश्रयो येन यस्मादिति वेति कृष्णाश्रयम्, इदमेव कृष्णाश्रयं यथार्थनिरूपकत्वान्नान्यत्। कृष्णसन्निधौ तन्निमित्तं वा, इदं यः पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयो भवेत्। अत्र 'हेतुहेतुमतोर्लिङ्' इदमिति नान्यपाठेनेदं फलं, स्वरूपाज्ञानात्। नन्वल्पायासादेतत्स्तोत्रपाठमात्रेण कथमेतत्फलं स्यादित्याशङ्क्याहुः-श्रीवल्लभ इति । इदमब्रवीत् अवदत् । स्वस्य भगवत्स्वरूपाभिज्ञत्वाद्भगवता सर्वोद्धारार्थं प्रकटितत्वादुद्धारकस्वरूपत्वाच्च नात्राप्रामाण्यशङ्का, नहि भगवान् सत्यवाक् [१]स्ववाचमन्यथाकरोति । यत्र प्रसङ्गान्नारदकृतं 'तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मने'ति सदनुग्रहो भगवान् स्वकृतमिव मन्यमानः पुरुषोत्तमः स्वयं तत्र गत्वा नलकूबरमणीग्रीवोद्धारं कृतवान्, तत्र स्वयं सर्वार्थं प्रकटितस्य स्वस्वरूपस्य कृतौ वचने वा किं किं न करिष्यतीति तत्कृपायां सर्वं भवतीति सर्वमनवद्यम् ॥११॥

अब इसके पश्चात् "पशु के दस प्रकार के प्राण होते हैं एवं आत्मा ग्यारहवीं है" इस श्रुति के अनुसार इस ग्रंथ में पहले दस श्लोक दस प्रकार के प्राणों के समान समस्त पदार्थों के साधक हैं, यह बताने के लिए इन दस श्लोकों के द्वारा निरूपण करके अब - इस ग्रंथ का फल आत्मा की भाँति अक्षय है - यह बताने के लिए आचार्यचरण आत्मारूप ग्यारहवें श्लोक द्वारा इस स्तोत्रपाठ का फल कह रहे हैं।

जिस स्तोत्र के पाठ द्वारा श्रीकृष्ण की भलीभाँति रूप से सेवा की जाय, या जिस स्तोत्र का पाठ करने से कृष्ण हमारे आश्रय हो जाएँ या जिससे कृष्ण हमारे आश्रय बन जाएँ, वह 'कृष्णाश्रय-ग्रंथ' है। इसी कृष्णाश्रय में आश्रय का यथार्थ-स्वरूप निरूपित किया गया है अतः कोई अन्य स्तोत्र कृष्ण का आश्रय सिद्ध नहीं करा सकता। कृष्णसन्निधौ पद का अर्थ यह है कि भगवान-श्रीकृष्ण की सन्निधि में अथवा उनके निमित्त जो इस ग्रंथ का पाठ करेगा, कृष्ण उसके आश्रित हो जायेंगे। यहाँ 'पठेत्' एवं 'आश्रय' पद में परस्पर कार्यकारणभाव है। अर्थात् इस ग्रंथ को पढ़ना कारण है और उससे आश्रय सिद्ध होने का कार्य होगा। इदम् शब्द से यह ज्ञात होता है कि इस कृष्णाश्रयग्रंथ के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रंथ का पाठ करने से यह फल प्राप्त नहीं होगा क्योंकि इस ग्रंथ में बताए गये भगवद्-स्वरूप का उसे तब ज्ञान नहीं होगा। अब यहाँ यह संदेह होता है कि केवल थोड़ा ही प्रयत्न करने पर अर्थात् केवल इस ग्रंथ का मात्र पाठ कर लेने से ही कैसे आश्रयरूपी फल प्राप्त होगा ? तो इसका समाधान करने के लिए आचार्यचरणों ने श्रीवल्लभ इत्यादि शब्दों से कहा है। इसका अर्थ यह है कि - यह उपदेश साक्षात् श्रीवल्लभ ने दिया है अतः इसमें किसी

१ श्रुतिपदं क्वचिन्नास्ति । २ स्ववच इति पाठः क्वचित् ।

भी प्रकार का संदेह नहीं करना चाहिए । श्रीवल्लभ भगवत्-स्वरूप को जानते हैं, उन्हें समस्त दैवी-सृष्टि का उद्धार करने के लिए स्वयं भगवान ने प्रकट किया है एवं वे उद्धारक-स्वरूप भी हैं अतः उनके कहे में अप्रामाणिकता की शंका नहीं करनी चाहिए । क्योंकि सत्यवाची भगवान अपनी वाणी के विरुद्ध तो नहीं करेंगे । जहाँ प्रसंगवश नारदजी द्वारा कही गई बात को सार्थक करने के लिए भगवान ने "देवर्षि नारद मेरे अत्यंत प्यारे हैं अतः उन्होंने जैसा कहा है उसे मैं ठीक वैसे ही पूरा करूँगा (श्री.भा. १०/१०/२५)" इस वाक्यानुसार नारदजी के कहे को अपना कहा मानकर भगवान-पुरुषोत्तम ने स्वयं वृक्षों के बीच जाकर नलकूबर एवं मणिग्रीव का उद्धार किया, वहाँ स्वयं समस्त अर्थों को पूर्ण करने के लिए अपने ही स्वरूप से प्रकट हुए श्रीवल्लभ की किसी कृति या वचन को पूर्ण करने के लिए भगवान क्या-क्या नहीं कर देंगे ? अतः श्रीवल्लभ की कृपा से सभी कुछ सिद्ध हो जायेगा, सो यहाँ कही गई समस्त बातें निर्दुष्ट हैं ॥११॥

श्रीमद्विट्ठलनाथपादकमले संवन्द्य भक्त्या मुदा
कृष्णैकाग्रधियोथ तातचरणान् तादृक्पितृव्यानपि ।
श्रीकृष्णाश्रयसंज्ञके स्तुतिवरे कल्याणरायाभिधः
श्रीगोविन्दसुतः प्रकाशमकरोद्भूयान्मुदे सद्धियाम् ॥१।
इति श्रीविट्ठलनाथचरणकमलैकतानश्रीकल्याणरायविरचितः
कृष्णाश्रयस्तोत्रप्रकाशः समाप्तः ।

श्रीमद्विट्ठलनाथ - चरणकमलों, तातचरणों एवं वैसे ही पितृव्य को भी भक्तिपूर्वक प्रसन्नता से वंदन करके
केवल कृष्ण में बुद्धि रखनेवाले श्रीगोविंदसुत-कल्याणराय ने श्रेष्ठ स्तुतिग्रंथ
श्रीकृष्णाश्रय को प्रकाशित किया, जो सत्पुरुषों की प्रसन्नता का कारण बने ॥१॥
यह श्रीविट्ठलनाथ चरणकमलों मे एकनिष्ठ श्रीकल्याणरायविरचित कृष्णाश्रयस्त्रोतप्रकाश समाप्त हुआ ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्द्वारिकेश्वरचरणप्रणीतविवृतियुतम् ।

पशुपतिकृतिभिर्ये भ्रंशिता मुग्धचित्ता-
स्तदनुसृतकृतीन् स्वाज्ञानतः पातुमिच्छन् ।
अवददविकृतं यः स्वागमं सर्वभद्रम्
तमहमतिदयालुं वल्लभाख्यं नतोस्मि ॥१॥
विरञ्चिकृष्णनारदैर्निरूपितैर्भृशं सदा
चिरन्तनीयसाधनैर्विसम्मतं कलिं विभुः ।
विलोक्य सर्वतोधिकं निजागमं ततान यः
सदा सुसंमतं सतां विशेषतः कलौ युगे ॥२॥

अपने अज्ञानवश जो महादेवजी की कृति से मोहित होकर भटक गये एवं उनका आचरण क़रने लगे, ऐसों का उद्धार करने के लिए जिन्होंने सर्वकल्याणकारी विकाररहित अपने वेद को बताया, उन अतिदयालु श्रीवल्लभ को मैं नमन करता हूँ ॥१॥

ब्रह्मा - कृष्ण - नारद के द्वारा प्रभुप्राप्ति के लिए सतत निरूपित किए गये प्राचीन साधनों से
इस कलियुग को अत्यधिक विपरीत देख कर जिन श्रीमहाप्रभु ने
सत्पुरुषों को संमत अपने सर्वश्रेष्ठ वेदमार्ग का विशेषरूप से विस्तार किया
उन श्री वल्लभ को मैं नमन करता हूँ ॥२॥

ननु साक्षात्परम्परया च भगवत्प्राप्तिसाधनानां बहूनां विद्यमानत्वात्तानि विहाय किमित्याश्रय एव बोध्यते, किञ्च, क्रमेण नवविधलीलाप्रवेशज्ञानानन्तरं ह्याश्रयस्तज्ज्ञानं वा स्वत एव भविष्यतीति किमिति तत्प्रतिपादकं स्तोत्रमुच्यते तत्राह- सर्वमार्गेष्विति ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

तथापि निरोधस्य सर्वापेक्षया वरीयस्त्वान्मुक्तेरपि लोके तथात्वात्किमिति तौ विहायाश्रय एव निरूप्यते अत्रोच्यते 'आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते । स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते' 'या या साधनसंपत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः' 'सर्वमाश्रयतो भवे'दित्यादिवाक्यैराश्रयस्यैव सर्वसाधकत्वेनोक्तत्वात्सर्व-साधनफलरूपाभ्यां स एव परिणत इति तमेवाह-कृष्ण एव गतिर्ममेति ।

इस ग्रंथ में कृष्ण का आश्रय करने का विधान तो किया गया है परंतु एक शंका यह होती है कि साक्षात्रूप से एवं परंपरारूप से भगवत्प्राप्ति के अनेकानेक साधन तो विद्यमान हैं ही, फिर उनको छोड़कर यहाँ केवल आश्रय ही करने का उपदेश क्यों दिया जा रहा है ? और भी, भगवान की नवविध लीलाओं का क्रमशः ज्ञान हो जाने के पश्चात् आश्रय या फिर आश्रय का ज्ञान तो अपने आप ही हो जायेगा, फिर आचार्यचरणों को आश्रय का ज्ञान करानेवाले इस 'कृष्णाश्रय' ग्रंथ की रचना करने की क्या आवश्यकता पड़ गई ? तो इस शंका के निराकरण हेतु आचार्यचरण सर्वमार्गेषु इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

भगवान की समस्त लीलाओं में निरोधलीला सबसे अधिक मुख्य है एवं मुक्ति भी लोक में मुख्य ही मानी जाती है, तो फिर आचार्यचरण इन दोनों के छोड़कर आश्रय का ही उपदेश क्यों कर रहे हैं, यह निम्नलिखित श्लोकों के द्वारा समझना चाहिए । "हे परीक्षित् ! इस चराचर जगत

की उत्पत्ति और प्रलय जिस तत्व से प्रकाशित होते हैं, वह परम ब्रह्म ही 'आश्रय' है (श्री.भा. २/१०/७)'' ''चतुर्विध-पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिए जिन-जिन साधनों की आवश्यकता होती है, नारायण का आश्रय करने वाला मनुष्य उन साधनों के बिना ही इन्हें प्राप्त कर लेता है । ''आश्रय से सभी कुछ सिद्ध हो जायेगा (वि.वै.आ./९)'' इत्यादि श्लोकों में भगवद्-आश्रय को ही सर्वसाधक कहा है अतः समस्त साधन एवं फलों से अंततोगत्वा आश्रय ही परिणित होता है, सो आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं - कृष्ण ही मेरी गति हैं ।

गतिशब्दः क्रियावाचकः, तेन गतिरित्युपलक्षणं किन्तु स एव भक्तिमार्गनिर्वाहप्रतिबन्धनिवर्तकतया परमभक्तिप्रतिपादकसाधनीभूततनुवित्तजादिप्रतिपादकशरीरतन्निर्वाहकक्रियारूपो भवत्वित्यध्याहारः । कथञ्चित्पूर्वमाश्रयोन्मुखं ज्ञात्वा पश्चाज्जीवैस्तदाश्रयः कर्तव्य इति नार्थः, सर्वतः सर्वांशेन कार्यसिद्ध्यभावं निश्चित्य स्वस्मिंश्च तथात्वनिश्चये सत्यस्माकं सर्वथा लौकिकालौकिकफलसाधकोऽस्मत्कृतिनिरपेक्षः स भवतु । तथाभवनं तु तदिच्छासाध्यम् । भगवानाश्रयो भवतु मा वा, अस्माभिस्तदाश्रयैः सर्वथा भाव्यमेवेति निश्चित्याश्रयः सर्वथा कार्यः । एवंप्रपन्नानामाश्रयः सर्वथा भवत्येव, अन्यथा 'अनन्या' इति 'न मे भक्तः प्रणश्यति ' इति भगवद्-व्रतं भज्येत ।

'गति' शब्द यहाँ किसी क्रिया को इंगित कर रहा है और वह क्रिया कैसी होनी चाहिए ? तो समझना चाहिए कि ऐसी क्रिया जो भक्तिमार्ग का निर्वाह करने में आते हुए प्रतिबंधों को दूर करे, परमभक्ति प्राप्त करने के लिए साधनीभूत तनुवित्तजा-सेवा करने वाले शरीर का निर्वाह करे. ऐसी क्रिया की आवश्यकता है - इतना सब कुछ 'गति' शब्द का अर्थ है जो खुद हमें अपने मन से पहले श्लोक के साथ जोड़कर अर्थ करना चाहिए । यहाँ आश्रय करने का यह अर्थ नहीं है कि - हमें भगवान का आश्रय करने में रुचि है या नहीं - यह जान लें और फिर आश्रय करें अपितु हमें यह विचार करना चाहिए कि भगवद्-आश्रय के बिना कहीं भी किसी भी प्रकार से हमारा कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता और न ही हम खुद उसे अपनी सामर्थ्य से सिद्ध कर सकते हैं । हमें अपने मन में इस प्रकार निश्चय करके यह विचार करना चाहिए कि हमारे लिए लौकिक-अलौकिक सभी प्रकार के फल को साधने वाले एवं हमारी कृतियों की अपेक्षा न रखने वाले प्रभु ही हमारे आश्रय हो । प्रभु हमारे आश्रय बनें, यह तो उनकी इच्छा पर निर्भर करता है । परंतु भगवान हमारे आश्रय बनें या न बनें, हमें तो सर्वथा उनके आश्रय की भावना करनी ही चाहिए, ऐसा अपने मन में निश्चित् करके सभी प्रकार से भगवान का आश्रय करना चाहिए । इस प्रकार से जो भगवान के शरणागत होते हैं, उन्हें सभी प्रकार से भगवान का आश्रय अवश्य सिद्ध होता ही है । अन्यथा तो ''जो अनन्यभाव से मेरा भजन करते हैं, उनके योगक्षेम को मैं स्वयं वहन करता हूं (भ.गी.९/२२),'' ''मेरे भक्त का कभी विनाश नहीं होगा (भ.गी.९/३१)'' इत्यादि श्लोकों में अपने शरणागत जीवों के लिए कहे गये भगवान के व्रत ही भंग हो जायेंगे ।

एवं सति सर्वफलरूपस्त्वयाऽऽश्रयणोक्त्या साधनीभूतः क्रियते ततोधिकस्य फलस्याभावात्, प्रत्युत 'वृश्चिकभिये' तिन्यायेन स्वरूपहानिप्रसङ्गः स्यादत्र ब्रूमः-कृष्ण एव गतिर्ममेति । एवंच परमभक्तिस्तु कृष्णैकफलिका तदनुग्रहैकलभ्या च, तथासति तत्सिद्धिप्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं तत्सिद्धौ तत्साधनादिनिर्वाहकसाधनतामापन्नो न हीनतामापद्यते । यथा-'योगमायामुपाश्रित' इत्यत्र रसमार्गेऽन्तरङ्गाश्रयणं न दोषाधायकं तन्मार्गस्यैव तथात्वात् । एवं भक्तिमार्गीयसर्वांशसाधने भगवतो न साधनरूपत्वमापद्यत इति सिद्धान्तः । यथा 'भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ती' त्यत्र भगवतस्तत्सम्बन्धिनां च परस्परमाधाराधेयभावे पोष्यपोषकभावे च नोभयोर्मध्ये कस्यापि हीनत्वं किन्तु तदेकपोषकत्वं तदेकपोष्यत्वं च भगवत उत्कर्षाधायकं, एवं तन्मार्गपक्षपाताद्भक्तिमार्गे सर्वांशेन फलत्वमापन्नस्य स्वस्य साधनतास्वीकारो न हीनत्वसंपादक इत्येवमभिसंधायाचार्यैरुक्तमितिभावः ।

परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि, भगवान तो सर्वफलरूप हैं और ऐसे सर्वफलरूप भगवान को यहाँ इस ग्रंथ के अंतर्गत अपने लौकिक-अलौकिक कार्यों को सिद्ध करने के लिए साधन बनाया जा रहा है । और यदि भगवान ही साधन बन जा रहे हैं, तो फिर फल क्या प्राप्त होगा, क्योंकि भगवान से बढ़कर तो कोई दूसरा फल है ही नहीं । ऐसे में तो और उल्टे ''वृश्चिकभिया पलायमानः आशीविषमुखे निपतितः (अर्थात् बिच्छू से डरकर भागा हुआ विषयुक्त सर्प के पास गिरा । इस न्याय का अर्थ है-आसमान से गिरा खजूर में अटका)'' इस न्याय से आश्रय या फिर भगवान का स्वरूप ही बिगड़ रहा है । इस शंका के समाधानस्वरूप आचार्यचरण कह रहे हैं - कृष्ण एव गतिर्मम । यहाँ यह समझना चाहिए कि परमभक्ति तो उसे ही कहेंगे जिसके फलस्वरूप केवल श्रीकृष्ण ही प्राप्त होते हों एवं ऐसी भक्ति तो केवल भगवद्-कृपा से ही प्राप्त हो सकती है । ऐसे में उस भक्ति की सिद्धि में उत्पन्न होने वाले प्रतिबंधकों की निवृत्ति करके भक्ति सिद्ध होने में यदि भगवान उस भक्ति के साधन-आदि में निर्वाहक साधन बन जाते हों, तो वे हीन सिद्ध नहीं होते । जैसे ''भगवान ने भी शरद ऋतु की उन रात्रियों में योगमाया का आश्रय लेकर रासक्रीड़ा करने का संकल्प किया (श्री.भा.१०/२९/१)'' इस श्लोक के अनुसार रसमार्ग में अंतरंग वस्तु का आश्रय करना दोषयुक्त नहीं है क्योंकि यह रसमार्ग ही ऐसा है । इसी प्रकार भक्तिमार्गीय समस्त साधनों में भगवान को साधन बनाना दोषयुक्त नहीं है, यह सिद्धांत है । जैसे ''स्वामी होने पर भी भगवान भक्तों का

भरणपोषण भी करते हैं और उनसे भरणपोषण करवाते भी हैं (तैति.आ.३/१४/१)। इस श्लोक में भगवान एवं उनके संबंधियों में परस्पर आधार-आधेय भाव (अर्थात् भगवान आधार हैं एवं भगवान पर निर्भर रहने वाले आधेय) एवं पोष्य-पोषक भाव (अर्थात् भगवान पोषण दे रहे हैं अतः वे पोषक हैं और जिनका पालनपोषण भगवान द्वारा हो रहा है, वे पोष्य हैं) दोनों में किसी की भी हीनता नहीं है अपितु ये दोनों भगवान का उत्कर्ष ही बढ़ाने वाले हैं। इस प्रकार स्वयं भगवान को भक्तिमार्ग का विशेषरूप से पक्षपात है। अतः यदि वे खुद को फलरूप होते हुए भी साधन रूप में ढाल लें तो कोई हीनता वाली बात नहीं है, इसी कारण आचार्यचरणोंने "कृष्ण ही मेरी गति हैं" यों कहा है।

धर्मादीनां च स्वसाधनसहितानामेव फलसाधकत्वं, तत्र देशकालादयो धर्मसाधनं तेषामिदानीमतथात्वं सर्वथा निरूपयन् पूर्वं कालस्यातथात्वमाह-सर्वमार्गेषु नष्टेष्विति । कलौ सर्वेषु मार्गेषु नष्टेषु सत्सु दैवैः कृष्ण एव गतिर्ममेत्येवंरूप आश्रयः कर्तव्य इति भावः । मार्गोक्त्या तेषां साङ्गानां स्वस्वाधिकारानुसारेण फलप्रापकत्वं निरूप्यते । नाशस्तु तेषां सर्वथा फलासाधकत्वरूपः । कलौ तत्तन्मार्गे किञ्चिदुत्तमानां तद्विध्याचरणेपि तत्फलाभावं दृष्ट्वान्येषामनुपलब्धिप्रमाणेन ततो विश्वासापगमाद्बाह्यतोपि तदाचरणपरम्पराया नाशः स्यादितिभावः।

श्रुति-स्मृति-पुराण आदि में कहे गये धर्म तो वहाँ बताये गये साधनों के द्वारा ही फल दे सकते हैं, परंतु इस कलिकाल में देश-काल आदि धर्म के साधन हमें अपने धर्म का योग्य फल नहीं दे सकते क्योंकि ये सभी साधन भ्रष्ट हो गये हैं। इसी बात का निरूपण करते हुए यहाँ आचार्यचरण सर्वप्रथम काल की असाधकता सर्वमार्गेषु नष्टेषु इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि इस कलिकाल में समस्त मार्गों के नष्ट हो जाने के कारण अबं दैवी-जीवों को "कृष्ण ही मेरी गति हैं" इस प्रकार का आश्रय करना चाहिए, यह भाव है। यहाँ आचार्यचरणों ने 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ यह है कि, ये सभी मार्ग साधनसहित अपनाने पर अपने-अपने अधिकार के अनुसार फलप्राप्त करा सकते हैं परंतु आपश्री ने इस कलियुग में इन सभी का नाश कह दिया है अतः ये फल साधने में सर्वथा असमर्थ हैं। इसका अर्थ यह है कि इस कलिकाल में इन इन मार्गों में जो कुछ उत्तम मार्ग हैं, उनका विधिपूर्वक आचरण करने पर भी योग्य फल प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार की असफलता देखकर दूसरों का भी विश्वास खंडित हो जाता है और बाह्यरूप से भी (अर्थात् केवल दिखावा मात्र के लिए अथवा तो मन में उस मार्ग के लिए श्रद्धा न हो और बाहर से उसे मात्र क्रियावत् कर लेना) उस मार्ग का अनुसरण करने की परंपरा का नाश हो गया है, यह भाव है।

ननु सत्ययुगादीनां यथा धर्मसाधकत्वं तथैतस्यापि तथात्वे को दोषः कालत्वस्याविशेषादित्यत आह खलधर्मिणीति । खलाः सर्वथा बाह्याभ्यन्तरभेदेन धर्मादिकृत्यनुसन्धानरहिताश्च, अनुसंधानेपि द्वेषार्थमेव तदनुसन्धानं, न च स्वस्यान्येषां वा चिकीर्षाबुद्धिजनकत्वेन । अत एव ' घ्नन्तं गोमिथुनं पदे'ति तस्यासाधारणो धर्मो निरूपितः । ननु सर्वथा धर्मादित्यक्तारः केचन भविष्यन्ति न तु सर्वे तेन तदुक्त्या सर्वे कथं तादृशा भविष्यन्तीत्यत आह पाषण्डप्रचुर इति । येपि लोके सन्मार्गाद्याचरणं कुर्वन्ति महान्तोपि तेपि प्रधानमनुसृत्यैव कुर्वन्ति, अन्यथा तदा लोके पूज्यत्वं न स्यात् । पूर्वमल्पप्राचुर्ये तत्र श्रद्धाभावेप्यन्यानुरोधेनाप्यन्यथाचरणे स्वबुद्धिरपि तथैव जातेति तत्र स्वयं श्रद्धालवो भूत्वान्येषामपि तथात्वं संपादयन्तः पश्चात्त्यक्तह्रियो भूत्वा सुखेन तथाकुर्वन्तीति भावः।

चलिए यह सब तो ठीक है परंतु यहाँ एक शंका यह भी होती है कि सतयुग जैसे युगों को जिस प्रकार धर्म का साधक माना जाता था, वैसे ही कलियुग को भी मान लेने में क्या दोष है ? तो आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं कि काल का स्वरूप जैसा सतयुग में था, वैसा अब नहीं रह गया है अतः कलियुग धर्म का साधक नहीं हो सकता, इसे वे खलधर्मिणि इत्यादि शब्दों द्वारा कह रहे हैं। बाहरी-भीतरी सभी प्रकार से धर्माचरण का जिन्हें अनुसंधान न हो, उन्हें 'खल' कहते हैं। ऐसे दुष्टों को यदि धर्माचरण का किंचित् अनुसंधान है भी, तो वह द्वेष से ही है। धर्म का आचरण उनका या दूसरों का परम कर्तव्य है - ऐसी बुद्धि से नहीं। अतएव श्रीमद्भागवत में "कलियुग शूद्र के रूप में गाय-बैल बने हुए पृथ्वी एवं धर्म को डंडे से पीट रहा था (श्री.भा.१/१७/१)" इस प्रकार से कलियुग का स्वरूप बताया गया है। अब यहाँ संदेह यह होता है कि, इस प्रकार से धर्म का त्याग कर देने वाले कुछ व्यक्ति ही तो होंगे सभी तो नहीं, फिर आप सभी को कैसे दुष्ट बता रहे हैं ? तो इसका समाधान आचार्यचरण पाषण्डप्रचुर इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। यहाँ भाव यह है कि, जो कोई भी महापुरुष सन्मार्ग या धर्म का आचरण करते हैं, वे किसी प्रधान व्यक्ति का अनुकरण करके ही करते हैं, अन्यथा लोक में वे पूज्य नहीं बन सकते। पहले तो इनमें पाखंड इतना प्रचुर नहीं होता अतः पाखंड में रुचि न होने पर भी अन्य अधर्मियों के अनुरोध से धर्म-विरुद्ध आचरण करने के कारण इनकी बुद्धि भी वैसी कलुषित हो जाती है। सो पहले तो ये खुद पाखंडी बन कर दूसरों को भी पाखंडी बनाते हैं और बाद में निर्लज्ज होकर फिर आनंद से वैसा ही अधर्मी आचरण करने लगते हैं, इस आशय से आचार्यचरणों ने यहाँ पाखंड की प्रचुरता बताई है, यह भाव है।

एतेनान्यानुरोधेनापि सन्मार्गत्यागः ' योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मा-

पहारिणे'तिन्यायेन सर्वथा स्वनाशक इति ज्ञापितं भवति । तेन प्रावाहिकभक्तिमार्गोपि नष्ट इति ज्ञापितम् । चकारः समुच्चयार्थः । तथाहि-मार्गाश्च सर्वे नष्टास्तादृग्धर्मा कलिश्चाविर्भूतः, लोके पाषण्डश्च प्रचुरः । एवं सर्वथा सर्वनाशोपस्थितौ विविधशङ्कास्पदीभूतान्तःकरणान् स्वानुपदिशन्ति श्रीकृष्ण एव गतिर्ममेति । अवतारान्तरं तु मर्यादारूपमित्येवं निःसाधनानां धर्मादिप्रतिकूलसाधनवतां वा सर्वप्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं 'तवास्मी'त्युक्तिमात्रेण भक्त्यैकलभ्यः पुष्टिपुरुषोत्तम एवोद्धारं कर्तुं शक्त इत्येवकारेणांशकलावतारव्यवच्छेदपूर्वकं कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तमेवमग्रेपि ज्ञेयम् ।

इससे यह सिद्ध होता है कि दुष्टों के द्वारा प्रेरित किए जाने पर सन्मार्ग त्यागने की संभावना बनी रहती है। जो व्यक्ति अन्यथा होते हुए परमात्मा को अन्यथारूप से प्रतिपादन करता है, क्या उस चोर, आत्मा का अपहार करनेवाले ने कोई पाप नहीं किया ? (अणु.अ. १, पाद १, सूत्र १ /कारिका - ४) इस वाक्य द्वारा ज्ञात होता है कि बहिर्मुखों का संग करने से स्वधर्म भंग होता है। इससे ज्ञात होता है कि प्रावाहिक-भक्तिमार्ग भी नष्ट हो चुका है। च शब्द से सभी प्रकार की नष्टता सूचित होती है अतःकुल मिला कर अर्थ यह हुआ कि समस्त मार्ग नष्ट हो चुके हैं और ऐसा खलधर्मी कलियुग आविर्भूत हो गया है एवं लोगों में प्रचुर पाखंड फैल गया है। इस प्रकार से सर्वनाश की परिस्थिति उत्पन्न हो जाने के कारण विविध शंकाओं से ग्रस्त अपने निजजनों के अन्तःकरण को आचार्यचरण उपदेश कर रहे हैं - श्रीकृष्ण ही मेरी गति हैं। भगवान के अन्य अवतार तो मर्यादारूप हैं अतः निःसाधन जीव अथवा तो धर्म के विपरीत आचरण करने वाले जीवों के समस्त प्रतिबंधकों को निवृत्त करके केवल भक्ति से प्राप्त होने वाले पूर्णपुरुषोत्तम ही उद्धार करने में समर्थ हैं और वह भी केवल "मैं तुम्हारा हूँ (तवास्मि)" इतना कह देने मात्र से। इसी कारण आचार्यचरणों ने यहाँ 'एव' शब्द का प्रयोग करते हुए भगवान के समस्त अंशकला-अवतारों को छोड़कर "केवल कृष्ण ही मेरी गति हैं" इस प्रकार से कहा है। यही भाव आगे के समस्त श्लोकों में भी समझ लेना चाहिए।

एवं कालस्य धर्मादिविरोधित्वमुक्त्वा देशस्यापि तथात्वमाह-म्लेच्छाक्रान्तेष्विति ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ।। २ ।।

यथा कालत्वस्याविशेषेपि सत्यादिरूप एव कालो धर्मसाधको भवति तथा देशत्वस्याविशेषेपि तीर्थादिरूप एव देशो धर्मादिकरणे साधनीभूतः । तीर्थमपि जलस्थलभेदेन द्विविधं, तत्र पूर्वं पुण्यक्षेत्रादिरूपस्य देशस्य पूर्ववदतथात्वमाह-म्लेच्छाक्रान्तेष्विति । साक्षात्परम्परया च देशाः सर्वे म्लेच्छैः आ-समन्तात्-क्रान्ताः । तत्तत्पुण्यक्षेत्रादिधर्मस्थानेषु तद्धर्मापगमार्थं द्वेषेण विपरीतकृतिपूर्वकं स्थितिराक्रमणम् । कुत्रचित्पुण्यादिभूमौ साक्षात्तत्रोत्पन्नविषयभोक्तारो भूत्वा तत्रैव तिष्ठन्ति कुत्रचित्तत्सन्निहितेषु । एवं तेषां साक्षात्स्थित्या स्वोत्पन्नविषयाणां तदेकभोग्यत्वेन च सर्वदेशानामधर्मसाधनत्वं जातम्। सर्वथा म्लेच्छीयत्वात्तेषाम् । म्लेच्छा अनाविष्टाः सन्तः सर्वथा धर्मादिविरोधिनः कलहप्रियाश्च 'मनसा वचसा कृत्या सद्धर्मपरिपन्थिनः । म्लेच्छदेशेषु संजाता भक्ष्याभक्ष्यविचारकाः' ।

उपर्युक्त प्रकार से आचार्यचरणों ने जैसे वर्तमान काल को धर्म का विरोधी बताया है, वैसे ही अब आगे के श्लोक में म्लेच्छाक्रान्तेष इत्यादि शब्दों से देश को भी धर्म के विपरीत बता रहे हैं। (यहाँ देश का अर्थ उस स्थान से है, जहाँ धर्म किया जाता है)

यहाँ यह समझना चाहिए कि, जैसे काल के धर्म से विपरीत होने पर भी वही काल धर्म का साधक बन सकता है जिस काल में सत्य का आचरण किया जाता है, उसी प्रकार देश भी चाहे धर्म के विपरीत हो गया है परंतु जिन स्थानों पर तीर्थक्षेत्र हैं, वही स्थान धर्माचरण करने में साधन बन सकते हैं। तीर्थ को भी जलप्रधान एवं स्थलप्रधान के भेद से दो प्रकार का माना जा सकता है। इनमें आचार्यचरण इस श्लोक के द्वारा पुण्यक्षेत्र वाले स्थलों की असाधकता 'म्लेच्छाक्रान्तेषु' इत्यादि शब्दों के द्वारा बता रहे हैं (जलस्थान वाले तीर्थों की असाधकता आगे के तीसरे श्लोक में बताएँगे)। ये सभी स्थल साक्षात्रूप से अथवा परंपरासे म्लेच्छों के द्वारा आक्रांत हैं। इन-इन पुण्यक्षेत्रीय धर्मस्थलों पर धर्मनाश करने के लिए द्वेषपूर्वक इन म्लेच्छों का धर्म के विपरीत कार्य करते हुए रहना ही इनके द्वारा आक्रमण करना है। कहीं-कहीं तो ये म्लेच्छ उन पुण्यक्षेत्रों में उत्पन्न होने वाली धन-संपत्ति, ऐश्वर्य, पुण्य आदि को भोगते हुए वहीं रह रहे हैं, तो कहीं-कहीं पर ऐसे पुण्यक्षेत्रों के निकट वास कर रहे हैं। इस प्रकार से उन पुण्यक्षेत्रों में उत्पन्न होने वाली समस्त धनसंपत्ति, ऐश्वर्य, धर्म, पुण्य इत्यादि केवल म्लेच्छ ही भोग रहे हैं अतः इससे कोई भी स्थल अब धर्म का साधन नहीं रहा है। म्लेच्छों में भगवद्-धर्मों का आवेश नहीं होता एवं वे सर्वथा धर्मविरोधी एवं कलह करने वाले होते हैं। अर्थात् "जो भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार करने वाले हैं एवं वाणी-मन-कृति के द्वारा सद्मार्ग पर चलने वाले हैं, वे मलेच्छ देशों में जन्म लेकर म्लेच्छों जैसे हो गये हैं - इस प्रकार की परिस्थिति है।

ननु तत्रोत्पन्नाः सर्वे न तथाभूतास्तद्विपरीतानां बहूनां दृश्यमानत्वात्, यथा म्लेच्छसंसर्गात्सर्वोपि देशोऽधर्मजनकतां

यात एवं तद्विपरीतधर्मवतां तज्जातीयानामपि संसर्गा'त्संयोगपृथक्त्व'न्यायेन देशव्यवच्छेदेन कियद्देशेषु धर्मसाधनताप्यस्तिवति चेत्तत्राह-पापैकनिलयेष्विति । सर्व एव देशाः पापैकनिलया जाताः पापानामेको निलयः स्थानं तादृशा जाताः । तेन कुत्रापि धर्मवार्ता न श्रूयते । यद्वा पापास्त एव महीभोक्तारस्तदेकनिलयत्वात्तथा । येपि तद्विपरीतधर्मास्ते तु पूर्वजन्मनि वैष्णवा भूत्वा वेदनिन्दां कृतवन्त इति तादृशेषु जन्म प्राप्तवन्तोपि सत्स्वेव प्रविष्टा न तु तेषु । तेन सतामिव तेषामपि धर्मादिनियन्तृत्वाभावः सूचितः ।

परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि, ऐसे म्लेच्छ देशों में जन्म लेने वाले सभी तो ऐसे दुराचारी नहीं होते, कुछ सज्जन भी देखे गये हैं, तो यहाँ सभी को म्लेच्छ क्यों बताया जा रहा है ? ऐसी शंका के उत्तर में यह समझना चाहिए कि, जिस प्रकार म्लेच्छों का संसर्ग हो जाने से अधर्म उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही इनसे विपरीत सत्पुरुषों के संसर्ग से एवं "संयोगपृथक्त्वन्याय" से कुछ देश धर्म के अनुकूल भी माने जा सकते हैं परंतु अधिकतर स्थल पाप का घर बन चुके हैं - इसे आचार्यचरण पापैकनिलयेषु इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि सभी स्थान पाप का घर बन चुके हैं अर्थात् जहाँ पाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है - ऐसे बन चुके हैं। इसी कारण आज कहीं भी धर्म की बातें सुनाई नहीं देती। अथवा यों अर्थ कर लें कि, समस्त पृथ्वी को आज पापी ही भोग रहे हैं अतः आचार्यचरण इसे केवल पापियों का स्थान कह रहे हैं। इनसे विपरीत जो म्लेच्छ पापी नहीं हैं, उन्होंने पूर्वजन्म में वैष्णव होकर वेदनिंदा की थी अतः इस जन्म में उन्होंने म्लेच्छ-देश में जन्म तो लिया परंतु पूर्वसंस्कार के कारण उनका रुझान सत्पुरुषों की तरफ ही है, पापियों की ओर नहीं। इसी कारण सज्जनों की ही भाँति ऐसे म्लेच्छ व्यक्तियों में भी धर्माचरण का अभाव है, यह सूचित होता है।

ननु तदाक्रान्तेष्वपि देशेषु चातुर्वर्ण्यस्यापि विद्यमानत्वाद्धोक्तृत्वप्रतियोगित्वेन त एव सतां धर्मादिप्रवर्तने सहायाः कथं न भवन्तीति चेत्तत्राह-सत्पीडेति । चित्तस्थैर्ये हि सर्वेषां स्वधर्मानुसन्धानं भवति । सतां चकारात्तदनुवर्तिनां च पीडया सर्व एक लोका व्यग्राः । सतां प्रसङ्गे पीडासंभवात्तदभावे धर्मादिसिद्ध्यभावाद्व्यग्रता । तथासति किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह-कृष्ण एवेति । सर्वथा साधनाभावाद्धर्माभावेपि भक्तिवत्कल्पतरुस्वभावत्वेन सर्वधर्ममार्गीयफलतोप्यधिकफलप्रापकत्वेन श्रीकृष्ण एव गतिर्ममेत्येवंरूप आश्रय एव सर्वथा कार्य इत्याचार्याणां परमोक्तिरिति भावः ॥२॥

किंतु यहाँ शंका यह होती है कि, जहाँ इन देशों में म्लेच्छों का आक्रमण हो गया है वहाँ चारों वर्ण के लोग भी तो रहते ही हैं (अर्थात् ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र) और पापियों के साथ साथ ये भी तो पृथ्वी को भोग रहे हैं तो ये सत्पुरुषों को धर्माचरण करने में सहायक क्यों नहीं हो सकते ? इस शंका का समाधान आचार्यचरण सत्पीडा इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। यहाँ समझिए कि स्थायीचित्त / एकाग्रचित्त में ही सभी को धर्म का अनुसंधान रहता है परंतु सत्पुरुष एवं उनका अनुकरण करने वालों को पीड़ित देखकर सभी लोग व्यग्र हो गये हैं, धर्म में उनका चित्त एकाग्र नहीं हो पाता। आधुनिक समय में सत्पुरुष पीड़ित हो रहे हैं अतः सत्पुरुष अब प्राप्त नहीं होते और उनका संग न मिलने के कारण धर्म सिद्ध नहीं हो पाता जिससे लोगों में व्यग्रता बढ़ गई है। ऐसी परिस्थिति में क्या करना चाहिए ? तो आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि "कृष्ण ही मेरी गति हैं"। अर्थात् यदि हमारे पास साधनों का सर्वथा अभाव हो, धर्म भी न हो तथापि भक्ति की भाँति कल्पतरु (ऐसा वृक्ष जो मुँहमाँगी वस्तु दे देता है) स्वभाववाले, समस्त धर्ममार्गों के फल से भी अधिक फल देने वाले श्रीकृष्ण ही मेरी गति हैं - इस प्रकार का आश्रय निरंतर करते रहना चाहिए, यह आचार्यचरणों के महावाक्य हैं ॥२॥

एवं स्थलादिरूपतीर्थाणामतथात्वमुक्त्वा जलादिरूपाणामपि तेषामतथात्वमाह-

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादितीर्थवर्येष्विति । ननु 'गङ्गागङ्गेती'त्यादिनोक्तमाहात्म्यवतां गङ्गादीनां विद्यमानत्वात् कथं संसर्गदोषा बाधन्ते तत्राह दुष्टैरिति । 'नहि गङ्गासमं तीर्थम्' 'या वै लसदि'त्यादिना च सर्वेभ्यस्तीर्थेभ्यो गङ्गाया एव वरीयस्त्वस्योक्तत्वादतीर्थानपि तीर्थीकुर्वन्ती गङ्गैव गच्छति । एवंविधान्यतथाजातानि । किञ्च, अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वमाधिदैविकादिभेदेन । तत्र तीर्थरूपं तु दुष्टसम्बन्धादेव नष्टं, तथाहि-भगवता 'त्वं च रुद्रे'त्यादिवाक्यैर्जगन्मोहनार्थं पशुपतेः प्रवर्तितत्वात्तत्र यथा सर्वे जीवन्तो मुमूर्षवश्च मुग्धा भवन्ति तदर्थं सर्वथा चित्तशुद्ध्यभावसाधनीभूततीर्थसम्बन्धाभावार्थं शिवेन स्वगणा गङ्गादिषु स्थापितास्ते तु गणशस्तिष्ठन्ति तत्रत्यानां प्राणापगमे यथा तीर्थसम्बन्धो न भवति तथा ते यतन्ते । तत्सम्बन्धात्तीर्थरूपमेव नष्टं, तथाचोक्तं तैत्तिरीयके 'ये[1] तीर्थानि प्रचरन्ती'त्यादिना । अत एव तत्र मृतानामपि न तीर्थमरणफलमत एव तत्र मृताःसन्तो रुद्रपिशाचं ते

१ ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकावन्तो निषङ्गिणः । य एतावन्तश्च भूयाँसश्च दिशो रुद्रा वितस्किरे ।

प्राप्नुवन्ति न दोषादिनिवृत्तिः काश्यादिषु मुमूर्षूणां मनुष्याणामारभ्य तिरश्चामपि । ननु तत्र मृतानामपि तारकब्रह्मोपदेशं शिवः करोतीति श्रूयते तथा सति कथं जलस्थलरूपाणां तेषां न शुद्धिसाधकत्वं, सत्यं, तत्तु पूर्वोक्तधर्मवत्कालाभावे न तु तद्वति ।

इस प्रकार स्थलरूप तीर्थों को धर्म के असाधक कह कर अब आचार्यचरण अग्रिम श्लोक द्वारा जलप्रधान तीर्थों की भी असाधकता कह रहे हैं।

<u>गंगादितीर्थवर्येषु</u> इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। यहाँ आचार्यचरण गंगा आदि तीर्थों की असाधकता बता रहे हैं, परंतु किसी को यह प्रश्न हो सकता है कि गंगा-माहात्म्य में तो "जो व्यक्ति सौ योजन दूर से भी 'गंगा-गंगा' इस प्रकार से नाम लेता है, उसके समस्त पाप धुल जाते हैं" इस प्रकार कहा गया है, फिर गंगा जैसे तीर्थों के होते हुए भी संसर्गदोष कैसे बाधित कर सकता है ? तो आचार्यचरण इसका समाधान <u>दुष्टैः</u> इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। समझना चाहिए कि 'गंगा के समान कोई दूसरा तीर्थ नहीं है", "गंगाजी का जल श्रीकृष्ण के चरमकमलों का पराग लेकर प्रवाहित होता है अतः यह समस्त लोकों को पवित्र कर देती है (श्री.भा. १/१९/६)" इत्यादि वाक्यानुसार समस्त तीर्थों में गंगा ही श्रेष्ठ है और उसका संग जिन-जिन स्थलों पर होता हैं, वे तीर्थस्थल न होते हुए भी तीर्थ बन जाते हैं, गंगारूप बन जाते हैं। ऐसे स्थल अब दुष्ट हो गये हैं। यह बात ठीक है कि, आधिदैविक-आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक भेद से गंगा के तीन रूप अवश्य हैं परंतु उसका तीर्थरूप दुष्टजनों का संसर्ग हो जाने के कारण नष्ट हो गया है। वह ऐसे कि स्वयं भगवान ने" "हे रुद्र ! माया द्वारा जगत को मोहित करिए। अपने माहात्म्य को प्रकाशित करिए एवं मेरा माहात्म्य लुप्त कर दीजिए। सत्य को असत्य एवं असत्य को सत्य करिए (पद्म पु. षष्ठ उ.खं. ७१/१०८)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार जगत् को मोहित करने के लिए भगवान शंकर को प्रवर्तित किया है अतः जीवित और मरणासन्न सभी जीव मोहित हो गये हैं एवं चित्त की अशुद्धि को दूर करने के साधन जो ये तीर्थस्थल हैं, उनकी सामर्थ्य भंग करने के लिए भगवान शंकर ने इन स्थलों पर अपने गण स्थापित कर रखे हैं जो झुंड बना कर गंगा-आदि तटों पर डेरा डाले हुए हैं। अब इन तीर्थस्थलों पर रहने वाले जब प्राणत्याग करते हैं, तो ये पूरा प्रयत्न यह करते हैं कि उनका तीर्थ से संबंध न हो। इनके डेरा जमा लेने के कारण इन तीर्थस्थलों का तीर्थरूप ही नष्ट हो गया है। यही बात तैतिरीय-संहिता में "ये जो तीर्थस्थलों में बड़े-बड़े बाल वाले जटाजूटधारी बहुतायत में घूम रहे हैं, इन्हें भगवान शंकर ने ही भेजा है" इस प्रकार से कही गई है। इसी कारण यहाँ मृत्यु पाने वालों को भी तीर्थमृत्यु का फल प्राप्त नहीं होता सो वहाँ मरने वाले रुद्रपिशाच बन जाते हैं और उनके दोषों की निवृत्ति नहीं होती। काशी जैसे तीर्थ में भी मरनेवालों में मनुष्यों से लेकर पक्षियों तक किसी के भी दोषों की निवृत्ति नहीं होती। परंतु सुना तो ऐसा गया है कि, ऐसे तीर्थस्थलों पर मरने वालों को शिवजी कल्याणकारी ब्रह्मोपदेश करते हैं, तो फिर जलप्रधान तीर्थक्षेत्र शुद्धिसाधक क्यों नहीं हो सकते ? आपकी बात ठीक है किंतु जब काल शुद्ध हो, तब करते हैं, आज के जैसे अशुद्ध काल में नहीं।

यद्वा 'त्वं चे'तिभगवदुक्तेः पूर्वं शिवस्तथाऽकरोत्तदनन्तरं तथाकरणे आज्ञाभङ्ग एव स्यादिति न तथा कृतवान् । तथापि निदर्शनस्येदानीमपि दृश्यमानत्वात्कथं न करोतीति तत्र शिवोपि वैष्णवत्वाद्भगवत्सम्मतमेव सर्वं करोति । किञ्च, तथोपदेशं कुर्वन्नपि पूर्वं वैष्णवत्वेप्यसत्सङ्गेनापराधाद्वा दैत्यावेशे जाते स्वस्थानमाहात्म्यार्थमागन्तुकदोषपरिहारपूर्वकं पूर्वरूपता-संपादकत्वेन भगवद्धर्माभिज्ञत्वाच्छिव एव तारकब्रह्मोपदेशं करोतीत्यर्थः । अत एव ' प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायण-पराङ्मुखम् । न निष्पुनन्ती'त्यादिना भगवद्बहिर्मुखस्य पवित्रीकरणसामर्थ्यं तीर्थादिष्वपि नास्तीति जातेपि तत्सम्बन्धे न कृतार्था भवन्तीत्यर्थः ।

अथवा ये समझ लो कि भगवान ने जब शंकरजी को जगत को व्यामोहित करने की आज्ञा दी थी, उसके पहले शंकरजी ऐसा करते थे, आज्ञा होने के पश्चात् भी यदि वे ऐसा करें तो भगवान की आज्ञा भंग होती है सो फिर उन्होंने ऐसा नहीं किया। परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि, यह तो आज भी देखा जाता है कि, तीर्थस्थलों पर मरनेवालों में से किसी-किसी की मुक्ति होती भी है, फिर यह मान लेना क्यों आवश्यक है, कि भगवान शंकर उस जीव को कल्याणकारी तारकब्रह्मोपदेश नहीं करते ? इसके उत्तर में यह समझना चाहिए कि, क्योंकि स्वयं शिव भी तो वैष्णव हैं अतः वे सब कुछ वही करेंगे, जो भगवान को अभिप्रेत है, भगवद्-आज्ञा के विपरीत जाकर वे किसी को भी कल्याणकारी उपदेश नहीं कर सकते। अथवा तो यह समझ लीजिए कि शिव तारक ब्रह्मोपदेश करते हैं तथापि तीर्थस्थलों पर मृत्यु पाने वाले जो जीव पूर्व में वैष्णव थे और असत्संग के द्वारा अथवा तो किसी अपराधवश वे आसुरी बन गये, उन्हें अपने स्थान का माहात्म्य सिद्ध करने के लिए उनके दोष दूर करके, उनमें पुनः वैष्णवता का संपादन करके भगवान शिव ही उन्हें कल्याणकारी उपदेश करते हैं क्योंकि शिव भगवद्-धर्म के ज्ञाता हैं। इसी कारण श्रीमद्-भागवत में "हे परीक्षित्। बार-बार प्रायश्चित्त करने पर भी भगवद्विमुख पवित्र नहीं हो सकता (श्री.भा.६/१/१८) "इस श्लोकानुसार भगवद्-बहिर्मुख को पवित्र करने की सामर्थ्य तीर्थ अदि क्षेत्रों में भी नहीं है अतः भगवान शिव उसे कल्याणकारी ब्रह्मोपदेश करें तो भी भगवद्-बहिर्मुख

कृतार्थ नहीं हो सकता, यह अर्थ है।

तथा चोक्तं निबन्धे 'तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद्भवेत्। कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चय' इत्यादि सर्वमनवद्यम्। ननु गङ्गादेराधिदैविकरूपस्य विद्यमानत्वात् कथं तादृशैरावरणं तीर्थरूपनाशो वा भवेत्तत्राहुः तिरोहितेति। जलस्थलरूपेभ्य आधिदैविकं तिरोहितं तस्माद्दुष्टसंसर्गे अक्षरात्मकमपि तथैव जातम्। एवं सर्वेषां सर्वसाधनापगमे आश्रय एव साधीयानिति तमेवाहुः-कृष्ण एवेति॥३॥

यही बात आचार्यचरणों ने भी निबंध में" तीर्थ-आदि क्षेत्रों में भी कदाचित् यदि किसी की मुक्ति हो जाय तो उसी की होती है, जिस पर श्रीकृष्ण प्रसन्न होते हैं, अन्य की नहीं - यह बात निश्चित् है (शा.प्र.४७)" इस श्लोक द्वारा कही है अतः यहाँ कहा गया सभी कुछ प्रामाणिक है। परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि गंगा का आधिदैविक स्वरूप तो विद्यमान है ही, फिर वह इन कारणों से कैसे ढँक सकता है अथवा तो फिर उसके तीर्थरूप का नाश कैसे हो सकता है ? यह शंका होने पर आचार्यचरण इसका समाधान तिरोहित इत्यादि शब्दों द्वारा कर रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं कि गंगा के जल और स्थल दोनों स्वरूपों की आधिदैविकता तिरोहित हो गई है और दुष्टों का संसर्ग हो जाने के कारण उसका अक्षरात्मक स्वरूप भी तिरोहित हो गया है। अतः इस प्रकार सभी के समस्त साधन नष्ट हो जाने पर केवल भगवद्-आश्रय पर ही अवलंबित रहना चाहिए सो आचार्यचरण भी "कृष्ण ही मेरी गति हैं" इस प्रकार से कह रहे हैं॥३॥

तथाप्यन्तरङ्गबहिरङ्गभेदेन सर्वधर्मप्रवर्तकानां सतां विद्यमानत्वात्कथं धर्मादिनाशः स्यात्तत्राह-

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥ ४॥

अहङ्कारविमूढेष्विति। यदि तेपि तथाभूता भवेयुस्तदा कार्य सिद्ध्येदेव तेषां स्वरूपमाह-परीक्षिति यस्मिन् विद्यमाने तच्छरणागतौ कलेरध्यवसायो जातः स एवाहङ्कार इदानीं सत्सु प्रविष्टः। यथैतत्सम्बन्धात्परमधार्मिकस्यापि विष्णुरातस्य कलेः स्थानदानेन त्रिदोषोत्पत्तौ मौढ्याद्ब्राह्मणातिक्रमे बुद्धिर्जातैवं सतामपि तत्सम्बन्धात्स्वधर्मपरित्यागे बुद्धिर्जातेत्यहङ्कारेण सर्व एव मुग्धा जाताः। एतेन कर्तृणामप्यसाधकत्वमुक्तं भवति। यदि कर्तार एवाहङ्कारेण विमुग्धा जातास्तदा तत्कृतौ धर्माद्यसाधकत्वं किमाश्चर्यमिति कैमुतिकन्याय उक्तो भवति।

परंतु यहाँ एक संदेह यह होता है कि, समस्त धर्मों के प्रवर्तक सत्पुरुष बाहरी-भीतरी रूप से इस भूतल पर तो हैं ही, तो इनके रहते धर्म के नाश होने की बात कैसे गले उतर सकती है ? तो इसका उत्तर आचार्यचरण अगले श्लोक द्वारा दे रहे हैं।

अहंकारविमूढेषु शब्द की व्याख्या कर रहे हैं। आचार्यचरणों का इससे तात्पर्य यह है कि, सत्पुरुष यदि वास्तव में सत्पुरुष होते, तब तो कार्य सिद्ध होता ही एवं धर्म की रक्षा भी होती ही परंतु वर्तमान में उनका स्वरूप कैसा है, यह जान लीजिए। राजा परीक्षित् के समय में जब कलियुग उनके शरणागत हुआ था और काल में प्रविष्ट हो गया था, उस समय राजा परीक्षित् को अपने आप पर अहंकार उत्पन्न हो गया था, वहीं अहंकार इस समय सत्पुरुषों में प्रविष्ट हो गया है। (श्रीमद्-भागवत के प्रथमस्कंध के सत्रहवें अध्याय में वर्णित है कि राजा परीक्षित् को ज्ञात हुआ कि कलियुग उनके राज्य में प्रविष्ट हुआ है। इस पर उन्हें अहंकार उत्पन्न हुआ कि, उनके जैसे राजा के रहते कलियुग-कैसे प्रविष्ट हुआ सो वे उसका वध करने निकले। कलियुग ने तब उनकी शरणागति ली और तब भी अपने राजा होने के अहंकारवश उन्होंने कलियुग को अभयदान दे दिया और उसे 'जुआ', 'शराब', 'व्यभिचार', 'हिंसा' एवं 'अधर्म से कमाया हुआ स्वर्ण' इन पाँच स्थलों पर स्थान दे दिया। यहाँ टीकाकार यह बता रहे हैं कि उसी अहंकार ने वर्तमान में सत्पुरुषों में प्रवेश कर लिया है, यह अर्थ है।) जिस प्रकार कलियुग से संबंध हो जाने से परमधार्मिक परीक्षित् राजा में भी कलियुग को स्थान देने के कारण तीन प्रकार के दोष उत्पन्न हो गये और उनमें ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो गई कि उन्होंने मूर्खतावश उस ब्राह्मण के संग दुर्व्यवहार कर दिया, उसी प्रकार सत्पुरुषों का भी कलियुग से संबंध हो जाने के कारण उनमें अपने धर्म का परित्याग करने की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है एवं अहंकारवश वे मोहित हो जाते हैं। इससे धर्म करनेवाला भी असाधक है, यह ज्ञात होता है। अब जहाँ धर्म करने वाला ही अहंकार से मोहित है, वहाँ उसके द्वारा किया गया धर्म यदि असाधक हो तो इसमें क्या आश्चर्य है, यह कैमुतिकन्याय भी यहाँ लागू पड़ता है।

अल्पमौढ्ये प्रकारान्तरेणापि तदपगमः स्यात्तदभावार्थं विशेषेण मूढत्वम। तत्र निदर्शनं पापानुवर्तिष्विति। पापा निषिद्धकृतिभिस्तत्फलरूपतां प्राप्तास्तदत्तविषयभोक्तृत्वेनानुवर्तित्वम्। ननु तेपि स्वोपजीव्यान् परमधर्मादिकं बोधयन्त इव दृश्यन्ते कथं ते तादृशास्तत्राह लाभेति। लाभार्थं या पूजा तस्यामेव कृतप्रयत्ना न तु भगवत्कीर्तनादौ सन्तुष्टाः सन्तः परस्परं पूजयन्ति, तादृशी तु नापेक्षिता। यद्वा, स्वलाभार्थं स्वपूजार्थं च यत्नो येषामेतेनैतादृशकर्तृणां मन्त्रादीनामसत्त्वात् द्रव्याणामप्यसाधकत्वमुक्तम्। अत्र कर्तृणां तदनुवर्तिनामेव द्रव्यादीनामसाधकत्वात्पूर्वं कर्तृणामसाधकत्वमुक्त्वा पश्चात्

द्रव्याणामुक्तं, निमित्तोक्तौ नैमित्तिकोक्तिरपि सङ्गच्छते । तेन 'स्वयं नष्टः परान्नाशयती'तिन्यायेन सतां परम्पराप्येवंरूपैव जाता । यदि तेन स्वस्य परस्य वामुष्मिकं सिद्धयत्तदा ते सन्त एव भवेयुः । वृत्त्यर्थं तेषां तत्करणात् 'भिक्षाशया च गृह्णन्ति मम नामानि चार्जुन । अमुख्यास्ते जनाः पार्थ दूरतः परिवर्जयेत्' इत्यादिवाक्यैस्तेषामतथात्वप्रतिपादनाद्धर्मध्वजिवत्तत्कृतं सर्वमकृतप्रायं भवतीत्येवंरूपसर्वनाश उपस्थिते सर्वेषां सर्वकार्यसाधक आश्रय एवाचार्यैरुपदिष्ट इति तथाह कृष्ण एवेति ॥४॥

यदि इनमें मूर्खता थोड़ी होती तब तो दूर भी हो सकती थी परंतु अधिक है अतः आचार्यचरण इन्हें विशेषरूप से मूर्ख (विमूढ़) कह रहे हैं। इन्हें विशेषरूप से मूर्ख क्यों कहा है, यह आचार्यचरण पापानुवर्तिषु इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। पाप अर्थात् निषिद्ध कृतियों से प्राप्त हुए फल को प्राप्त हो गये हैं एवं उन कृतियों से प्राप्त हुए विषयों को भोगने का अनुसरण करते हुए रह रहे हैं। परंतु यहाँ संदेह होता है कि ये भले ही अहंकारी हो या विमूढ़ हों परंतु अपने निकटजनों को तो परमधर्म का बोध कराते हुए ही दिखाई पड़ रहे हैं, फिर उन्हें कैसे दुष्ट माना जा सकता है ? तो आचार्यचरण लाभ इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, फिर भी ये लोग लाभ के लिए की जाने वाली पूजा का ही प्रयत्न करते हैं, भगवद्-कीर्तन आदि से संतुष्ट नहीं होते, भगवद्-गुणानुवाद, भगवद्-कीर्तन इत्यादि से संबंधित पूजा उन्हें अपेक्षित नहीं होती है। अथवा यह समझ लें कि जो लोग केवल अपने लाभ के लिए और अपनी पूजा के लिए प्रयत्नशील हैं, ऐसे लोगों के मंत्रादि भी अशुद्ध होने के कारण उनकी पूजा-सामग्री भी अयोग्य, है यह आचार्यचरण कर रहे हैं। यहाँ धर्म करने वालों एवं उनका अनुकरण करनेवालों की पूजा-सामग्री को अयोग्य कहने के कारण यह समझना चाहिए कि आचार्यचरणों ने पहले धर्मकर्ता को अयोग्य बताया, फिर उसकी पूजा सामग्री को। अर्थात् जब कारण ही अयोग्य है तो कार्य तो अयोग्य होगा ही, यह अर्थ है। अत सत्पुरुष भी "खुद तो डूब चुका, अब दूसरों को भी डुबो रहा है" इस प्रकार की मनोधारणा वाले हो गये हैं। यदि इन लोगों से खुद का या दूसरों का कोई अलौकिक कार्य सिद्ध हो पाता, तब तो ये निश्चितरूप से संत ही कहलाते परंतु नहीं हैं क्योंकि अपने भरणपोषण के लिए ये धर्म कर रहे हैं अतः "भिक्षा के लिए जो मेरा नामग्रहण करते हैं, वे मेरे गौण भक्त हैं। हे अर्जुन ! दूर से ही उनका त्याग कर देना चाहिए" इत्यादि वाक्यों के अनुसार ऐसे लोग धर्म के योग्य नहीं हैं और धर्मध्वजा लेकर आगे चलने वालों की तरह इनका किया धरा भी सभी कुछ व्यर्थ ही होता है। इस प्रकार का सर्वनाश चहुँ ओर फैल चुका है अतः समस्त कार्यों का साधक तो भगवद्-आश्रय ही है सो आचार्यचरण उसी को "कृष्ण ही मेरी गति है" इस वाक्य द्वारा उपदिष्ट कर रहे हैं ॥४॥

ननु गोपालादितान्त्रिकवैदिकमन्त्रहरिदिनव्रतादीनां विद्यमानत्वात्तेषां च सर्वथा शोधकत्वात्कथं न तैस्तेषां पूर्वरूपत्वं तत्राह-

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञाननष्टेष्विति । तेषां परितो ज्ञानमङ्गान्युरीकृत्य फलपर्यन्तं स्वरूपनिर्धारः । किञ्च, गोपालादिमन्त्राणामपि वाराङ्गनावशीकरणादिकं फलत्वेन श्रूयत इ'त्यनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे' इतिवचनाद्भगवन्मन्त्राणां विषयादिषूपयोगोऽपरिज्ञानादेव भवति तेनानर्थोपशमस्य भक्तियोगस्य विषयाद्युपयोगे जाते नष्टत्वम् । गुरुकुलावास-ब्रह्मचर्यशूद्राश्रवणानध्यायरहित्यपूर्वकपठितानां वेदमन्त्राणां 'अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावक' इतिन्यायेन सम्यक्तात्पर्याज्ञानेप्यध्ययनमात्रेणैव सर्वसाधकत्वात्कथं नष्टत्वं तत्राह-अव्रतयोगिष्विति । व्रतेष्वयोगो येषां, व्रतानामयोगो येष्विति वा । 'अधुना ह्यधिकारास्तु सर्व एव गताः कलौ' इतिवचनात्कृतानामपि तेषामव्रतयोगित्वम् ।

परंतु गोपालमंत्र, तांत्रिक-वैदिक मंत्र, एकादशी-व्रत आदि तो सर्वत्र किए ही जा रहे हैं, क्या ये सब भी उन्हें शुद्ध नहीं कर सकते ? यह प्रश्न होने पर आचार्यचरण आगे के श्लोक में इसका निराकरण कर रहे हैं।

अपरिज्ञाननष्टेषु इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि इन मंत्रों के अंग से लेकर फलपर्यंत स्वरूप को समझना 'परिज्ञान' कहलाता है, ऐसा ज्ञान आज किसी को नहीं है, यह अर्थ है। और, गोपालमंत्रों इत्यादि का उपयोग भी वेश्याओं को वश में करने के लिए होता सुना गया है और श्रीमद्-भागवत में तो "अनर्थों की शांति का साक्षात् साधन भगवान का भक्तियोग है (श्री.भा.१/७/६)" इस प्रकार से कहा गया है अतः यदि कोई इन भगवद्-मंत्रों का उपयोग सांसारिक विषयों के लिए करता है, तो वह अपरिज्ञान के कारण ही है। इसलिए अनर्थ की शांति करनेवाला भक्तियोग भी सांसारिक विषयों में उपयोग किया जाने के कारण नष्ट हो जाता है। किंतु यहाँ कोई यदि यह शंका करे कि, वेदमंत्र तो उद्धार करने वाले हैं और यदि गुरुकुल में रहते हुए, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए एवं शूद्रों को वेदोच्चारण न सुनाते हुए और इनके अध्ययन में प्रमाद न करते हुए इन मंत्रों का पाठ किया जाय, तो भले ही इनका भलीभाँति तात्पर्यज्ञान न हो, फिर भी अध्ययन मात्र से ये

धर्म के साधक बन सकते हैं क्योंकि चाहे अनजाने में ही अग्नि को छू लिया जाय, वह तो फिर भी जलायेगी ही। इसी प्रकार चाहे अनजाने में ही इन मंत्रों का पाठ कर लिया जाय, उद्धार तो फिर भी होगा ही कि नहीं ? यदि ऐसी शंका हो तो आचार्यचरण इसका स्पष्टीकरण अव्रतयोगिषु शब्द के द्वारा कर रहे हैं। व्रत-नियम से जो जुड़े हुए नहीं हैं या फिर जिनकी दिनचर्या में व्रत-नियम आदि जुड़े हुए नहीं हैं, वे अव्रतयोगी हैं। और "वर्तमान में कलियुग के कारण समस्त धर्म के अधिकार नष्ट हो चुके हैं (शा.प्र.-१९)" वाक्यानुसार यदि व्रत किए भी जाएँ तो वे व्यर्थ ही हैं।

ननु किमित्यायासपूर्वकं कर्मव्रतादीनामसाधकत्वं साध्यते, किञ्च, 'दानव्रततपोहोम' 'जन्मान्तरसहस्रेष्वि'त्यादिवाक्यैः कर्मव्रतादीनां भक्तावपि साधकत्वं मन्तव्यं, तेन 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरमि'तिन्यायेन पूर्वमेव तेषामसाधकत्वं न वक्तुं शक्यमिति चेत्तत्राह - सत्यं, तानि वाक्यानि प्रावाहिकभक्तिपराणि। नो चे'न्न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणाः' ' मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम्' ' नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेने'त्यादिश्रुतिस्मृतयश्च न सङ्गच्छेयुः। भक्तौ भगवदिच्छैकसाध्यत्वं धर्माद्यसाध्यत्वं श्रीमत्स्वामिचरणैर्भक्तिहेतुनिर्णये प्रपञ्चितमस्तीति नात्रोच्यते।

परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि आखिरकार इतने प्रयत्नपूर्वक आप इन कर्म-व्रत आदि को असाधक क्यों कह रहे हैं क्योंकि श्रीमद्-भागवत में दान-व्रत-तप-होम-जप-स्वाध्याय-संयम-श्रेय एवं अन्य विविध साधनों द्वारा कृष्ण-भक्ति सिद्ध होती है (१०/४७/२४) एवं "जन्मान्तरसहस्रेषु" वाक्यानुसार कर्मव्रतों से भक्ति भी साधी जा सकती है, यह माना गया है अतः "कीचड़ में पैर रखने के बाद धो लेने से अच्छा ये है कि उसमें पैर रखा ही न जाय"। इसी प्रकार आप कर्मव्रतों को नष्ट हुआ मान रहे हैं, तो शास्त्रों में इनका विधान ही क्यों किया जाता ? यदि किसी को ऐसी शंका हो तो, बात सच है परंतु इतना जान लें कि ये सभी वाक्य प्रावाहिक-भक्तिमार्ग के हैं, शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग के नहीं। अन्यथा तो फिर इसी श्रीमद्-भागवत में "मुझे योग, साख्य, धर्मपालन, स्वाध्याय, तपस्या, त्याग, ईष्टापूर्त, दक्षिणा इत्यादि कोई वश में नहीं कर सकते। व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम-नियम भी नहीं। मैं केवल भक्ति से वश में हो सकता हूँ (११/१२/१,२)" इस प्रकार से भगवान क्यों कहते ? और भी, "मेरे शरणागत होकर स्त्री, शूद्र, वैश्य एवं पापयोनि वाले भी परमगति को प्राप्त कर लेते हैं (भ.गी.९/३२)", "यह परमात्मा न प्रवचनों, न बुद्धि, न बहुश्रुत होने से प्राप्त होता है अपितु यह परमात्मा जिसका वरण करना चाहता है , उसे प्राप्त होता है (कठो. १/२/२३)" इत्यादि श्रुतिस्मृति-वाक्यों की संगति भी कैसे मिलायेंगे। और, भक्ति केवल भगवद्-इच्छा से ही सिद्ध हो सकती है, धर्म-आदि साधनों से नहीं - यह बात श्रीगुसाईंजी ने भक्तिहेतुनिर्णय में विस्तार से कही है अतः मुझे यहाँ और अधिक इस विषय में कहने की आवश्यकता नहीं है।

तेन पुष्टिभक्तौ तु ' न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म एव च। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता' 'न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च' ' प्रीयतेमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्' 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' 'नाहं वेदैर्न तपसे'त्यादिवाक्यसहस्रैर्भगवदङ्गीकृतानामेव तत्प्राप्तिः। तस्माद्भगवदाश्रये कर्मादीन्यप्रयोजकानि। ननु 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावते' त्यादिवचनैर्भगवदीयानामपि नित्यनैमित्तिकव्रतादिकरणमावश्यकं तत्र वेदसाधकत्वं वदति भगवान् तदा भगवदीयानामपि नित्यनैमित्तिककर्मादिकरणमेकादशीजन्माष्टमीव्रतादिकरणं च व्यर्थमिति चेत्, न। तत्र पूर्वं भगवदीयानां कर्मव्रतादीनां स्वरूपं वक्तव्यं तदेवाहुः-'यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्संपादय नः प्रभो' 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्' इति। तेन भगवदीयकृतकर्मणां 'यस्य स्मृत्ये'त्यादिवाक्यैः पूर्णत्वमन्येषामपूर्णत्वादसाधकत्वम्। तेन स्वमार्गीयाणां तेषां तेभ्यो भेदः सूचितः।

इसलिए "मुझे योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग से वैसे प्राप्त नहीं किया जा सकता, जिस प्रकार उर्जित हुई भक्ति के द्वारा किया जा सकता है (श्री.भा.११/१४/२०)", "भगवान को प्रसन्न करने के लिए दान, तप, यज्ञ, शारीरिक - मानसिक पवित्रता और अनुष्ठान पर्याप्त नहीं हैं, भगवान तो केवल निष्काम प्रेम-भक्ति से ही प्राप्त होते हैं, इसके अतिरिक्त और सभी कुछ तो मात्र विडंबना है (श्री.भा.७/७/५२)", "समस्त धर्मों का त्याग करके केवल मेरी शरण में आ जाओ (भ.गी.१८/६६), "हे अर्जुन ! मैं न तो वेद से और न ही तप के द्वारा वैसे देखा जा सकता हूँ, जैसा तुमने मुझे देखा है (भ.गी.११/५३)" इत्यादि हजारों वाक्यों द्वारा पुष्टिभक्ति तो उन्हें ही प्राप्त हो सकती है, जिन्हें प्रभु अंगीकार कर लेते हैं - यह सिद्ध होता है। अतएव भगवद्-आश्रय प्राप्त करने में ये कर्म-व्रत आदि निष्प्रयोजक सिद्ध होते हैं, यह समझ लेना चाहिए। परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि "कर्म, व्रत आदि भी तभी तक करने चाहिए, जब तक मेरी लीला-कथा के श्रवणकीर्तन में श्रद्धा न उत्पन्न हो जाय (श्री.भा.११/२०/९)" इत्यादि भगवद्-वचनों के द्वारा भगवदीयों को भी नित्य-नैमित्तिक व्रत आदि करने तो आवश्यक हो जाते हैं और यहाँ इस श्लोक में भी भगवान वैदिक कर्मव्रतों को धर्म का साधक बता रहे हैं। ऐसे में आपके अनुसार भगवदीयों को भी इस प्रकार के एकादशी-जन्माष्टमी व्रतादि के नित्य-नैमित्तिक कर्म करने तो व्यर्थ हो जायेंगे ? यदि ऐसी शंका होती हो तो नहीं, ऐसा नहीं है। क्योंकि इस

एकादश-स्कंध के वाक्य से पहले ही दशमस्कंध में आए इन वाक्यों में भगवदीयों के कर्मव्रत आदि का स्वरूप समझ लो, जहाँ युधिष्ठिरजी ने "हे भगवान ! मैं राजसूय-यज्ञ के माध्यम से आपकी विभूतियों का यज्ञ करना चाहता हूँ, आप मेरे संकल्प को पूर्ण करें (१०/७२/३)" इस प्रकार से कहा है एवं गीता में भगवान ने अर्जुन से "जो कर्म करे, जो कुछ खाए, जो हवन करे, जो कुछ दान दे, जो तप करे उसे मेरे अर्पण कर (९/२७)" इस प्रकार से कहा है । अतः सिद्ध होता है कि भगवदीयों द्वारा किए गये कर्म "जिनका नाम-स्मरण करने से तप-यज्ञ-क्रिया आदि की अपूर्णता पूर्णता में बदल जाती है, उस भगवान को नमस्कार है" (बृहन्नारदीय पू.खं. १७/१०८) इत्यादि वाक्यों के अनुसार भगवत्कृपा के कारण ही पूर्ण हो पाते हैं, और भगवदीयों से अतिरिक्त अन्यों के कर्म तो अपूर्ण रहने के कारण असाधक ही रहते हैं । इसी कारण यहाँ स्वमार्गीय जीवों एवं मर्यादामार्गीय जीवों में भेद सूचित किया गया है ।

वस्तुतस्तु यत्र विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितानामपि तत्प्राप्तिस्तत्राकामतयापि कृतानां कर्मव्रतादीनामसाधकत्वं किमाश्चर्यम् । एतेन सर्वसाधनरहितानामेव भगवदाश्रये मुख्योधिकार इति ज्ञेयम् । तेन तेषां सपरिकराणां ज्ञानाभावे त एव नष्टा जाता इत्याह नष्टेष्विति । ननु तदधिष्ठातृदेवतानां तद्रूपसाधनैकलभ्यप्रसादानां विद्यमानत्वात्कथमपरिज्ञानं नाशो वा भवेत्तत्राह- तिरोहितेति । अर्थरूपा देवास्तेभ्यस्तिरोहिता जातास्तेन गतसाराः सन्तस्तेपि तथैव जाता इति भावः ॥५॥

वास्तव में तो मूल बात यह है कि, जिस पुष्टिभक्तिमार्ग में विवेक-धैर्य-भक्ति आदि से रहित जीवों को भी भगवत्प्राप्ति बताई गई है, वहाँ निष्कामरूप से किए जाने वाले कर्म-व्रत आदि भी भगवत्प्राप्ति में निष्फल कह दिए जाएँ तो क्या आश्चर्य की बात है ? इन सभी विश्लेषणों से सिद्ध होता है कि समस्त साधनों से रहित जीव ही भगवद्-आश्रय प्राप्त करने में मुख्य अधिकारी हैं, यह जान लेना चाहिए । और इन मंत्र-कर्म-व्रत आदि का भलीभाँति ज्ञान न होने के कारण ये सभी नष्ट हो गये हैं अतः आचार्यचरण **नष्टेषु** इत्यादि शब्द कह रहे हैं । तथापि एक संदेह यह रह जाता है कि, उन तंत्र मंत्रों के अधिष्ठाता देवता (उन मंत्रों में रहनेवाले देवता) जो केवल उन मंत्रों में कहे साधनों द्वारा ही फलदान करते हैं, वे तो हैं ही, क्या वे हमारे कार्यों को सिद्ध नहीं करा सकते ? उनके रहते मंत्रों के अपरिज्ञान या नाश की बात कैसे की जा रही है ? तो आचार्यचरण इसका समाधान तिरोहित इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं । आपश्री का तात्पर्य यह है कि, इन मंत्रों के अर्थरूप देवता उन मंत्रों से तिरोहित हो गये हैं अतः मंत्र भी सारहीन होकर अपनी सामर्थ्य खो चुके हैं, यह भाव है ॥५॥

ननु तान्त्रिकमन्त्राद्यभावेप्यग्निहोत्रचान्द्रायणकृच्छ्रादिनां विद्यमानत्वात्कथं न कार्यसिद्धिस्तत्राह-

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावादविनष्टेष्विति । जैमिनिकणादगौतमादयो हि ऋषयस्तामसास्तैः श्रुतिस्मृत्यर्थविचारे क्रियमाणे कालसम्बन्धादुद्रिक्तस्वभावाः सन्तः कर्मव्रतादिप्रतिपादने निरन्तरसन्तन्यमानपरस्परप्रतिकूलासत्तर्कैरुज्झितव्यवसाया जाताः। एवं वस्तुनिर्धाराभावे तदन्तेवासिपरम्पराया अपि पूर्वापेक्षयाप्यधिकदोषयुक्तत्वेन विविधकुतर्कोपेतैः परस्परविरुद्धैर्नाना-वादरूपैस्तद्वाक्यैः सर्वाण्येव कर्मव्रतादीनि विशेषेण नष्टानि । फलस्वरूपाभ्यां वस्तुनिर्धाराभावे तद्रूपेण कृतमकृतप्रायं भवतीति तथा । अत एव भगवतापि तथैवोक्तं 'ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोयमधितिष्ठति । विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषो भवेत्' इति । तन्मार्गस्यैव तथात्वात् ।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि, भले ही तंत्र मंत्रादि सामर्थ्यहीन हो गये हों या नष्ट हो चुके हों परंतु अग्निहोत्र, चान्द्रायण, कृच्छ इत्यादि प्रायश्चित्त विधियाँ तो उपलब्ध हैं ही, क्या प्रायश्चित्त करके अशुद्धि को शुद्धि में नहीं बदला जा सकता ? तो आचार्यचरण इसका उत्तर अग्रिम श्लोक द्वारा दे रहे हैं ।

नानावादविनष्टेषु इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । जानना चाहिए कि जैमिनी - कणाद - गौतम आदि ऋषि तामसी थे और जब इन्होंने श्रुति-स्मृति के अर्थों का विचार किया तो कालसंबंध हो जाने के कारण इनका स्वभाव उग्र हो गया और कर्मव्रत आदि नियमों का प्रतिपादन करने में निरंतर एकदूसरे पर व्यंग्य करते हुए प्रतिकूल मिथ्या तर्कों से हुआ यह कि, जिस वेद के मूल अभिप्राय भगवत्प्राप्ति के लिए वे तर्क -कुतर्क कर रहे थे, वह एक ओर रह गई । इस कारण मूल वस्तु का तो कुछ निर्धारण हुआ नहीं, और तो और उनके शिष्य भी परंपरागतरूप से पहले की अपेक्षा अधिक दोषयुक्त होते चले गये एवं विविध प्रकार के तर्कों-कुतर्कों से परस्पर विरुद्ध अनेक प्रकार के वाद-विवाद से समस्त कर्म-व्रत आदि विशेषरूप से नष्ट हो गये । अतः किसी भी कर्मव्रत आदि के न तो फल का निर्धारण हो पाया, न स्वरूप का अतः सब कुछ किया-धरा न किए के बराबर हो गया सो आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं कि नाना प्रकार के वादों द्वारा कर्म-व्रत आदि नष्ट हो गये हैं । इसी कारण भगवान

ने भी यही बात "यह संसारी मनुष्य समझे-बेसमझे अनेक प्रकार के कर्मों का अनुष्ठान करता है। उनमें जो समझबूझ कर करते हैं उनके कर्म सफल होते हैं, नासमझ के नहीं (श्री.भा.१०/२४/०६)" इस वाक्य द्वारा कही है। क्योंकि कर्मज्ञान आदि मार्ग समझ विचार कर ही अनुकरण करने योग्य होते हैं।

ननु साङ्गाग्निहोत्रव्रतप्रतिपादकानां श्रुतिस्मृतीनां विद्यमानत्वेन तदनुसारेण तत्कर्तारोपि दृश्यन्ते कथं तन्नाश इति चेत्तत्राह-पाषण्डैकेति । परप्रतारणार्थं धर्मवत्कृत्वा प्रदर्शनं पाषण्डः, प्राकृतनित्यवैकृतकाम्यस्वरूपसाधनफलादिपरिज्ञानाभावे चित्तादिशुद्ध्यसाधकत्वात् ' अग्निहोत्रं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम् । देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जये'दित्यादिवाक्यात्तेषामिदानीं निषिद्धत्वात्कृता अप्याभासत्वमेव प्राप्नुवन्तीति तत्कृतेरपि पाषण्डार्थमेवैको यः प्रकर्षेण यत्नस्तद्रूपत्वमेव स्यात् । एवमखिलकर्मव्रतानां पाषण्डैकप्रयत्नरूपत्वे जाते ब्रह्मक्षत्राणामप्याश्रय एव साधीयानित्याह-कृष्ण इति ॥६॥

ठीक है, परंतु अंगसहित अग्निहोत्र, व्रत आदि का प्रतिपादन करने वाली श्रुति-स्मृतियों के वाक्य तो उपलब्ध होते ही हैं एवं उनका अनुकरण करने वाले लोग भी दिखाई तो पड़ते ही हैं, फिर यह कैसे मान लिया जाय कि इनका नाश हो गया है ? यदि ऐसी शंका हो तो आचार्यचरण पाषण्डैक इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि, दूसरों को पीड़ा देने के लिए धर्म का ढोंग करना पाखंड कहलाता है। आज भले ही कुछ लोग अग्निहोत्र, व्रत आदि करते दिखाई पड़ते हों तथापि प्राकृतकर्म-नित्यकर्म, वैकृतकर्म एवं काम्यकर्म इत्यादि कर्मों के स्वरूप-साधन-फल आदि का परिपूर्ण ज्ञान न होने से ये चित्त-शरीर इत्यादि की शुद्धि में सहायक नहीं हो सकते। और "अग्निहोत्र, गाय की बलि, संन्यास, पलपैतृक, देवर से पुत्र का जन्म-ये पाँच कर्म कलियुग में त्याग देने चाहिए" इस वाक्यानुसार इस समय ये अग्निहोत्र-व्रत आदि करने निषिद्ध हैं और यदि फिर भी करें तो भी मिथ्या ही है। अतः जो ये सब कर रहे हैं, वे केवल पाखंड करने का ही प्रयत्न कर रहे हैं सो वे पाखंडी ही सिद्ध हुए। इस प्रकार से समस्त कर्म-व्रत आदि केवल पाखंड के लिए किए जाने के कारण ब्राह्मण एवं क्षत्रियों को भी भगवद्-आश्रय ही करना चाहिए अतः आचार्यचरण "कृष्ण ही मेरी गति हैं" यह उपदेश कर रहे हैं ॥६॥

नन्वेवं सर्वथा सदोषाणां तृतीयैकमार्गप्रवेशयोग्यानां ' गतिर्ममे'त्येवंरूपोक्तिमात्रेण कथं भगवान् सर्वनिरपेक्ष आश्रयो भवेत्तत्राह-

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादिदोषाणां नाशक इति । ब्रह्मवादे भगवतः सर्वाश्रयत्वेपि सर्वार्थे भक्तिमार्गीयाश्रयस्य जीवानां सर्वथा कर्तव्यत्वादाश्रयभवने महानुत्साहो भवति । यथा स्वनाममाहात्म्यख्यापनार्थं नामोक्तिमात्रेणैवाजामिलादीनां सर्वदोषनाशको जातः स्वधर्मपक्षपातादेवं भक्तिमार्गे पक्षपातात्तन्मार्गीयाश्रयमाहात्म्यख्यापनार्थं तादृगुक्तिमात्रेणैव भगवाँस्तथाविधो भवतीति भावः । तथापि क्व जीवाः क्षुद्रतमाः क्व वा ब्रह्मादिदुर्लभकथो भगवानित्याश्रयभवननिश्चयाभावे कथं वा तमुद्दिश्य तथोक्तौ प्रवृत्तिरपि भवेत्तत्राह-अनुभव इति। अत्रास्मच्छब्दोध्याहर्तव्यः। एवमाश्रयभवनोन्मुखो भगवान् मदनुभवे स्थित इति निर्णितार्थोहं वदामीत्यज्ञानान्यथाज्ञानप्रतिकूलतकैर्नान्यथा शङ्कनीयमिति भावः । चित्तस्यातथात्वेपि निरन्तरं तदनुसन्धानपूर्वकमेतदुक्तौ सत्यां मदनुभूतो भगवानप्यनुभवारूढो भवतीति मदीयैरेतदेव सर्वथा कार्यमित्यलं विस्तरेण ।

तो फिर ऐसे सभी प्रकार से दोषयुक्त जीवों को जो तृतीयमार्ग के योग्य हैं अर्थात् बारंबार जीवन-मरण के चक्र में फँसे रहने वालों को केवल "कृष्ण ही मेरी गति हैं" इतना ही कह देने मात्र से सर्वनिरपेक्ष-भगवान कैसे उसके आश्रय बन जायेंगे ? तो इसका स्पष्टीकरण आचार्यचरण अग्रिम श्लोक द्वारा दे रहे हैं।

अजामिलादिदोषाणां नाशकः इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। ब्रह्मवाद में यह बात कही गई है कि यद्यपि भगवान सभी के आश्रय हैं, तथापि समस्त अर्थों में भक्तिमार्गीय-आश्रय करना जीव का परम कर्तव्य है और इसी कारण जब कोई भक्तिमार्गीय जीव भगवान का आश्रय लेता है, तब भगवान को बड़ा उत्साह होता है। जैसे भगवान ने अपने नाम का माहात्म्य प्रसिद्ध करने के लिए केवल उनका नाम लेने मात्र से अजामिल जैसे जीवों के समस्त दोषों का नाश कर दिया क्योंकि भगवान को अपने भक्तिमार्ग का विशेषरूप से पक्षपात है। अतः भक्तिमार्गीय - आश्रय के माहात्म्य को प्रसिद्ध करने के लिए केवल नाम लेने से ही भगवान उसके आश्रय बन जाते हैं, यह भाव है। फिर भी हमें यह संदेह रहता है कि, कहाँ क्षुद्रतम जीव और कहाँ ब्रह्मादि को भी दुर्लभ भगवान; ऐसे भगवान हमारे आश्रय हो जायेंगे इसे निश्चयपूर्वक कैसे कहा जा सकता है ? और केवल आपके "कृष्ण ही मेरी गति हैं" इतना कह देने मात्र से कैसे जीव की प्रवृत्ति उस ओर हो जायेगी ? तो आचार्यचरण इसे अनुभवे इत्यादि शब्दों से समझा रहे हैं। यहाँ पर श्लोक का अर्थ करते समय - "भगवान ने अजामिल जैसे जीवों के भी समस्त दोषों का नाश कर दिया

था, यह बात हमारे अनुभव में है" इस प्रकार से करना चाहिए। आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि, भगवान इस प्रकार से जीव के आश्रय बन जाते हैं - यह बात हमारे अनुभव में है अतः इस बात का निर्णय करके मैं कह रहा हूँ। अतः अज्ञान-अन्यथाज्ञान के प्रतिकूल तर्को द्वारा हमें अन्यथा-शंका नहीं करनी चाहिए, यह भाव है। अर्थात् आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि, चित्त में भले ही भगवद्-आश्रय दृढ़ न हुआ हो, तब भी निरंतर भगवान का अनुसंधान करने से मेरे कहे अनुसार, मेरे द्वारा अनुभूत भगवान तुम्हारे भी अनुभव में आ जायेंगे। अतः मेरे निजजनों को तो ऐसा ही करना चाहिए। अब इस पक्ष को समझाने के लिए और अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है।

ननु यथा कलौ श्रुत्यादिभिर्ज्ञातमाहात्म्या अपि धर्मादयो नष्टाः तथा 'कलौ दशसहस्राणि विष्णुस्त्यक्ष्यति मेदिनीम् । तदर्द्धं जाह्नवीतोयं तदर्द्धं ग्राम्यदेवता' इत्यादिना बाह्यतो भगवत्सान्निध्याभावे तन्माहात्म्यमपि तिरोभूतं भविष्यतीति कथमज्ञातमाहात्म्यास्तदाश्रयोक्तौ प्रवृत्ता भविष्यन्तीति चेत्तत्राह ज्ञापितेति । ज्ञापितमखिलमखिलेभ्यो भक्तेभ्यो वा श्रुतिपुराणश्रीभागवतादिना साक्षात्परम्परया वा माहात्म्यं यस्य येनेति वा । तथाहि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यादिनाऽखिलेभ्यः सृष्टिकर्तृत्वबोधिकया श्रुत्या माहात्म्यख्यापनम् । प्रवृत्तिपराणां कर्ममाहात्म्यरूपमेव भगवन्माहात्म्यज्ञापनं तत्रैव पर्यवसितमतित्वात्तेषामेवं ज्ञानिनामुपासकानां च । भक्तानां तु साक्षादेव यथा 'जृम्भतो ददृशे इदम् ' यथाच 'गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत् ' एवमूह्यमुरुधा सर्वत्र ॥७॥

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, जैसे इस कलिकाल में तो श्रुतिपुराण आदि के ज्ञान से जो धर्म आदि का माहात्म्य ज्ञात हुआ है, वे धर्म तो नष्ट हो चुके हैं एवं इसके अतिरिक्त "कलिकाल में दस हजार वर्षों के पश्चात् भगवान विष्णु पृथ्वी छोड़ देंगे, इससे आधे-समय में गंगाजल एवं गंगाजल से आधे-समय में ग्राम्यदेवता भी पृथ्वी छोड़ देंगे" इस वाक्य के अनुसार भगवत्सन्निधि का अभाव होने के कारण बाहरी रूप से तो भगवान का माहात्म्य भी तिरोभूत हो जायेगा, तो भगवान के माहात्म्य से अनभिज्ञ जीव कैसे उनके आश्रय की ओर प्रवृत्त होंगे ? तो इसका समाधान आचार्यचरण **ज्ञापित** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि भगवान का माहात्म्य अज्ञात नहीं है। साक्षात्रूप से अथवा परंपरारूप से जिन भगवान का अखिल माहात्म्य ज्ञापित है अथवा भगवान के समस्त भक्तों को उनका माहात्म्य ज्ञापित है, अथवा तो श्रुतिपुराण-श्रीभागवत जैसे शास्त्रों द्वारा जिसका माहात्म्य ज्ञापित है या इन शास्त्रों द्वारा जिन्होंने अपना माहात्म्य ज्ञापित किया है, उन भगवान को आचार्यचरण ज्ञापिताखिलमाहात्म्य कह कर संबोधित कर रहे हैं। जैसे "इस परमात्मा से सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधि, औषधि से अन्न और अन्न से मनुष्य उत्पन्न हुआ (तै.उ.१/२/१)" इत्यादि श्रुतियों द्वारा भगवान को सृष्टिकर्ता के रूप में बोध कराने वाली श्रुति के द्वारा भगवान का माहात्म्य सर्वत्र प्रसिद्ध है। जिन जीवों की प्रवृत्ति कर्ममार्ग में है, उन्हें भगवान ने कर्ममाहात्म्य के रूप में ही माहात्म्यज्ञान करा दिया है क्योंकि उनकी बुद्धि कर्मकांड तक ही सीमित है। ज्ञानमार्गीयों एवं उपासनामार्गीयों को भी भगवान ने इसी प्रकार माहात्म्यज्ञान करा दिया है। भक्तिमार्गीयों को तो "भगवान ने जँभाई ली और माता यशोदा को उनके मुख में संपूर्ण ब्रह्मांड के दर्शन हो गये (श्री.भा. १०/७/३५)", "माता यशोदा गोद में श्रीकृष्ण को लेकर बैठी हुई थीं और अचानक वे एक चट्टान के समान भारी हो गये (श्री.भा. १०/७/१८)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार साक्षात्रूप से अपना माहात्म्य दिखा देते हैं। इस प्रकार से सभी कुछ समझ लेना चाहिए ॥७॥

ननु 'आकाशात्पतितं तोयं यथे'त्यादिनोक्तप्रकारेण देवतान्तरं भजतामपि सर्वमुक्तौ भगवत्सम्बन्धो भविष्यतीति किमित्येवं निर्बन्धेनाश्रय एवोच्यते तत्राह-

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति । ब्रह्माणमारभ्य सर्व एव देवाः प्राकृता आधिभौतिकान्तःपातित्वात् । बृहदक्षरं गणितानन्दकं स्वार्थे 'कः' प्रत्ययः । तेन जीवेषु निरानन्दहेतूनामगणितानां विद्यमानत्वाद्यत्र गणितानन्देपि न तेषामानन्दपूर्णता तत्र प्राकृतैः कः पुरुषार्थः सिद्ध्येत् । तथापि विराडक्षरयोरपि तदात्मकत्वाविशेषेण कार्यसिद्ध्यभावे कथं मूलाश्रयणेन सर्वथा तद्भवत्येवेत्येवं निश्चीयते तत्राहुः-पूर्णेति । नहि पूर्वोक्तैः कैरप्यानन्दः पूर्यते । तत्र दुःखापगमाभावे पूरितोप्यपूरित एव स्यात्तत्राह-हरिरिति । यद्य 'प्यस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'त्यादिना देवेष्वपि तद्वत्त्वमस्ति तथापि न तथा तेषामन्यपूरकत्वं तदल्पीयस्त्वात्। निरवधिदारिद्र्यस्य सावधिधनेनापगमस्याशक्यत्वादेवमपूर्णानपि प्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं कृष्ण एव पूर्णान् करोति । ' तं सत्यमानन्दनिधिं भजेते'त्तिन्यायेन स एव तथाकर्तव्य इति दिक् ॥८॥

परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि "जिस प्रकार आकाश से गिरने वाला जल अंत में तो सागर में ही जा मिलता है, उसी प्रकार किसी

भी देवता को किया गया नमस्कार अंत में तो भगवान-श्रीकृष्ण को ही प्राप्त होता है'' इस वाक्य में कहे गये प्रकार से अन्य देवताओं का भी भजन करेंगे तो आखिर में भगवान-श्रीकृष्ण से ही तो संबंधित होने वाला है, फिर आप केवल श्रीकृष्ण के ही आश्रय में क्यों बाँध रहे हैं ? यदि ऐसी शंका हो तो आचार्यचरण अग्रिम श्लोक द्वारा स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

प्राकृता इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। यहाँ तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा से लेकर समस्त देवता प्राकृत हैं क्योंकि वे आधिभौतिक हैं। बृहद्-अक्षरब्रह्म भी गणितानंद है, उनका आनंद गिना जा सकने के कारण पूर्ण-पुरुषोत्तम से कम है और इसी अल्पता को बताने के आचार्यचरणों ने 'कः' प्रत्यय (गणितानंदकं) का उपयोग किया है। अतः यह समझिए कि जीवों में तो आनंद है ही नहीं, तिरोहित हो चुका है और जहाँ गणितानंद-अक्षरब्रह्म भी उनके आनंद को पूर्ण नहीं कर सकते, वहाँ प्राकृत-देवों की उपासना से कौन सा पुरुषार्थ सिद्ध होने वाला है। तथापि संदेह होता है कि, भगवान का विराट-स्वरूप एवं अक्षरब्रह्म-स्वरूप भी तो भगवान के समान ही है, तो जब ये ही हमारा उद्धार नहीं कर सकते तो फिर आप ये कैसे कह सकते हैं कि मूलस्वरूप-श्रीकृष्ण के आश्रय से उद्धार हो जायेगा ? यदि ऐसा संदेह होता हो तो आचार्यचरण पूर्ण इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, पूर्व में कहे प्राकृत-देवता, गणितानंद-ब्रह्म इत्यादि किसी के भी द्वारा आनंद की पूर्ति नहीं हो सकती अतः जब जीव के दुःख ही दूर नहीं होंगे तो इनके द्वारा पूरित किया गया आनंद भी अपूर्ण ही है। किंतु भगवान-श्रीकृष्ण दुःख दूर करके संपूर्ण आनंद दे सकते हैं, अतः आचार्यचरणों ने उन्हें हरिः पद से संबोधित किया है। यद्यपि ''अस्यैवानन्दस्यान्यानि'' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार इन देवताओं में भी आनंद की मात्रा तो है परंतु अल्प है अतः ये दूसरों को आनंद से परिपूर्ण नहीं कर सकते। जो व्यक्ति जन्म से ही अति दरिद्र है, उसे यदि थोड़े समय के लिए धन दे भी दिया जाय, तो भी उसके दुःख दूर होने वाले नहीं है, इसी प्रकार अपूर्ण आनंद वाले जीवों के भी समस्त प्रतिबंधकों को दूर करके श्रीकृष्ण ही उन्हें पूर्ण करते हैं। अतः ''उन सत्यस्वरूप आनंदनिधि भगवान का ही भजन करना चाहिए, अन्य किसी भी वस्तु में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए (श्री.भा.२/१/३९)'' इस वाक्यानुसार हमारा यही कर्तव्य है, सो यह दिशा अब स्पष्ट हो गई ॥८॥

ननु भवद्भिरेव भक्त्युत्पत्त्यर्थं तद्दार्ढ्यार्थं वा विवेकधैर्याश्रयाणां निरूपितत्वात्कथमितरनिरपेक्षः स एवोच्यते, किञ्च, आश्रयरक्षायाश्च तदुभयरक्षानन्तरं च भवद्भिरेवोक्तत्वात्कथं श्रीमतामेव वाक्यं विसंवादि भवतीति चेत्तत्राह-

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितेति । विवेक सर्वमप्रार्थनेपि निजेच्छातः करिष्यतीत्येवंनिश्चयरूपः । निवृत्त्युपायाकरणेन सर्वथा दुःखसहनं धैर्यम् । भक्तिः प्रेमलक्षणा तत्साधनरूपा वा । आदिशब्देन मर्यादाभक्तिसाधनानां ग्रहणम् । यत्र भक्तिसाध्यं नान्येन सिद्ध्यत्यन्यसाध्यं तु भक्तेरानुषङ्गिकं फलमेवंरूपभक्तिव्यतिरेकेणापि यत्राश्रयात्सर्वसिद्धिस्तत्र विवेकादिनिरपेक्षः स तथाभवतीति किं वाच्यम् ? । अत एव तत्राप्यन्ते ' कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या'इत्युक्तम्।

यहाँ एक शंका यह होती है कि, आपश्री ने ही भक्ति उत्पन्न करने के लिए या भक्ति को दृढ़ करने के लिए ''विवेकधैर्याश्रयग्रंथ'' में विवेक-धैर्य-आश्रय के स्वरूप का निरूपण किया है और अब आप ही यहाँ इन दोनों को छोड़कर केवल आश्रय की ही बात कर रहे हैं ? और भी, वहीं पर आपने ही सर्वप्रथम विवेक-धैर्य की रक्षा करने का उपदेश दिया है और फिर आश्रय की रक्षा का, सो यहाँ आपके ही कथन में परस्पर विरोध उत्पन्न हो रहा है - यदि ऐसी शंका होती हो तो आचार्यचरण अग्रिम श्लोक द्वारा समाधान कर रहे हैं।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितः इत्यादि वाक्यों की व्याख्या कर रहे हैं। किसी भी प्रार्थना की अपेक्षा रखे बिना भगवान सभी कुछ उनकी अपनी इच्छा से करेंगे - मन में इस प्रकार का निश्चय हो जाना 'विवेक' कहलाता है। दुःखों को दूर करने के उपायों के लिए प्रयत्न न करते हुए सर्वथा दुःखों को सहते रहना 'धैर्य' कहलाता है। भक्ति शब्द से आचार्यचरणों का तात्पर्य प्रेमलक्षणा-भक्ति है या उसकी साधनरूप-भक्ति। आदि पद से मर्यादाभक्ति के साधनों का अर्थ ग्रहण कर लेना चाहिए। अब यह विचारें कि, भगवत्प्राप्ति तो केवल भक्ति से साध्य है अन्य किसी से नहीं और भगवत्प्राप्ति के अलावा जो अन्य धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इत्यादि की कामनाएँ हैं; उन कामनाओं की भक्तिद्वारा पूर्ति होनी तो भक्ति का बहुत गौण फल है। अतः जहाँ ऐसी भक्ति के बिना भी केवल भगवान का आश्रय करने से समस्त कार्य सिद्ध हो सकते हो, वहाँ विवेक-धैर्य के भी बिना केवल आश्रय से ही कार्य सिद्ध हो जाय, तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है ? इसी कारण वहाँ भी विवेकधैर्याश्रयग्रंथ के अंत में आचार्यचरणों ने ''इस कलिकाल में भक्ति-आदि मार्ग दुःसाध्य हो गये हैं (१७)'' यह कहा है।

किञ्च, विवेकादिस्थितौ तदवलम्बेनाश्रयाभावेपि स्थितिर्भवति तथासत्याश्रयस्वरूपं साङ्गं न सिद्ध्येत् , धर्मतद्विपरीता-

दिसाधनाभावे तूभयथाप्यनुद्धार्य एव स्यात्तेन धर्मिपक्षमवलम्ब्य धर्मादिविपरीतसाधनवतामेव सर्वतः कार्यसिद्ध्यभावनिश्चये दैन्याविर्भाववतामेव शरणागताविवाश्रये मुख्योधिकार इति तथैवोक्तं पापासक्तस्य दीनस्येति । आसक्तिः कायेन मनसा वाचा तदकरणे स्थातुमशक्तिः । अयमेव विशेष आश्रयविधौ । एवं सति धर्मादिप्रतियोगित्वं कलौ सुलभमित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वात् सर्वैरेव स एव सर्वथा कार्य इत्याह कृष्ण एवेति । नन्वेवं सति तु पापकरणस्यैवाश्रये कारणत्वमायातीति चेत्तत्राह 'कृष्ण एवे'ति । अत्रैवं प्रतिभाति-एवकारेण यत्र विवेकधैर्यभक्त्यादीनां भगवद्धर्माणामप्यकारणं तत्र तत्करणे तदाश्रयस्य विद्यमानत्वादन्याश्रये जाते भगवदाश्रयानुत्पत्तिः स्यादतो यथा धर्मादित्यागस्तथाऽधर्मस्यापीति भावः ।

और केवल विवेक-धैर्य भक्ति आदि पर निर्भर रहने पर आश्रय के अभाव में यद्यपि जीव अपने स्वधर्म से रह सकता है, तथापि ऐसी परिस्थिति में आश्रय का अंगसहित स्वरूप तो सिद्ध नहीं हो पायेगा। अब एक ओर जीव में वैदिक शास्त्र में कहे धर्म, वर्णाश्रमधर्म इत्यादि का पालन है नहीं, दूसरी ओर इन सभी से विपरीत विवेक-धैर्य-भक्ति जो इन सबसे बढ़कर हैं उनका भी अभाव है, तब तो जीव का उद्धार दोनों ही तरफ से संभव नहीं रह जाता है। अतः जब जीव धर्मिस्वरूप श्रीकृष्ण पर पूर्णतः अवलंबित हो जाय और मन में यह दृढ़ निश्चय कर ले कि, केवल विवेक-धैर्य-भक्ति प्राप्त कर लेने से ही उसका कार्य सिद्ध नहीं हो सकता, तब उसमें दीनता प्रकट होती है और ऐसे दीनरूप से भगवान के शरणागत होने पर ही आश्रय प्राप्त करने में उसका अधिकार सिद्ध हो पाता है, दीन और शरणागत हुए बिना नहीं, अतः आचार्यचरण यहाँ <u>पापासक्तस्य दीनस्य</u> कह रहे हैं। काया-वाणी-मन द्वारा जिस वस्तु को करना न मिलने से जीवन जीना ही दूभर हो जाय, उसे 'आसक्ति' कहते हैं। यहाँ आचार्यचरणों ने आश्रय का विधान किया है। इस आश्रय का विधान करने में यही विशेषता है कि, इस कलिकाल में धर्मपालन सहज न होने के कारण ऐसे धर्म का पालन न करनेवाले जीव सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। और आश्रय के अधिकारी ऐसे जीव बहुतायत में उपलब्ध होते हैं। सो बहुधा एक भगवद्-आश्रय ही उनके लिए एक मात्र उपाय रह जाता है, इसलिए आचार्यचरण "कृष्ण ही मेरी गति हैं" यों कह रहे हैं। परंतु यदि इस प्रकार से मान लेंगे तो पापाचरण करना ही आश्रय करने में कारण बन जायेगा कि यदि आश्रय सिद्ध करना है तो पहले पाप करो और फिर आश्रय कर लो। यदि इस प्रकार की भ्रांति होती हो तो ध्यानपूर्वक देखिए कि आचार्यचरण "कृष्ण ही मेरी गति है" यों कह रहे हैं। यहाँ कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि, **ही** शब्द का प्रयोग करने के कारण जहाँ विवेक-धैर्य-भक्ति आदि भगवद्-धर्म भी भगवद्-आश्रय को सिद्ध करने में कारण नहीं बन पा रहे हैं अर्थात् जहाँ ये सब भी लाचार हो जाते हों वहाँ पाप करने की भी आवश्यकता कहाँ रह जाती है ? क्योंकि पाप करेंगे तो भगवद्-आश्रय के संदर्भ में अन्याश्रय करना हो जायेगा और भगवद्-आश्रय सिद्ध भी नहीं होगा अतः भगवद्-आश्रय को सिद्ध करने के लिए कर्मकांड, ज्ञान-उपासना इत्यादि मर्यादामार्गीय धर्मों का त्याग बताया है, वैसे ही पाप जैसे अधर्मों का त्याग भी आवश्यक है, यह भाव है।

तर्हि पूर्ववाक्यमनुपपन्नमिति चेत्, न, अनवबोधात् । तथाहि ' एवं सति धर्मादिप्रतियोगित्वं कलौ सुलभमित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वादेतस्यायमर्थः-विवेकधैर्यक्त्यादिसहितास्तु कलौ दुर्लभाः पापकर्तारस्तु सुलभा इति तदधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वम् । ननु धर्मकर्तारस्तु सर्वथा तत्रानधिकारिणः परमधर्माकर्तार एवाधिकारिण इत्यायातमिति चेत् ? तत्रोच्यते । धर्मादिमतां विवेकधैर्यभक्तिमतां चेत्तत्त्यागपूर्वकं केवलाश्रयकरणं सहसा न भवति तेषु समीचीनत्वबुद्धेः । यथा प्रभुणा सर्वधर्मत्याग उपदिष्टे पार्थस्य तत्करणे शोकोत्पत्तौ पुनः प्रभुणैव 'पापेभ्यो मोक्षयिष्यामी'त्युक्तं, नोचेच्छरणधर्मे तदसंभवात्तन्मोचनकथनमनुपपन्नं भवति तथैवैतेषामपि शोकसंभवः । परं तद्विपरीतवतां तु तेष्वसबुद्ध्या निस्साधनेष्वेव श्रीगोकुलेशाङ्गीकारप्राचुर्यात्तद्बलाच्च तत्त्यागः सुलभ इति सुष्ठूक्तं ' धर्मादिप्रतियोगित्व'मित्यनेनेति सर्वमनवद्यम् ॥९॥

तो क्या फिर पहले के वाक्यों का अर्थात् 'पापासक्त-दीन' इत्यादि वाक्यों का कोई अर्थ नहीं है ? क्योंकि यदि पाप का त्याग करना है तो कोई पापी बनेगा नहीं एवं पापासक्त बनेगा ही नहीं और आप कह रहे हैं कि पापासक्त-व्यक्ति की ही गति कृष्ण हैं ? नहीं, ऐसा नहीं हैं क्योंकि आप अभी समझे नहीं हैं। तनिक मेरी कही हुई "एवं सति..... विद्यमानत्वात्" तक की पंक्ति का अर्थ ठीक ढंग से समझें। इसका अर्थ यह कि, इस कलिकाल में विवेक-धैर्य-भक्ति आदि गुणों से युक्त जीव मिलने तो दुर्लभ हैं परंतु पाप करने वाले सुलभ हैं सो पापियों की ही संख्या अधिक होने के कारण भगवद्-आश्रय करने में उनकी ही संभावना अधिक है। यदि यहाँ कोई ये शंका करे कि, यों तो फिर भगवद्-आश्रय करने में धर्माचरण करने वाले तो अधिकारी रहेंगे ही नहीं, अधर्म करने वाले पापी ही अधिकारी रह जायेंगे तो हम इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। वह यह कि जिनमें विवेक-धैर्य-भक्ति जैसे धर्म के गुण हैं, वे तो सद्बुद्धि होने के कारण शीघ्र ही केवल आश्रय करने की ओर प्रवृत्त नहीं होंगे। जैसे समझें कि भगवान ने अर्जुन को समस्त धर्मों का त्याग करने का उपदेश दिया तो उसे त्याग करने में शोक हुआ कि ऐसे-कैसे सहसा ही समस्त धर्मों का त्याग किया जा सकता है ? अतः बाद में भगवान ने ही उसे "मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा (भ.गी.१८/६६)" यह कहा। यदि ऐसा

नहीं होता तो बताइये कि शरणधर्म में तो पाप होने की संभावना ही नहीं है और जब पाप की ही संभावना ही नहीं तो फिर पाप से मुक्त कराने की बात कहाँ से आई ? इसलिए इसी प्रकार विवेकधैर्यभक्ति जैसे धर्मगुणों को भी इन धर्मों का त्याग करते समय शोक होना संभव है और भगवद्-आश्रय को न स्वीकारने का पाप वे कर सकते हैं, इसी कारण आचार्यचरण उन्हें 'पापासक्त' कह रहे हैं। परंतु इनसे विपरीत जो इन धर्मों से रहित हैं, उनकी तो धर्मों में असद्-बुद्धि है और ऐसे निःसाधन जीवों को श्रीगोकुलेश सर्वप्रथम अंगीकार करते हैं अतः उनके लिए समस्त धर्मों का त्याग करके मात्र आश्रय पर निर्भर होना सुलभ है। इसी कारण मैंने जो उन्हें 'धर्म के विपरीत' कहा है, वह ठीक है और मेरा कहा कुछ भी अनुचित नहीं है ॥९॥

ननु ' श्रेयांसि बहुविघ्नानी'तिन्यायेन प्रतिबन्धकानां दृष्टादृष्टभेदाभ्यामुरुधा विद्यमानत्वात्कथमुक्तिमात्रेण चाक्लिष्टकर्मा भगवानाश्रयो भवेत्तत्राह-

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वसामर्थ्यसहित इति । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुसामर्थ्यादिरूपैः सहितः । ननु तत्र दृष्टान्तनिदर्शनस्यादृश्य-मानत्वात्कथं ज्ञायते तत्राह सर्वत्रेति । सर्वत्र योग्यायोग्यविचारेणाखिलानामखिलान् वार्थान् करोति करिष्यत्यका-र्षीदित्यादिधर्म-स्याविनाशित्वेन भगवति सर्वदा विद्यमानत्वादाश्रयकरणे कोनध्यवसाय इत्यर्थः । तथापि भगवतः सर्वसमत्वात्सर्वमुकथन-वसरेऽप्रार्थितः कथमुद्धरिष्यतीत्यत आह शरणस्थेति । ये च शरणं गत्वा तस्मिन्नेव धर्मे स्थितास्तेषामुद्धरणे अप्रार्थितोपि भूकृतप्रयत्नः सर्वदैव वर्तते किं पुनर्मत्प्रार्थितः । यथा भूम्युद्धारचिकीर्षायामपि ब्रह्माणा भूम्या दुःखनिवेदनरूप प्रार्थनानन्तरमेव समाधौ तद्गिरः श्रवणानन्तरमेव साक्षाद्भगवानवतीर्यास्मानुद्धरिष्यतीत्येवंनिश्चयो जात एवं मत्प्रार्थितो मदीयानामाश्रयो भवत्येवेति निश्चित्य मदीयैः सर्वथा सर्वं परित्यज्याश्रय एव कर्तव्यः । एतदेवाभिसंधायाचार्यैरुक्तं कृष्णं विज्ञापयाम्यहमिति । यद्वा, मदीयैरेवं स्तुतिरेव कार्या, मत्प्रार्थितः स्वयमेवाश्रयो भविष्यति नात्र युष्मत्कृतिमपेक्षते ।

अब यहाँ एक प्रश्न होता है। कहा जाता है कि भले काम में अनेकों विघ्न आते हैं, तो दिखाई देने वाले एवं न दिखाई देने वाले ऐसे अनेकों प्रतिबंधकों के रहते केवल 'कृष्ण ही मेरी गति हैं' इतना कह देने मात्र से ही अक्लिष्टकर्मा-भगवान कैसे हमारे आश्रय बन जायेंगे ? तो आचार्यचरण अग्रिमश्लोक से उत्तर दे रहे हैं।

सर्वसामर्थ्यसहितः इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। इसका अर्थ है - भगवान कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुम् सामर्थ्य जैसे रूपों के सहित हैं। परंतु दृष्टांत के बिना कैसे जाना जाय कि वे सर्वसामर्थ्यसहित हैं तो आचार्यचरण सर्वत्र इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका तात्पर्य यह हैं कि योग्य-अयोग्य के विचारपूर्वक सभी के कार्य या सभी के अर्थ को भगवान पूरा करते हैं, करेंगे और किया है। भगवान में ये गुणधर्म अविनाशी हैं एवं सर्वदा विद्यमान रहते हैं अतः उनका आश्रय करने में क्या समस्या आ सकती है ? यह अर्थ है। फिर भी एक संदेह यह रह जाता है कि भगवान तो सभी के लिए समान हैं और इस समय कोई सभी की मुक्ति का प्रसंग भी नहीं है, वह तो महाप्रलय के समय पर होगी, तो जिसने भगवान से किसी भी प्रकार की कोई प्रार्थना नहीं की है और केवल भगवद्-आश्रय ही किया है तो भगवान उसका उद्धार कैसे करेंगे ? तो इसका समाधान आचार्यचरण शरणस्थ इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, जो भगवान की शरण जाकर निष्ठापूर्वक शरणधर्म में ही टिके रहते हैं, वे भले ही भगवान से प्रार्थना न भी करें, फिर भी उनका उद्धार करने में वे हमेशा प्रयत्नशील रहते हैं; जब ऐसे जीवों का भी उद्धार करते हैं, तो आचार्यचरण कहते हैं कि जिस जीव के लिए मैंने प्रार्थना की है, उसकी तो बात ही क्या करनी ? उसका उद्धार तो अवश्य करेंगे। जैसे भगवान को पृथ्वी का उद्धार करने की इच्छा तो थी परंतु ब्रह्माजी ने पृथ्वी की दुःखभरी प्रार्थना सुनने के पश्चात् जब भगवान की स्तुति की और समाधि-अवस्था में आकाशवाणी सुनी कि भगवान अवतार लेकर हमारा उद्धार करेंगे, उसी प्रकार आचार्यचरण कहते हैं कि मेरे द्वारा प्रार्थना करने पर भगवान मेरे निजजनों के आश्रय अवश्य बनेंगे। इस प्रकार से मेरे निजजनों को मन में निश्चय करके सभी कुछ छोड़कर केवल भगवद्-आश्रय ही करना चाहिए। इसी अर्थ में आचार्यचरणों ने कहा है कि - मैं कृष्ण से प्रार्थना कर रहा हूँ। अथवा यों समझ लें कि मेरे निजजनों को भी ब्रह्माजी की ही तरह भगवान की स्तुति करनी चाहिए, मेरे द्वारा प्रार्थित भगवान स्वयं ही तुम्हारे आश्रय बन जायेंगे, उन्हें तुम्हारी किसी कृति की अपेक्षा नहीं है।

नवभिश्च स्तुतिः पूर्वं कर्तव्याश्रयणेप्सुभिः ।
दशमे स्वस्य धर्मस्य साधकं ज्ञापयेद्बुधः ॥१०॥

पाठफलमाह-

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रमिति । कृष्ण आश्रयो भवत्यस्मादिति कृष्णाश्रय इति स्तोत्रस्य नाम । फलाधिकारिणां पाठविधिं चाह-सन्निधौ सेव्यस्य गुरोर्वा । उभयोरभावे स्मरणीयस्य वा । धर्मादिषु सर्वेषु असाधनतानिश्चयः कृतार्थताविषयिण्युत्कटेच्छा च पूर्वावधिः । अल्पे बहु च साध्ये भगवान् स्वतः सर्वसाधको भवतीत्येवंरूप आश्रयसिद्धिरुत्तरावधिः । तावदिदं पठनीयमिति सिद्धम् । यः पठेत् कृष्णसन्निधौ । य एव पठेत्तद्धर्माविष्टान्तः- करणः अतथाभूतो वा । ततः किं स्यादत आह तस्याश्रयो भवेत् । क इत्याकाङ्क्षायां कृष्ण इति । कृष्णः सदानन्दः । तेन तदाश्रितानां व्रजस्थानामिव सर्वथा दुःखात्यन्ताभावः परमानन्दसम्बन्धश्चोक्तौ भवतः ।

भगवद्-आश्रय के इच्छुकों को इन नौ श्लोकों से भगवान की स्तुति करनी चाहिए ॥
एवं दसवें श्लोक द्वारा अपने धर्म के साधक भगवान से प्रार्थना करें ॥१०॥

अब आचार्यचरण संपूर्ण पाठ का फल बता रहे हैं ।

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । इस ग्रंथ का पाठ करने से कृष्ण हमारे आश्रय बन जाते हैं, इसलिए इसका नाम 'कृष्णाश्रय' है । इस फल के अधिकारियों को आचार्यचरण सन्निधौ शब्द द्वारा पाठ करने की विधि बता रहे हैं अर्थात् या तो अपने सेव्यस्वरूप के सन्मुख इस ग्रंथ का पाठ करें या फिर अपने गुरु के आगे; अथवा यदि ये दोनों ही न हों तो फिर अपने किसी स्मरणीय व्यक्ति के समक्ष पाठ करें । किसी ऐसे स्मरणीय व्यक्ति के समक्ष, जो आपको अहर्निश भगवत्स्मरण कराता हो । कर्म-ज्ञान-उपासना इत्यादि धर्म भगवत्प्राप्ति कराने में असाधक हैं - जब हमारे मन में ऐसा निश्चय हो जाय एवं हममें कृतार्थ होने की उत्कट इच्छा पनप जाय, तो वह हमारी प्रथम अवस्था है । इसके पश्चात् चाहे हम भगवद्-प्राप्ति के लिए थोड़ा प्रयत्न करें या अधिक; भगवान तो कृपा करके स्वयं ही हमारे सर्वसाधक बन जाते हैं - इस प्रकार से जब हृदय में भगवान का आश्रय सिद्ध हो जाये, तो यह दूसरी अवस्था है; इस अवस्था तक पाठ करते रहना चाहिए, यह सिद्ध हुआ । अब यः पठेत् कृष्णसन्निधौ इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । इन पंक्तियों का अर्थ हुआ - जो इस ग्रंथ का पाठ कृष्ण के सन्मुख करता है अतः जो से अर्थ यह बना कि जिसके अन्तःकरण में भगवद्-धर्म है या फिर जिसके नहीं है, ऐसे दोनों प्रकार के लोग इस प्रकार से पाठ करेंगे तो आचार्यचरण कह रहे हैं कि भगवान उसके आश्रय हो जायेंगे । कौन से भगवान ? तो कह रहे हैं - कृष्ण । कृष्ण सदानंदरूप हैं अतः कृष्ण पद कहने के द्वारा आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि व्रजभक्तों की तरह ही भगवान पर अश्रितों के दुःखों का सर्वथा नाश होगा एवं परमानंद से संबंध हो जायेगा ।

नन्वत्र किं प्रमाणमेतत्स्तोत्रपाठमात्रेणैव स तथा भवेत् श्रीवल्लभ इति । यथा श्रिया वल्लभो भगवाँस्तथायमपीति भगवद्वाक्यमिवास्यापि वाक्यं वेदात्मकमिति मूर्ध्नि धृत्वा तथैव कर्तव्यमित्यर्थः । किञ्च, भगवद्धर्माणां स्वरूपं तद्धर्मनिरता एव जानन्तीति तदुक्तौ न विप्रतिपन्नैः कैरपि भाव्यमिति दिक् ॥११॥

अब कोई ये शंका करे कि, क्या प्रमाण है कि इस ग्रंथ का पाठ करने मात्र से ही भगवान उसके आश्रय बन जायेंगे, तो आचार्यचरण अपने नाम 'श्रीवल्लभ' का प्रमाण दे रहे हैं । तात्पर्य यह कि, जैसे 'श्री ' अर्थात् स्वामिनीजी के प्यारे भगवान हैं, वैसे आचार्यचरण भी हैं अतः इनके वाक्यों को भी भगवद्-वाक्यों की भाँति वेदरूप जानते हुए मस्तक पर धर कर इनके कहे-अनुसार ही करना चाहिए, यह अर्थ है । और भगवद्-धर्मों के स्वरूप को तो भगवद्-धर्म में निष्ठ व्यक्ति ही जानते हैं अतः श्रीवल्लभ के कहे पर बहिर्मुखों को अन्यथा भाव नहीं लाना चाहिए, इस प्रकार यह दिशा स्पष्ट हो गई ॥११॥

व्रजपतिरतिमित्थं यः प्रदातुं कृपातः
सकलनिगमसारं तत्त्वतः संजगाद ।
स्वजनपरिवृढो धुक् संततेः संशयानाम्

---

१. कार्यस्येतिपाठः ।

श्रीद्वारिकेश्वराणां विवृतिः

स भवतु मम सर्वं विट्ठलेशः सुकेशः ॥१॥
रुचिरचरणयुग्मं हृत्प्रवेशेतितिग्मम्
निजमनसि विहारं ध्वस्तगाढान्धकारम् ।
व्रजिनवनकुठारं प्राप्तलोकोपहारम्
सकलनिगमसारं भावयेद्विट्ठलेशम् ॥२॥
आश्रयस्तोत्रविवृतिं द्वारिकेश्वरशुद्धधीः ।
आश्रितानां चकारेमामाश्रयज्ञापनेच्छया ॥३॥
इति श्रीमद्गोपीजनवल्लभचरणैकतानद्वारिकेश्वरेण विरचिता
कृष्णाश्रयविवृतिः सम्पूर्णा ।

जिसने कृपापूर्वक समस्त वेद के सारभूत व्रजपतिरति प्रदान
करने की इच्छा से इस प्रकार तत्व से कहा है,
वह समस्त संशयों को दूर करने वाले निजजनों के स्वामी
सुंदर केशवाले 'विट्ठलेश' मेरे सर्वस्व हों ॥१॥
रुचिर चरणकमलवाले, हृदय में सरलता से प्रवेश करने वाले,
निजजनों के मन में विहार करने वाले, अज्ञानरूपी घोर-अंधकार दूर करने वाले, लोक के लिए उपहार-स्वरूप
समस्त वेद के साररूप, क्लेशरूपी वन को काटने में कुल्हाड़ी के समान श्रीविट्ठलेश की मैं भावना करता हूँ ॥२॥
आश्रितजनों को आश्रय का स्वरूप बताने के लिए
शुद्धबुद्धि-द्वारिकेश्वर ने इस कृष्णाश्रयस्तोत्र की विवृत्ति की है ॥३॥
यह श्रीमद्गोपीजलवल्लभ के चरणों में एकनिष्ठ द्वारिकेश्वर द्वारा विरचित कृष्णाश्रयविवृत्ति संपूर्ण हुई ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद् व्रजराजचरणविरचितविवरणविभूषितम् ।

यद्वाक्यमात्रकथनात् स्वीयत्वं मनुते हरिः ।
ते कृष्णवल्लभाचार्याः प्रसीदन्तु सदा मयि ॥१॥
तदनुग्रहतः कृष्णाश्रयस्य विवृतिर्मया ।
विधीयते यतः कृष्णाश्रयः फलति सर्वथा ॥२॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा भगवदाज्ञानुसारेण जनानुद्धर्तुं निबन्धादौ सपरिकरं भक्त्यादिमार्गानुपदिश्य प्रत्यहं कलेराधिक्येन तेषां दुःसाध्यत्वमाकलय्य विवेकधैर्याश्रयग्रन्थे विवेकधैर्याभ्यां सहितमाश्रयमुपदिष्टवन्तः, तत्स्वरूपं च तत्र सर्वथा सर्वदा भगवच्छरणगमनात्मकं सिद्धं, तथाच तत् कायिकादिभेदेन त्रिधा भवति, तत्र प्रथमं मानसं शरणं भावनात्मकं भवति, पश्चात् कायिकं तद्धैर्येण सिद्ध्यति, वाचनिकं तु 'प्रपन्नं पाहि मां प्रभो' इत्यादिप्रार्थनारूपम् ।

जिनके कहे मात्र से हरि जीव को अपना मान लेते हैं
ऐसे कृष्ण के प्रिय वल्लाभाचार्य मुझ पर सदा प्रसन्न रहें ॥१॥
उन्हीं श्रीवल्लभ के अनुग्रह से मैं कृष्णाश्रय की विवृति कर रहा हूँ ॥
जिससे कृष्ण का आश्रय सर्वथा फलित होता है ॥२॥

श्रीमदाचार्यचरणों ने भगवद्-आज्ञा के अनुसार जीवों का उद्धार करने के लिए निबंध में परिकरसहित भक्तिमार्गों का उपदेश करके उनको दुःसाध्य बताया है क्योंकि प्रतिदिन कलिकाल की अधिकता बढ़ रही है। इसी प्रकार विवेकधैर्याश्रय ग्रंथ में विवेक एवं धैर्य के सहित आपश्री ने 'आश्रय' का उपदेश दिया है। आश्रय तो सभी प्रकार से सर्वदा भगवान के शरणागत होने पर ही सिद्ध होता है। आश्रय कायिक-वाचिक-मानसिक यों तीन प्रकार का होता है। सर्वप्रथम मानसिक - शरणागति भावनात्मक होती है, इसके पश्चात् कायिक-शरणागति धैर्य से सिद्ध होती है एवं वाचिक शरणागति तो, "हे प्रभो ! आप मुझ शरणागत की रक्षा कीजिए (श्री.भा. १०/४०/३०)" इस श्लोक में कही प्रार्थना को कहते हैं।

एतादृशस्य भवनेपि कारणं भगवदनुग्रह एवेति 'सोहं तवाङ्घ्री'त्यक्रूरस्तुतौ 'असतां दुरापं तच्चाप्यहं भगवदनुग्रहमीश मन्य' इति स्वानुभवेन प्रतिपादितम् । शरणागतिलक्षणं च तत्रैवोक्तं ' यदि सङ्गतमनुगुणं कुर्यात् त्याजयेद्वा तदा शरणागतिः सिद्धेति ज्ञातव्य'मित्यारभ्य ' सत्सेवारुचिर्भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा भगवच्छास्त्रपरत्वं चान्तिमजन्मज्ञापक'मित्यन्तेन । 'अनुगुणपक्षस्तु सुगम' इति च । एवं सत्येतादृशी शरणागतिर्विवेकधैर्याश्रयोक्तरीत्यापि साम्प्रतं कठिनेति भक्त्यादिमार्गाणां दुःसाध्यत्वे हेतुरपि तत्र नोक्त इति निबन्धादावुक्तोपि दुर्ज्ञेय इति तदुक्तिपूर्वकं साङ्गां वाचनिकीं तां सांप्रतं साधनत्वेन विवक्षन्तः कृष्णाश्रयस्तोत्ररूपेणाहुः-सर्वेत्यादि ।

भले ही ये तीन प्रकार की शरणागति हों परंतु इनके होने में मूल कारण तो भगवद्-अनुग्रह ही है। अतः "हे प्रभु ! मैं भटकता हुआ आपके उन चरणकमलों की छाया में आ पहुँचा हूँ, जो दुष्टों के लिए दुर्लभ है और मैं इसे आपकी कृपा ही मानता हूँ (श्री.भा. १०/४०/२८)" इस प्रकार अक्रूरजीने स्वानुभवद्वारा प्रतिपादित की है। वहीं पर शरणागति का लक्षण भी आचार्यचरणों ने इस श्लोक की सुबोधिनी में - "यदि जीव की देह-इंद्रिय, प्राण, अंतःकरण इत्यादि संघात को भगवान उनके अनुकूल बना दें अथवा तो भगवत्संबंध होते ही वे अपने चरणारविंदों की प्राप्ति के लिए जीव का देहपात करवा दें, तब शरणागति सिद्ध हो गई, यह जान लेना चाहिए" इस वाक्य से लेकर "अतः सत्पुरुषों की सेवा करने में रुचि, भगवत्स्वरूप को जानने की इच्छा एवं भगवत्-शास्त्र में अभिरुचि, ये सभी जीव के अंतिम जन्म को बताने वाले लक्षण हैं" यहाँ तक के वाक्यों में बताया है। और इन्हीं वाक्यों में "भगवान जीव की देह-इंद्रियों के संघात को उनके अनुकूल बना दें - यह पक्ष जान लेना सुगम है" इस वाक्य

द्वारा भी।

इस प्रकार उपर्युक्त वाक्यों में कही शरणागति विवेकधैर्याश्रयग्रंथ में कही गई शरणागति की रीति से कही होने पर भी इस समय में तो सिद्ध होनी कठिन है और विवेकधैर्याश्रय ग्रंथ में यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है कि कलिकाल में भक्ति आदि मार्ग क्यों दुःसाध्य हैं और आश्रय-आदि की चर्चा निबंध में हुई होने की बाद भी आश्रय के स्वरूप को समझना कठिन है। अतः यहाँ आचार्यचरण शरणागति को अंगसहित कहते हुए उन तीन प्रकारों में से वाचनिक-शरणागति को साधनरूप में कृष्णाश्रयस्तोत्र के रूप में **सर्व** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

अत्र टीकारम्भे श्रीरघुनाथचरणैर्ग्रन्थावतरणिका कापि नोक्ता परन्तु 'य आविरासीद्धोरेस्मिन् कलौ श्रीवल्लभाभिधः। निजदास्यं स नो देयादव्यादपि दुराश्रयादि'तिमङ्गलवाक्ये कलिस्वरूपस्य श्रीमदाचार्येषु प्रार्थनस्य च कथनेन सूचितेति न विरोधः। एवं कल्याणरायैरपि कृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वं सर्वसाधनासाधकत्वं चोक्तमिति तेषामप्ययमेवाशयः। श्लोक-सङ्ख्यातात्पर्यं तैरेवमुक्तं 'भक्तानां भगवानेव देशादिषट्साधनरूपश्चतुर्विधपुमर्थरूपश्चेति, दशलीलानिरूप्य इति, दशविधभक्तसेव्य इति', स्तोत्रार्थरूपे भगवति दशविधाः 'दश वै पशुषु प्राणा'इतिश्रुतेः प्राणानां दशत्वं, ते यथा साधकास्तथा स्तोत्रमपीति शब्देपि दशविधाः। अतोऽर्थमनुकूलयन् शब्द एवायं साधक इतिबोधनाय प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्तीति। द्वारिकेश्वरैस्तु 'आभासश्च निरोधश्चे'ति वाक्यलिखनेन च लक्षणलक्षितया 'यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ती'तिवदत्र दशसङ्ख्यापूरकसर्वफलरूपोत्र विवक्षित इत्याशय उद्घाटितः। तथा च 'या या साधनसंपत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये। तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रय' इतिवाक्यलिखनेनाश्रयशब्दः कृष्णाश्रय इति स्तोत्रनामेति तेषामाशयः।

इस ग्रंथ की टीकाओं के आरंभ में श्रीरघुनाथचरणों ने इस ग्रंथ की किसी उत्थानिका का उल्लेख (ग्रंथ लिखने के मूल कारण या फिर ग्रंथ जिस विषय से आरंभ होता हो, वह 'उत्थानिका' कहलाती है) नहीं किया है परंतु अपने मंगलाचरण "य आविरासीद्..... दुराश्रयात्" में उन्होंने कलिकाल का स्वरूप बताया है एवं आचार्यचरणों से उससे रक्षा करने की प्रार्थना भी की है अतः इस प्रकार से उन्होंने ग्रंथ-अवतरणिका (ग्रंथ आरंभ करने का विषय) सूचित कर ही दी, अतः, मेरे एवं उनके कहे में कोई भी विरोध नहीं है। इसी प्रकार श्रीकल्याणरायजी ने कृष्णाश्रय को समस्त वस्तुओं का साधक कहा है एवं इनसे भिन्न समस्त साधनों को असाधक कहा है अतः उनका आशय भी यही है। इस ग्रंथ के ग्यारह श्लोकों का तात्पर्य भी उन्होंने - "भक्तों के देश, काल, द्रव्य, मंत्र, कर्ता, कर्म इत्यादि धर्म के छह अंग एवं धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इत्यादि चार पुरुषार्थ भगवान ही हैं", "इस ग्रंथ के दस श्लोक इसी का तात्पर्य बताने के लिए हैं" "इस ग्रंथ के आरंभ के दस श्लोकों में भगवान की दस प्रकार की लीलाएँ अर्थात् सर्ग-विसर्ग-स्थिति-पुष्टि-ऊति-मन्वंतर-ईशानुकथा-निरोध-मुक्ति और आश्रय का निरूपण आचार्यचरणों ने कहा है", "भगवान दस प्रकार के भक्तों अर्थात् सात्विक, राजस, तामस के मिश्रित भेद से नौ एवं एक निर्गुण यों दस प्रकार के भक्तों द्वारा सेव्य हैं अतः इस ग्रंथ के दस श्लोक उपर कहे दस प्रकार के भक्तों के द्योतक हैं", "जीवों में दस प्रकार के प्राण होते हैं, अतः ये दस श्लोक भी इस प्राणों के समान ही हैं" - इत्यादि वाक्यों से उनका आशय भी श्रीरघुनाथजी जैसा ही प्रतीत होता है। अतः यहाँ यह समझना चाहिए कि जिस प्रकार से ये दस प्रकार के प्राण देह के साधक होते हैं, उसी प्रकार ये स्तोत्र भी जीव की देह के साधक हैं, जिसके दस श्लोक में भगवद्-अर्थ निहित हैं। इसीलिए यहाँ आचार्यचरणों ने श्लोकों की संख्या दस रखी है। (ग्यारहवाँ श्लोक उपसंहार अर्थात् समाप्ति के रूप में है) इस स्तोत्र में रहे अर्थरूप-भगवान को समझने के लिए शब्द ही यहाँ साधक हैं, यह बताने के लिए आचार्यचरण प्रार्थनारूप से स्तुति कर रहे हैं। द्वारिकेश्वरजी ने तो अपनी टीका के आरंभ में "आभासश्च निरोधश्च (श्री.भा.२/१०/७)" यह लिखा है, जिसके द्वारा उन्होंने यह बताया है कि उपर कही दस संख्या की संगति इस स्तोत्र में कहे दस श्लोक के संग मिलानी पूर्णतः प्रामाणिक है। जैसा कि "चार ऋत्विकों के सहित पाँचवां यजमान, यों पाँच व्यक्ति यज्ञ की आहुति का भक्षण करते हैं (शंयुवाकोत्तर ६/४/३)" इस वाक्य में पाँच संख्या की प्रामाणिकता सिद्ध है, वैसे ही यहाँ इस श्लोक में कहे दस श्लोकों की दस संख्या भी पूर्णतः प्रामाणिक है। और इसी प्रकार उन्होंने यह भी लिखा है कि - "चार प्रकार के पुरुषार्थों को पूर्ण करने में जो-जो साधन-संपत्ति की आवश्यकता होती है, उनके बिना केवल नारायण का आश्रय करने से ही चार पुरुषार्थ प्राप्त किए जा सकते हैं" - अतः इस वाक्य में कहे गये आश्रय शब्द का तात्पर्य कृष्ण + आश्रय = कृष्णाश्रय ही है अतः इस ग्रंथ का नाम कृष्णाश्रय है, यह द्वारिकेश्वर जी का आशय है।

मम त्वन्यदपि प्रतिभाति-यथाक्रूरेण प्रसन्नप्रत्यक्षो भगवान् स्वाधिकारानुसारेण शरणतया प्रार्थितस्तथाऽऽचार्यैरपि स्वप्रकटितभक्तिमार्गफलदानानुकूलः प्रसन्नः स्वोक्तिपठनमात्रेणाश्रयदानं कर्तुं समयविशेषे प्रार्थितस्तदों कृतवानिति तज्ज्ञापकमिदं प्रार्थनाघटितं स्तोत्रमिति। अत्र च भगवान् गतित्वेन प्रार्थ्यते अस्त्विति क्रियाध्याहारेण। तत्र गतिशब्दः फले रूढः, 'सा काष्ठा सा परा गतिः' 'अन्ते या मतिः सा गतिः' 'नान्या भवेद्गतिरिन्दमे'ति श्रुतिपुराणादौ तथाप्रसिद्धेः। समाप्तौ

तु 'तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण' इत्याश्रयत्वं पाठफलत्वेनोक्तम्। आश्रयशब्दश्च सहाये रूढः, 'सिद्धाखिलार्था मधुसूदनाश्रयाः' 'भवद्भिरमृतं प्राप्तं नारायणभुजाश्रयैः' रित्यादौ तथाप्रसिद्धेः।

किंतु मुझे तो कुछ और भी आभासित हो रहा है। वह यह कि जैसे अक्रूरजी ने अपने अधिकार के अनुसार शरणागत होकर भगवान से प्रार्थना की और भगवान ने प्रसन्न होकर उन्हें प्रत्यक्ष-दर्शन दिए, उसी प्रकार यहाँ यह समझना चाहिए कि आचार्यचरणों ने स्वयं के द्वारा प्रकट किए गये भक्तिमार्ग का फलदान करने में प्रसन्न हुए भगवान से इस ग्रंथ का पाठ करने के द्वारा आश्रयदान करने के लिए भगवान से प्रार्थना की, तब भगवान ने भी उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया। इसी बात को बताने वाला प्रार्थनारूपी यह स्तोत्र है, यह समझ लेना चाहिए। यहाँ आचार्यचरणों ने "भगवान-श्रीकृष्ण ही मेरी 'गति' हैं" इस प्रकार से भगवान को अपनी 'गति' बताते हुए प्रार्थना की है अतः आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि "भगवान श्रीकृष्ण ही मेरी गति हो जाएँ" यों अर्थ समझना चाहिए। 'गति' शब्द का अर्थ किसी वस्तु के परिणाम या फल के अर्थ में रुढ़ है। जैसे कुछ वाक्यों के उदाहरण द्वारा समझें कि" "सा काष्ठा सा परा गतिः" "अन्त में जैसी बुद्धि होती है, गति भी वैसी ही होती है", "हे प्रभु! अब हम आपके चरणों में आ पड़ी हैं, अब हमें दूसरों की शरण में न जाना पड़े ऐसा कीजिए (श्री.भा. १०/२३/३०)" इत्यादि वाक्यों में गति शब्द का अर्थ फल या परिणाम के अर्थ में ही है। इस ग्रंथ की समाप्ति में तो "कृष्ण उसके आश्रय बन जाते हैं (११)" इस वाक्य में 'आश्रय' इस ग्रंथ के पाठ का फल कहा गया है। 'आश्रय' शब्द भी सहायक-अर्थ में रूढ़ है। जैसे श्रीमद्-भागवत में "अपने दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जाने के पश्चात् भगवान-श्रीकृष्ण पर आश्रित बलरामजी एवं अन्य यदुवंशी द्वारकापुरी लौट गये (श्री.भा. १०/६१/४०)", "हे देवताओं! भगवान की भुजाओं की छत्रछाया में रहकर आप लोगों ने अमृत प्राप्त कर लिया है (श्री. भा. ८/११/४४)", इत्यादि वाक्यों में 'आश्रय' शब्द को उस अर्थ में लिया गया है, जहाँ भगवान किसी के सहायक बने हों या भगवान की सहायता से किसी का कोई कार्य सिद्ध हुआ हो।

कृष्णशब्दश्च परब्रह्मवाचकः 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इतितापनीयश्रुतेः, 'पापकर्षणो ह वै'ति च। ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे श्रीरुक्मिण्युद्वाहोत्तरं श्रीयशोदां प्रति भगवद्वाक्येपि 'कृषिरुत्कृष्टवचनो णश्च सद्भक्तिवाचकः। अश्चापि दातृवचनस्तेन कृष्णं विदुर्बुधाः' 'कृषिश्चपरमानन्दे णश्च तद्दास्यकर्मणि। तयोर्दाता च यो देवस्तेन कृष्णः प्रकीर्तितः' 'कोटिजन्मार्जिते पापे कृषिः क्लेशे च वर्तते। भक्तानां णश्च निर्वाणे तेन कृष्णः प्रकीर्तितः' इति त्रिधा निरुक्तः। तत्र तृतीयेन 'पापकर्षण' इतितापनीयश्रुतिरुपबृंहिता। गौतमीयतन्त्रे अष्टादशार्णव्याख्यायां च 'कृषिशब्दश्च सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः। सुखरूपो भवेदात्मा भावानन्दमयत्वत इति। बृहद्गौतमीयेपी कृषशब्दो हि सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः। सत्तास्वानन्दयोर्योगाच्चित्परं ब्रह्म चोच्यते' इत्येताभ्यां पूर्वश्रुतिरुपबृंहिता।

'कृष्ण' शब्द भी परब्रह्म का वाचक है; जैसे तापनीयश्रुति में 'कृष्ण' शब्द की व्याख्या इस प्रकार से की गई है कि - 'कृष्' शब्द सत्ता का वाचक है, 'ण' शब्द निर्वृत्ति का वाचक है, इन दोनों अर्थात् सत्ता एवं निर्वृत्ति का ऐक्य परब्रह्म-श्रीकृष्ण के नाम से जाना जाता है। (निर्वृत्ति का अर्थ होता है - पूर्णता, संपन्नता) एवं "कृष्ण शब्द पाप को दूर करने वाला है"। ब्रह्मवैवर्तपुराण में श्रीकृष्णजन्मखंड में रुक्मणि से विवाह करने के पश्चात् भगवान ने माता यशोदा को कृष्ण शब्द का अर्थ - "कृष् शब्द उत्कृष्टता का वाचक है और 'ण' सद्-भक्ति का वाचक है और 'अः' शब्द दाता के अर्थ में है अतएव विद्वानजन उन्हें 'कृष्ण' कहते हैं" (अर्थात् भगवान-कृष्ण जीव को उत्कृष्टता एवं उत्तम भक्ति प्रदान करते हैं इसलिए उन्हें 'कृष्ण' कहा जाता है), "कृष् शब्द परमानंद के अर्थ में है एवं 'ण' शब्द दास्य-अर्थ में है; जो देव परमानंद एवं दास्य प्रदान करे, उसे 'कृष्ण' कहा जाता है", "हजारों जन्मोंके द्वारा अर्जित किए गये पापों का एवं क्लेश का द्योतक 'कृष्' शब्द है। 'ण' शब्द मुक्ति के अर्थ में है अतः हजारों जन्मों में अर्जित किए गये पापों के क्लेशसे भगवान जीव को मुक्त कर देते हैं इसलिए उन्हें 'कृष्ण' कहा जाता है" यों तीन प्रकार से बताया है। इन तीनों अर्थों में तीसरा अर्थ 'पापकर्षण' इस तापनीयश्रुति के अर्थ में जुड़ जाता है। गौतमीयतंत्र के अठाहरवें अध्याय में कृष्ण शब्द की व्याख्या - "कृष् शब्द सत्ता का वाचक है, ण शब्द भगवान के आनंदस्वरूप का वाचक है। अतः यह परमात्मा सुखरूप एवं भावानंदरूप है" इस प्रकार से की गई है।

बृहद्-गौतमीयतंत्र में भी कृष्ण शब्द की व्याख्या - "कृष् शब्द सत्ता के अर्थ में है, ण शब्द भगवान के आनंदस्वरूप का वाचक है। सत्ता एवं आनंद-स्वरूप इन दोनों के योग से चित्-युक्त कृष्ण को परब्रह्म कहा जाता है" - इस प्रकार से गौतमीय एवं बृहद्-गौतमीयतंत्र इन दोनों श्रुतियों के द्वारा कही गई है।

अत्र प्रथमे सर्वशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूता सत्ता भावपदेनात्मपदेन च व्याख्याता 'रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्। सत्तामात्रमि'तिदशमस्कन्धवाक्येन भगवत्स्वरूपं तेन सम्बन्धिदानात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः, तां 'प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते सा जातिः सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादय' इति

वाक्यपदीयोक्तरीत्या मूलसद्रूपाभिन्नानन्दरूपत्वेन कृष्णत्वं विवृतं, द्वितीये च प्रत्याहारन्यायेन सदानन्दयोरन्तश्चित्तं निवेश्य सच्चिदानन्दतया परब्रह्मत्वेन कृष्णत्वं विवृतमितिभेदाः । अन्या अपि निरुक्तयो ब्रह्मवैवर्ते नामकरणप्रसङ्गे गर्गेणोक्ताः पञ्च सन्ति तास्ततो ज्ञातव्याः ।

यहाँ यह समझना चाहिए कि, सर्वप्रथम गौतमीयतंत्र द्वारा समस्त शब्दों में रही हुई प्रवृत्ति-निमित्तभूता भगवान की सत्ता ही भावपद एवं आत्मपद के द्वारा बताई गयी है। जैसे श्रीमद्-भागवत के दशमस्कंध में "हे प्रभु! वेदों ने आपके स्वरूप को अव्यक्त कहा है और संसार में सभी का कारणरूप बताया है। आपका स्वरूप ब्रह्म, ज्योतिस्वरूप, लौकिकगुणोंसे रहित और विकाररहित कहा गया है, जो विशेषणरहित - अनिर्वचनीय, निष्क्रिय एवं विशुद्ध सत्ता के रूप में कहा गया है (श्री.भा. १०/३/२४)" इस वाक्यों में माता देवकी ने जहाँ भगवान-श्रीकृष्ण की स्तुति की है, वहाँ इस वाक्य से तात्पर्य यह निकलता है कि, भगवान मूलसत्ता हैं और उनकी मूलसत्ता ही जगत् के समस्त नाम, जाति इत्यादि विषयों में प्रविष्ट हुई है। उन्हीं नाम, जाति इत्यादि को भर्तृहरि ने "किसी भी नाम का अर्थ अथवा धातु का अर्थ 'जाति' है और वही परमात्मा हैं। इनमें 'त्व' और 'तल' प्रत्यय जोड़ देने पर शब्द बनते हैं" इस प्रकार से अपने वाक्यपदीयग्रंथ में कहा है। इस रीति से यहाँ मूलरूप से अभिन्नतया इस जगत् में प्रसरित होने वाले आनंदरूप कृष्ण का विवरण यहाँ किया जा रहा है। दूसरे, बृहद्-गौतमीय तंत्र में प्रत्याहारन्याय से 'सत्' और 'आनंद' के प्रत्याहार में 'चित्' शब्द को मध्य में जोड़कर कृष्ण को सच्चिदानंद (सत् + चित् + आनंद) एवं परब्रह्मरूप से बताया गया है, केवल इतना भेद है। **(संस्कृतव्याकरण में अमुकवर्णों का योग प्रत्याहार से समझाया जाता है। जैसे "अ इ उ ण्" को संकेत से समझाना हो तो इसे "अण् प्रत्याहार" कहेंगे।)**

'कृष्ण' शब्द की अन्य दूसरी भी व्याख्याएँ ब्रह्मवैवर्तपुराण में भगवान-श्रीकृष्ण के नामकरण के प्रसंग में श्रीगर्गाचार्यजी ने पाँच प्रकार से कही है, (श्रीकृष्णजन्मखंड/१३ वां अध्याय/५५-६८ श्लोक) अतः विशेष जानने के लिए वहीं से जान लेनी चाहिए।

आनन्दे च निरवधित्वमेव परमफलतावच्छेदकमित्यानन्दमयाधिकरणे स्थितम् । 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इति छन्दोग्यश्रुते 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इतितैत्तिरीय-श्रुतेश्च । फलं द्विविधं, साध्यमभिव्यङ्ग्यं च । तत्राद्यं यथा परशोश्छिदा । द्वितीयं यथा योगादात्मसुखम् । तत्र परे ब्रह्मण्याद्यरूपत्वस्या-भावाद्वितीयरूपतैव वाच्या । तत्र हेत्वपेक्षायां 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इतिश्रुत्या स्वीयत्वेन वरणे यत्साक्षाद्दर्शनं तदेव हेतुः । तथा सति 'नायमात्मा प्रवचनेने'त्यादिपूर्वार्द्धे उपलक्षणविधया साधनान्तरनिषेधश्रावणेन वरणद्वारकं स्वस्यैव साधनत्वमुक्तं भवति । तदेव च ब्रह्मवैवर्तोपबृंहणेष्वपि सिद्धम् ।

भगवान में आनंद निरंतररूप से विद्यमान है, और यही आनंद की निरंतरता उनकी परमफलता को बताने वाली है, यह ब्रह्मसूत्र के आनंदमय-अधिकरण में कहा गया है। यही बात छान्दोग्य उपनिषद् की श्रुति में - "निश्चित् रूप से भगवान ही सुखरूप हैं क्योंकि वे महान है, निरंतर हैं और सबसे अधिक हैं। अल्प में सुख नहीं होता अतः भगवान पूर्ण होने के कारण सुखरूप हैं, उसे ही जानने की इच्छा करो। (छान्दो. ७/२३/१)" इस वाक्य द्वारा एवं तैत्तिरीय उपनिषद् में" भगवान के परमानंद-स्वरूप को जानने में मनसहित समस्त इंद्रियाँ उसे जाने बिना ही वापस लौट आती हैं (तैत्ति.२/९/१)" इस वाक्य द्वारा कही गई है। फल दो प्रकार से कहा गया है, एक तो वह जो किसी साधन के द्वारा प्राप्त किया जाय (साध्यम्) और दूसरा वह कि जिसमें किसी साधन के द्वारा नहीं अपितु हमारे स्वयं के प्रयत्नों द्वारा प्राप्त हो। जैसे कि किसी कुल्हाड़ी से काटना। यह साधन द्वारा फल प्राप्त हुआ जिसमें कुल्हाड़ी साधन है। दूसरा जैसे योगध्यान से आत्मसुख का फल प्राप्त करना - इसमें स्वप्रयत्नों से फल प्राप्त हुआ। परंतु यदि परब्रह्म का फल प्राप्त करना हो तो वह किसी साधनों से प्राप्त नहीं होता, वह स्वयं भगवान यदि चाहें तो ही प्राप्त हो सकता है।

इसका कारण जानना हो तो "यह भगवान जिसका वरण करते हैं, उन्हें ही प्राप्त होते हैं (कठो. १/२/२३)" इस श्रुति के अनुसार भगवान जिस जीव को स्वीय मानकर उसका वरण करते हैं, उसे ही भगवान के दर्शन प्राप्त होते हैं। इस प्रकार से यही बात इसी श्रुति के पूर्व के श्लोक में - "यह भगवान प्रवचनों, बुद्धि, श्रवण इत्यादि साधनों से प्राप्त नहीं होता" इस वाक्य द्वारा कही गई है, जहाँ उपलक्षण विधि के द्वारा (जहाँ किसी वस्तु का एक लक्षण बताने में अन्य समस्त लक्षण भी बता दिए जाएँ, उसे उपलक्षण-विधि कहते हैं। जैसे यहाँ इस श्रुति में यह कहा गया है कि भगवान प्रवचन या बुद्धि से प्राप्त नहीं होते, तो इसका अर्थ यह हुआ कि प्रवचन एवं बुद्धि तो उपलक्षण मात्र हैं, इस श्रुति का तात्पर्य केवल प्रवचन या बुद्धि नहीं है अपितु श्रुति यह कहना चाह रही है कि भगवान के अनुग्रह के अतिरिक्त भगवान और किसी साधन से प्राप्त नहीं होते) भगवद्-प्राप्ति के अन्य समस्त साधनों का निषेध कर दिया गया है एवं भगवान ने अपने द्वारा जीव का वरण करना उनकी प्राप्ति का साधन कहा है। यही बात ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी कही गई है।

तदेतत् सर्वं हृदि कृत्वा मूढानां सन्देहनिवारणायादृष्टशास्त्रेऽनुरुद्धयमार्गाणां कालादीनां सन्निपत्याराच्चोपकारकाणामसाधकत्वं दोषांश्च वदन्त उक्तरीत्या स्वस्मिन् फलरूपत्वमतिरोभावयित्वा तत्र साधनरूपोस्त्विति प्रार्थयन्ति -

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मणि ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ।। १ ।।

सर्वे च ते मार्गाश्च । 'मृजूष् शुद्धौ' मृज्यन्ते शोध्यन्त इति । 'मृग अन्वेषणे' मृग्यन्ते तत्तत्फलार्थिभिरन्विष्यन्त इति मृगाः, स्वार्थेण् त एव मार्गाः 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोन्योस्ति कश्चने'त्येकादशे भगवतोक्ताः स्वप्राप्त्युपायाः तेषु नष्टेषु अनुशास्तृदौर्लभ्यादिना तिरोहितेषु कृष्णा व्याख्यातरीतिको भगवानेव मम गतिःसाधनफलरूपोस्त्विति सम्बन्धः । अत्र 'यस्य च भावेन भावलक्षणमि'त्यनेन भावलक्षणा सप्तमी ।

उपर कही गई समस्त बातों को हृदय में धारण करके अब मूर्खों के संदेह का निवारण करने के लिए आचार्यचरण साधनों की असाधकता एवं दोषों को कह रहे हैं एवं उपर कहे गये विश्लेषणों के अनुसार अब आगे के श्लोक में यह प्रार्थना कर रहे हैं कि - हे श्रीकृष्ण ! आप अपनी फलरूपता को तिरोहित न करते हुए हमारे साधनरूप बन जाएँ ।

'सर्वमार्ग' का अर्थ है - शास्त्रों में कहे गये सभी मार्ग; ये सभी मार्ग वर्तमान में नष्ट हो चुके हैं । 'मृजूष् शुद्धौ' इस धातु-अर्थ के अनुसार जिसके द्वारा अपने गंतव्य को ढूँढा जाय उसे 'मार्ग' कहा जाता है । और 'मृग अन्वेषण' इस धातु-अर्थ के अनुसार अपने-अपने गंतव्यों पर पहुँचने के लिए एवं उस गंतव्य के फल को प्राप्त करने के लिए जीव जब किसी विशेष दिशा का चयन करते हैं तो वे रास्ते 'मृगः' कहलाते हैं । और, स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय लगा देने पर 'मृग' शब्द से मार्ग शब्द बनता है । अब भगवद्-प्राप्ति के ये समस्त मार्ग जिस प्रकार से स्वयं भगवान ने एकादश स्कंध में "हे उद्धव ! मनुष्यों का कल्याण करने के लिए मैंने ही ज्ञान-कर्म-भक्ति यों तीन प्रकार के योगों का उपदेश किया है, इसके अतिरिक्त परम कल्याण का और कोई उपाय नहीं है (श्री.भा. ११/२०/६)" इस वाक्य द्वारा बताए हैं; आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि भगवद्-प्राप्ति के ये समस्त उपाय नष्ट हो चुके हैं । इसका अर्थ यह है कि, इन मार्गों का उपदेश करने वाले अब दुर्लभ हो चुके हैं अतः ये तिरोहित हो गये हैं । अतएव उपर किए गये व्याख्यान के अनुसार आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि भगवान-श्रीकृष्ण ही मेरी गति हों अर्थात् श्रीकृष्ण ही मेरे साधन एवं फलरूप हों, यह संबंध है । इस श्लोक में सर्वत्र "यस्य च ....." इस सूत्र के द्वारा भावलक्षणा सप्तमी-विभक्ति का प्रयोग किया गया है । (इस श्लोक में सर्वत्र सप्तमी-विभक्ति का प्रयोग किया है, यह तो समझ में आता ही है परंतु टीकाकार का कहना यह है कि यहाँ भावलक्षणा-सप्तमी विभक्ति समझनी चाहिए । यों तो यहाँ सति-सप्तमी भी मानी जा सकती है परंतु टीकाकार को भावलक्षणासप्तमी अभिप्रेत है । अब इन दोनों प्रकार की सप्तमी-विभक्ति के अनुसार श्लोक के अर्थ में क्या अंतर पड़ेगा, यह समझ लें । सति-सप्तमी के अनुसार श्लोक का अर्थ बनेगा - इन समस्त मार्गों के नष्ट होने पर कृष्ण मेरी गति हैं अर्थात् जब ये समस्त मार्ग नष्ट हो जाएँ, तब कृष्ण मेरी गति हैं । परंतु टीकाकार को अभिप्रेत भावलक्षणा-सप्तमी के अनुसार अर्थ बनेगा - सभी मार्ग नष्ट हो चुके हैं अतः अब कृष्ण ही मेरी गति हैं । टीकाकार यह अर्थ बताने के लिए यहाँ भावलक्षणा सप्तमी विभक्ति मान रहे हैं ।)

अनुशास्तृदौर्लभ्यादौ हेतुः -खलधर्मणि कलौ लोके पाषण्डप्रचुरे सतीति । चोवधारणे । खलोन्तर्दुष्टो धर्मो यस्मिन्नसौ खलधर्मा 'धर्मादनिच् केवलादि'त्यनेनानिच् । खलधर्मत्वे हेतुर्लोकानां पाषण्डप्राचुर्यम् । पाषण्ड उपधर्मो जैनदयादिसदृशस्तस्य प्राचुर्यं बाहुल्यम् । कलावित्यधिकरणे सप्तमी । आधारत्वं चात्राभिव्यापकतया कालिकसम्बन्धेन गौणोपश्लेषिकतया वा । तथाचैतादृशे कलावीदृशे लोके सर्वमार्गेषु नष्टेषु सत्सु तथेत्यर्थः । ' षष्ठी चानादरे ' इत्यनेनानादरे वा कलाविति सप्तमी । हेतुहेतुमद्भावस्तु समभिव्याहारादेव लभ्यः । तथाचैतादृशे लोके एवम्मार्गेषु सत्सु कलिमनादृत्य तद्भयं त्यक्त्वा तथेत्यर्थः । 'कलेर्दोषनिधे राजन्' 'कलिंसभाजयन्त्यार्या' इत्यादिवाक्येषु कलिस्तुतेस्तत्र साधकत्वभ्रमवारणाय कीर्तनस्यापि यथाकथञ्चित्कृतस्य न फलसाधकत्वमितिबोधनाय चात्र कलिलोकयोर्दोषकथनम् ।

वर्तमान समय में इन मार्गों का उपदेश करनेवाले क्यों दुर्लभ हो गये हैं, इसका हेतु आपश्री खलधर्मिणि इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । 'च' अवधारण-अर्थ में है, जिसको आचार्यचरणों ने उपर्युक्त अर्थों को भलिभाँति हृदय में धारण करने के लिए प्रयुक्त किया है । जिस काल में धर्म का आंतरिक स्वरूप दुष्ट हो, ऐसे धर्म को खलधर्म कहते हैं । धर्मादनिच्.... इस सूत्र द्वारा 'खलधर्म' शब्द में 'अनिच्' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है (जिससे 'खलधर्मिन्' शब्द बना और सप्तमी-विभक्ति के अनुसार 'खलधर्मिणि' शब्द बना यह अर्थ है ।) लोगों में पाखंड प्रचुर मात्रा में फैल गया है अतः काल का स्वरूप खलधर्मी हो गया है । पाषण्ड का अर्थ यह है कि जैसे जैनधर्म में दया, अहिंसा का कोरा नाटक किया जाता है, वैसे प्रकार

के पाखंड की प्रचुरता, बहुलता हो गई है। (देखें श्री.भा.७/१५/१२,१३)। 'कलौ' शब्द में अधिकरण सप्तमीविभक्ति का प्रयोग किया गया है। (यहाँ अधिकरण-सप्तमीविभक्ति को समझें। अधिकरण का अर्थ होता है - आधार। व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से आधार तीन प्रकार का होता है पहला है औपश्लेषिक - आधार। जैसे - 'कटे आस्ते' अर्थात् मनुष्य चटाई पर बैठा है। अर्थात् बैठने की स्थिति में चटाई मनुष्य का आधार है इस आधार को औपश्लेषिक-आधार कहते हैं। दूसरा है 'वैषयिक-आधार'। जैसे - "मोक्षे इच्छा अस्ति" अर्थात् "मोक्ष के विषय में इच्छा रखता है।" इस प्रयोग में 'मोक्ष' शब्द में जो अधिकरण-सप्तमी है, वह वैषयिक-आधार है। यहाँ इच्छा का विषय मोक्ष है इसलिए मोक्ष शब्द में सप्तमी-विभक्ति हुई। तीसरा है - अभिव्यापक - आधार। जैसे 'सर्वस्मिन् आत्मा'। इसमें सर्वस्मिन् (प्रत्येक वस्तु में) शब्द में अभिव्यापक अर्थ में सप्तमी का प्रयोग हुआ है। अर्थात् परमात्मा सभी में विद्यमान है। यहाँ परमात्मा के सभी में विद्यमान होने का समय अखंड है अतः अभिव्यापक सप्तमी का प्रयोग हुआ। इस प्रकार यहाँ टीकाकार बड़ी सूक्ष्मता से कलि शब्द में प्रयुक्त हुई सप्तमी विभक्ति से - कलिकाल में समस्त मार्ग नष्ट हो गये हैं एवं उसमें खलधर्म फैल चुका है - यह अर्थ बताना चाह रहे हैं और आश्रय की सर्वदा उपादेयता को सिद्ध कर रहे हैं। (देखें अष्टा. २/३/३६) अतः श्लोक का संपूर्ण अर्थ यह हुआ कि ऐसे कलिकाल में, ऐसे लोक में समस्त मार्गों के नष्ट हो जाने के कारण कृष्ण ही मेरी गति हैं। अथवा तो 'षष्ठी.....' इस सूत्र के द्वारा 'कलौ' शब्द में अनादर-अर्थ में सप्तमी-विभक्ति मानी जा सकती है। (यहाँ अनादर-अर्थ में सप्तमी के प्रयोग का अर्थ यह है कि - भले ही कलिकाल में सर्वमार्ग नष्ट हो गये हों, काल का स्वरूप खलधर्मी हो गया हो, लोक में पाखंड फैल गया हो तथापि इन सबका अनादर करते हुए अर्थात् परवाह न करते हुए केवल श्रीकृष्ण ही मेरे आश्रय हों।) यहाँ कलि एवं सर्वमार्ग में हेतुहेतुमद्भाव है। अर्थात् कार्यकारणभाव है। तात्पर्य यह कि कलि के खलधर्मी होने के कारण सर्वमार्ग नष्ट हो गये हैं। यहाँ कलि का खलधर्मी होना कारण है और उससे कार्य यह हुआ कि, सर्वमार्ग नष्ट हो गये - यह अर्थ है। अतः अर्थ यह बना कि ऐसे लोक में मार्गों की ऐसी परिस्थिति हो जाने पर कलिकाल का अनादर करते हुए अर्थात् कलिकाल का भय न रखते हुए श्रीकृष्ण ही मेरी गति हैं, यह आचार्यचरणों का तात्पर्य है। और श्रीमद्-भागवत के "हे परीक्षित्! यों तो कलियुग दोषों का भंडार है परंतु इसमें एक बहुत बड़ा गुण यह है कि कलियुग में भगवान का संकीर्तन करने मात्र से भगवद्-प्राप्ति हो जाती है (श्री.भा. १२/३/५१)", "कलियुग में केवल भगवान का कीर्तन करने से कार्य सिद्ध हो जाते हैं अतः इस युग का गुण जानने वाले श्रेष्ठ पुरुष कलियुग की बड़ी प्रशंसा करते हैं (श्री.भा.११/५/३६)" इत्यादि वाक्यों में कलियुग की स्तुति की गई है अतः लोक में भ्रम फैल गया है कि कलियुग भगवद्-प्राप्ति में बड़ा साधक है। इस भ्रम का निवारण करने के लिए एवं थोड़ा-बहुत भगवद्-कीर्तन कर लेना भी फलसाधक नहीं हो सकता, यह भी बोध कराने के लिए आचार्यचरणों ने कलिकाल एवं लोक के दोषों का विवरण इस ग्रंथ में किया है।

'कृष्ण'पदात्'सं'पदाच्च नैतद्वाक्यविरोध इति बोध्यम्। तथाच जलभेदोक्तरीत्या कीर्तयितृनिश्चित्य भगवानाश्रयणीय इति भावः। यद्वा, तादृशे लोके मार्गेषु नष्टेषु 'वादवादांस्त्यजेत्तर्कान् पक्षं कंच न संश्रयेदि' तिसप्तमस्कन्धीयनारदवाक्यानुसन्धानेन विवक्षितमार्गस्यैव दृढग्रहणात् कलौ तत्तन्मार्गाणां साधकत्वतरतमभावादिकलहे नष्टे। चकारोत्र तन्नाशसमुच्चायकः। तथा सति तथेत्यर्थः। एवमपि बोध्यम्, प्रथमव्याख्यानरीतौ कलौ सर्वमार्गेषु नष्टेष्वितिपदानां, कलावित्यस्यैव वाग्रिमश्लोकपञ्चकेनुषङ्गो बोध्यः।

उपर के श्रीमद्-भागवत के दोनों श्लोकों में (१२/३/५१ एवं ११/५/३६) यह शंका नहीं करनी चाहिए कि पहले श्लोक में एवं दूसरे श्लोक में भगवान का संकीर्तन करने से भगवान प्राप्त हो जाते हैं, यह कहा गया है एवं यहाँ इस कृष्णाश्रयग्रंथ में आचार्यचरण भगवद्-प्राप्ति के लिए आश्रय का उपदेश कर रहे हैं। वह इसलिए क्योंकि आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि जलभेदग्रंथ में कही गई रीति के अनुसार भगवान का कीर्तन करने वाले की सही जाँच-पड़ताल करके फिर उसका सत्संग करके भगवान का आश्रय प्राप्त करने की भावना करनी चाहिए, यह भाव है। (जानना चाहिए कि, कीर्तन शब्द का प्रयोग वैसे भजन करना या गान करने के अर्थ में रूढ़ है परंतु कीर्तन शब्द का वास्तविक अर्थ कथन करना, कहना अथवा तो संवाद होता है। अतः भगवान का संकीर्तन करने का वास्तविक - अर्थ है भगवद्-गुणानुवाद करना।) अथवा, ऐसा अर्थ कर लें कि, ऐसे लोक में जहाँ समस्त मार्ग नष्ट हो गये हैं वहाँ श्रीमद्-भागवत के "असत्य अनात्मवस्तु का प्रतिप्रादन करने वाले शास्त्रों से प्रीति न करे। केवल वाद-विवाद के लिए कोई तर्क न करे और संसार में किसी का पक्ष न ले (श्री.भा. ७/१३/७)" इस सप्तम-स्कंध के नारदवाक्य का अनुसंधान करने से इस ग्रंथ में कहा गया आश्रय का मार्ग / भक्तिमार्ग ही आचार्यचरणों ने दृढ़तापूर्वक ग्रहण किया है। अतः इस कलिकाल में वे समस्त मार्ग "कौनसा मार्ग अधिक साधक है, कौन सा मार्ग अल्प साधक है" इस प्रकार के कलह द्वारा नष्ट हो गये होने के कारण आपश्री आज्ञा कर रहे हैं कि, ऐसी परिस्थिति में कृष्ण ही मेरी गति हैं। 'च' शब्द से इन समस्त मार्गों का नाश हो गया है - यह अर्थ सूचित होता है। इन मार्गों के नष्ट हो जाने के कारण आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, कृष्ण ही मेरी गति हैं - यह अर्थ हैं। इसी प्रकार आगे के समस्त श्लोकों का भी अर्थ समझ लेना चाहिए। यहाँ यह भी समझना चाहिए कि, प्रथम श्लोक के द्वारा आचार्यचरणोंने व्याख्यान रीति से यह बताया है कि, प्रथम श्लोक

अगले पाँच श्लोकों से संबंधित है। (अर्थात् जैसे कि प्रथमश्लोक में यह बताया गया कि, कलिकाल खलधर्मी हो जाने के कारण सर्वमार्ग नष्ट हो चुके हैं और लोक में प्रचुर पाखंड फैल गया है, वैसे ही अगले पाँच श्लोकों तक में जो बातें बताई जा रही हैं, वह भी कलिकाल में ही हो रही हैं, यह संबंध है। जैसे कलिकाल में ही देश म्लेच्छों से आकांत हो गया है एवं सत्पुरुषों को पीड़ा हो रही है। कलिकाल में ही गंगा आदि तीर्थ दुष्टों से घिर गये हैं और उनकी आधिदैविकता तिरोहित हो गई है, इत्यादि।)

एतद्रीत्या व्याकुर्वन्तः प्राञ्चः सर्वेपि विशेष्यान्वितस्यैवकारस्यान्ययोग-व्यवच्छेदकतयां शकलावतारव्यवच्छेदं तेनाहुः, तदस्माकमप्यभिप्रेतम् । श्रीरघुनाथास्तु 'खरधर्मिणी'ति पाठान्तरमप्युपन्यस्य खरश्चासौ धर्मश्चेति कर्मधारयान्मत्वर्थीयेन्प्रत्ययं बहुव्रीहिविग्रहे 'क'प्रत्ययापत्तिभियाहुः, चकारं च कलिव्यतिरिक्तकालसमुच्चायकमाहुः, मायातरणे प्रपत्यतिरिक्तसाधना-भावस्य सर्वकालेषु तौल्यादिति तेषामाशयः । प्रार्थना तु सर्वमतेप्यन्यार्था ॥१॥

इसी रीति से समस्त प्राचीन टीकाकारों ने व्याख्या करते हुए इस श्लोक में प्रयुक्त हुए 'एव' शब्द के द्वारा अन्य देवताओं को छोड़कर केवल श्रीकृष्ण की ही शरणागति करने का अर्थ बताया है, जो मुझे भी अभिप्रेत है। श्रीरघुनाथजी ने तो 'खलधर्मिणी' के स्थान पर खरधर्मिणी पाठ भी मानते हुए कर्मधारय-समास माना है। और 'च' शब्द से उन्होंने यह बताया है कि केवल कलिकाल में ही नहीं परंतु समस्त काल में भी श्रीकृष्ण ही हमारी गति हैं। अर्थात् माया-मोह से छूटने के लिए केवल कलिकाल में ही नहीं अपितु अन्य समस्त कालों में भगवान की शरणागति के अतिरिक्त और कोई दूसरा साधन नहीं है, यह उनका आशय है। सभी टीकाकारों का मत यह है कि आचार्यचरणों ने अन्य जीवों के लिए इस ग्रंथ में प्रार्थना की है ॥१॥

एवं कालदोषेण सङ्गदोषं मार्गनाशं चोपपाद्य कालस्य साधारणत्वेन देशानामसाधारणत्वेन तदपेक्षयान्तरङ्गत्वात्तत्र च 'काश्यादिपुर्यो यदि सन्ति लोके तासां तु मध्ये मथुरैव धन्या । या जन्ममौञ्जीव्रतमृत्युदाहैर्नृणां चतुर्धा विदधाति मुक्तिमि'-त्यादिभिर्देशस्तावकवाक्यैः साक्षात्साधकत्वस्य 'देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितानि' त्यादिभिर्वाक्यै-र्मार्गानुकूलतायाश्च प्रतीतेः प्राप्तं तथात्वभ्रमं वारयितुं कालेन देशदोषादिकं वदन्त आहुः-म्लेच्छेत्यादि ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

अत्रापि भावलक्षणा सप्तमी । चोवधारणे । कलावित्यनुषज्यते । देशेषु म्लेच्छैर्यवनैः उपलक्षणमेतत् अतितामसैरिति यावत्, तैराक्रान्तेषु व्याप्तेषु । व्याप्तिश्च तदाज्ञाद्यनुरूपस्थितिकत्वम् । तदाज्ञानुरूपस्थितौ को दोष इत्यत आहुः पापेत्यादि । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' तत्पुरुषगर्भः कर्मधारयः । पापानां व्यभिचारचौर्यदौर्जन्यादीनामेक-निलयेषु मुख्यस्थानेषु । ते हि लुब्धाः कामिनो हिंस्राश्च, ततस्तत्र व्यभिचारादिकं कुर्वन्ति चौर्यादिकं कारयन्ति च । तदवलोकलोका अपि पैशुन्यशाम्भ-ल्यादिना तथा विदधतीत्येष दोष इत्यर्थः ।

अतः उपर्युक्त पद्धति से आचार्यचरणों ने कालदोष के द्वारा संगदोष उत्पन्न होना एवं मार्ग का नाश होना बताया है। काल तो सर्वत्र एक जैसा एवं सर्वत्र व्याप्त है परंतु काल की अपेक्षा देशों में विशेष परिवर्तन हुआ है अतः काल की तुलना में देश की परिस्थितियाँ असाधारण हैं। और इसके अतिरिक्त यह भी है कि "काशी जैसी नगरियों में मथुरानगरी ही धन्य है, जो चार प्रकार से मुक्ति देती है। एक जन्म लेने से, दूसरे यहाँ यज्ञोपवीत करने से, तीसरे मृत्यु होने से एवं चौथे मृत्यु कहीं भी हो परंतु यहाँ अग्निसंस्कार करने से" इत्यादि वाक्यों में स्थान की महिमा गायी गयी है और कहा गया है कि कुछ स्थानविशिष्ट धर्म के साक्षात् साधक हैं। जैसे "मेरे भक्त, साधुजन जिन पवित्र स्थानों में रहते हों, वहीं निवास करना चाहिए (श्री.भा. १०/२९/१०)" इत्यादि वाक्यों से यह प्रतीत होता है कि इन पवित्र स्थलों पर निवास करने से भगवद्-मार्ग पर चलना अनुकूल हो जाता है - इस भ्रम का निवारण करने के लिए आचार्यचरण अग्रिम श्लोक में म्लेच्छ इत्यादि शब्दों से काल के दुष्ट हो जाने के कारण देश में भी आ जाने वाले दोषों को कह रहे हैं।

इस श्लोक में भी भावलक्षणा-सप्तमी समझनी चाहिए। 'च' शब्द 'और' के अर्थ में न होकर यहाँ इस श्लोक में कही बात हृदय में व्यवस्थित धारण करने के अर्थ में आचार्यचरणों ने प्रयुक्त किया है। इस श्लोक में कही गई सभी बातें अर्थात् देश म्लेच्छों से आक्रांत हो गया है, पाप का घर बन चुका है, सत्पुरुषों को पीड़ा होने से वे व्यग्र हो गये हैं - यह सभी बातें कलियुग में हो रही हैं, यह समझना चाहिए। यों तो आचार्यचरणों ने इस श्लोक में यह आज्ञा की है कि देश म्लेच्छों/यवनों से आक्रांत हो गया है परंतु इसे उपलक्षण ही समझना चाहिए, वास्तव में तो आपश्री का तात्पर्य यह है कि, अति तामसी लोगों से देश आक्रांत हो चुका है, व्याप्त हो चुका है। इनसे व्याप्त होने का अर्थ यह है कि, हमें इनकी आज्ञा अनुसार रहना पड़ रहा है। इनकी आज्ञा के अनुसार रहने में क्या दोष है - यह आचार्यचरण पाप इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। 'एक' शब्द का

अर्थ 'मुख्य'-'अन्य' और 'केवल' इन तीन अर्थों में होता है। **पापैक** शब्द में तत्पुरुष-समास है एवं **पापैकनिलयेषु** में कर्मधारयसमास है। इसका अर्थ यह हुआ कि धर्मस्थल एकमात्र पाप, व्यभिचार, चोरी, दुर्जनता आदि के घर बन चुके हैं। पापी-पुरुष लोभी, कामी एवं हिंसक हो गये हैं, यहाँ-वहाँ व्यभिचार करते फिर रहे हैं, चोरी-आदि करवा रहे हैं। इनकी देखादेखी अन्य लोग भी चुगलखोरी, वेश्यावृत्ति करने लग पड़े हैं, यह दोष है।

ननु न सर्वे तादृशा इति नैष दोष इत्यतो दोषान्तरमाहुः-सत्पीडेत्यादि । सतां स्वधर्मवर्तिनां पीडया मिथ्याभिशापदण्डादिरूपक्लेशेन व्यग्रा उद्विग्ना लोकाः सम्यञ्चो जना येष्विति । एवं च कलिकृतास्तेषु चत्वारो दोषा उक्ताः। तामसप्रभुकत्वम्, पापबाहुल्यम्, सत्पीडा, सदुद्वेगश्चेत्येतैरुपद्रवेण सम्यक्कर्तुमशक्त्या, सर्वमार्गेषु नष्टेषु सत्सु कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥२॥

परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि सभी लोग तो ऐसे दुष्ट नहीं होते, तो इसे दोष कैसे कहा जा सकता है ? तो अब आचार्यचरण **सत्पीडा** इत्यादि शब्दों से दूसरे दोष कह रहे हैं। **सतां** का अर्थ है - स्वधर्म का निष्ठा से पालन करने वाले लोग; इन्हें पीड़ा होने का अर्थ यह है कि इनको व्यर्थ की गाली-गलौज एवं दंड मिलने के क्लेश से ये उद्विग्न हो गये हैं। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि जिस कलिकाल में सत्पुरुषों को ऐसी पीड़ा हो रही है, ऐसे में कृष्ण ही मेरी गति हैं। इस प्रकार से आचार्यचरणों ने इस श्लोक में कलिकाल के द्वारा होने वाले चार प्रकार के दोष कहे हैं। पहला तामसी लोगों का प्रभुत्व, पाप की बहुलता, सज्जनों को पीड़ा एवं उन्हें होता उद्वेग। इन चार प्रकार के दोषों के उपद्रव से लोगों में भला काम करने की शक्ति नहीं रह गई है अतः इस प्रकार समस्त मार्गों के नष्ट हो जाने पर आपश्री आज्ञा करते हैं कि, कृष्ण ही मेरी गति हैं ॥२॥

एवं कालेन देशदोषादिकमुपपाद्य तेषां बाह्यत्वेन जलस्य चान्तःप्रवेशबहिःसम्बन्धाभ्यां शोधकतया देशापेक्षयाप्यन्तरङ्गत्वात्तत्र च 'सद्यः पुनाति गाङ्गेयं दर्शनादेव नार्मदम्' 'कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी । ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर' 'प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेमलाशयाः ' इत्यादिवाक्यैः साधकत्वमार्गानुकूल-त्वप्रतीतेस्तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं कालेन तत्रापि दोषं वदन्त आहुः गङ्गादितीर्थवर्येष्विति ।

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

इह भारतवर्षे गङ्गादीनि यानि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टैः कर्मणा भावभेदेन च ये दूषितास्तैरेव वेष्टितेषु । अत्रापि भावलक्षणैव सप्तमी । तथाच 'किंचाहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजन्त्यघम् । मृजामि तदघं कुत्र राजंस्तत्र विचिन्त्यतामि'तिनवमस्कन्धे भगीरथं प्रति गङ्गावाक्याद्दुष्टावरणेन तेष्वपि शक्तिकौण्ठ्यदोष इत्यर्थः ।

इस प्रकार से आचार्यचरणों ने काल का वर्णन करते हुए देश-दोष आदि का विवरण कर दिया है। देश तो केवल स्वरूप से शुद्ध करता है परंतु जल तो बाहरी-भीतरी दोनों प्रकार से शोधक है अतः देश की अपेक्षा अधिक मुख्य है। जल के द्वारा शुद्धि का प्रकार तो "गंगा जल तो पतितों को शीघ्र ही पावन कर देता है, नर्मदाजल तो केवल दर्शन कर लेने मात्र से पावन कर देता है", "महापुण्या, कावेरी, महानदी, का जल पीने वाले मनुष्यों के समस्त पाप धुल जाते हैं। उनका अन्तःकरण प्रायःशुद्ध हो जाता है और वे भगवान वासुदेव के भक्त हो जाते हैं (श्री.भा. ११/५/४०)" इत्यादि वाक्यों में कहा गया है अतः लोगों को यह प्रतीति होती है कि, ये भगवद्-मार्ग को साधने में अनुकूल हैं। इस भ्रम का निवारण करने के लिए आचार्यचरण कलिकाल का प्रभाव होने के कारण इन नदियों में दोष बताते हुए गंगादितीर्थवर्षेयु इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आचार्यचरण यहाँ आज्ञा करते हैं कि, इस भारतवर्ष में गंगा जैसे जो श्रेष्ठ तीर्थस्थल हैं, वे दुष्टों से घिर चुके हैं। ऐसे दुष्टों से जो कर्मों से भी दुष्ट हैं और भावों से भी। यहाँ भी भावलक्षणा सप्तमी ही समझनी चाहिए। वह इस प्रकार कि "हे भगीरथ ! तुम इस बात का विचार कर लो कि मैं पृथ्वी पर जाऊँगी तो लोग अपने पाप मुझमें धोयेंगे। फिर मैं उस पाप को कहाँ धोऊँगी ? (श्री.भा. ९/९/५)" यह बात नवम-स्कंध में गंगाजी ने भगीरथ से कही है। अतः इस वाक्यानुसार दुष्टों से घिर जाने के कारण इन श्रेष्ठ तीर्थों की शक्ति भी कुंठित हो गई है, यह अर्थ है।

ननु 'साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः । हरन्त्यघं तेङ्गसङ्गात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिरि'ति तत्रैव गङ्गां प्रति भगीरथवाक्यात्तादृशां सङ्गादिना तन्निवृत्तेस्तस्य प्रायिकत्वान्नायं दोष इत्यत आहुः तिरोहिताधिदैवेष्विति । देवानां समूहो दैवम्, दैवे इत्यधिदैवं, देवसमूहे विद्यमानं गङ्गादेर्देवतारूपम्, तिरोहितं अधिदैवं यस्मिँस्तत्तिरोहिताधिदैवम् । तथाच देवसंसदि विद्यमानं यद्गङ्गादेराधिदैविकं रूपं तत्तिरोधानाच्छक्तिकौण्ठ्यतादवस्थ्यमित्यर्थः ।

परंतु यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इसी श्लोक के आगे भगीरथ ने गंगाजी को "हे माता ! ब्रह्मनिष्ठ और लोकों को पवित्र करने वाले

परोपकारी सज्जन अपने अंगस्पर्श से तुम्हारे पापों को नष्ट कर देंगे क्योंकि उनके हृदय में पापहर्ता भगवान सर्वदा निवास करते हैं (श्री.भा. ९/९/६)'' यह प्रत्युत्तर दिया है अतः सत्पुरुषों के संग से इन तीर्थों के दोष निवृत्त हो जाते हैं और प्रायः उनमें दोष नहीं रह जाते, तो आचार्यचरण तिरोहिताधिदैवेषु इत्यादि शब्दों से स्पष्टीकरण कर रहे हैं। देवों के समूह को 'दैवम्' कहते हैं; दैव में जो निवास करे उसे 'अधिदैवम्' कहते हैं अर्थात् देवताओं के समूह में रहने वाला गंगा-आदि तीर्थों का देवतारूप जिसमें से 'अधिदैव' तिरोहित हो चुका हो, उसे 'तिरोहिताधिदैवम्' कहते हैं। इस प्रकार से यह समझना चाहिए कि देवसभा में रहनेवाला गंगा आदि तीर्थों का जो आधिदैविक रूप है, वह तिरोधान हो जाने से ये तीर्थ शक्तिहीन हो गये हैं, यह अर्थ है।

यद्वा, तिरोहित आधिर्यस्य तत्तिरोहिताधि, तादृशं दैवं देवसमूहो येष्विति । 'तत्तेषां न प्रियं यन्मनुष्या विद्युरि'ति 'विप्रस्य वै संन्यसतो देवा दारादिरूपिणः । विघ्नं कुर्वन्त्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात्परमि'ति श्रुतिस्मृत्युक्तदिशा मनुष्यमुक्तिस्तेषां न प्रियेति तन्निवृत्त्यर्थं वाराहपाद्मादौ मुक्त्यभावाय भगवत्प्रार्थनावदत्र तीर्थादौ दुष्टेष्वाविश्य प्रतिबध्नन्तस्तिरोहिताधयो भवन्त्यतः शक्तिसद्भावेपि दोषतादवस्थ्यमतः कृष्ण एवेति पूर्ववदित्यर्थः । एतेन 'तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद् भवेत् । कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चय' इतिनिबन्धोक्तौ युक्तिरपि प्रत्यक्षादिरूपा दर्शिता ॥३॥

अथवा यों अर्थ कर लें कि जिन देवताओं की आधि (पीड़ा) दूर हो गई है, ऐसे देवताओं के समूह को यहाँ 'तिरोहिताधिदैवम्' शब्द से कहा गया है। यहाँ तिरोहिताधिदैवम् शब्द का अर्थ यह किया गया है - उन देवताओं का समूह जिनकी आधि (पीड़ा) दूर अर्थात् तिरोहित हो चुकी है। (जानना चाहिए कि देवताओं की प्रवृत्ति ईर्ष्यालु मानी गई है, वे मनुष्यों की उन्नति से ईर्ष्या रखते हैं। वे नहीं चाहते कि कोई मनुष्य पुण्य, सत्कर्म करके उनकी श्रेणी तक पहुँच जाय अतः वे मनुष्यों के जपतप, पुण्यकर्मों में विघ्न डालते रहते हैं। यहाँ तिरोहिताधिदैवेषु शब्द को देवताओं के लिए प्रयोग करने का अर्थ भी यही है कि यदि गंगा जैसे तीर्थ दुष्टों से घिर चुके हैं एवं मनुष्य इन तीर्थों से पुण्य नहीं कमा पा रहा है तो उसकी मुक्ति भी संभव नहीं अतः देवाताओं की आधि (पीड़ा) तो दूर (तिरोहित) हो ही गई।) ''हे उद्धवजी ! जब ब्राह्मण संन्यास लेने लगता है तो देवता स्त्री-पुत्रादि, सगे-संबंधियों का रूप धारण करके उसके संन्यास में विघ्न डालते हैं। वे सोचते हैं कि यह हम लोगों की भी अवहेलना करके परमात्मा को प्राप्त होने जा रहा है (श्री.भा. ११/१८/१४)'' इस श्रुति-स्मृति के वाक्यानुसार देवताओं को मनुष्यों की मुक्ति प्रिय नहीं लगती अतः उनकी मुक्ति न होने देने के लिए वाराहपुराण, पद्मपुराण आदि में कही गई मुक्ति मनुष्य को प्राप्त न होने देने के लिए भगवान से प्रार्थना जैसी करते हुए तीर्थक्षेत्रों में दुष्टों द्वारा प्रविष्ट होकर जीवों को बाँध कर प्रसन्न हो जाते हैं। इसी कारण तीर्थों में शक्ति होने पर भी इनमें दोष रहे हुए हैं अतः आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि कृष्ण ही मेरी गति हैं - यह अर्थ है। यह कहने से यहाँ आचार्यचरणों द्वारा निबंध में कही हुई ''तीर्थों में भी कदाचित् ही किसी की मुक्ति होती है, कृष्ण जिस पर कृपा करें, उसी की होती है अन्य किसी की नहीं'' (शा.प्र./४७) यह बात भी प्रत्यक्षरूप से दिखाई देती ही है, जो आपने इस श्लोक में कही है ॥३॥

अतः परं 'न ह्याप्ययानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः । ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधव' इतिवाक्यात्तदपेक्षयान्तरङ्गत्वेन तेषां च सङ्गस्य 'प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्' 'सतां प्रसङ्गात्' 'सन्त एतस्य छिन्दन्ति' 'सत्सङ्गेन हि दैतेया' इत्यादिवाक्यैः साधकत्वमार्गानुकूल-त्वप्रतीतेस्तत्र तथात्वभ्रमं वारयितुं कालकृतं सत्सु दोषं वदन्त आहुः अहङ्कारेत्यादि ।

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अत्रा'र्हाणां कर्तृत्व'इत्यनेन तद्वैपरीत्ये सप्तमी । कलौ सत्सु मार्गप्रचारकेषु पुरुषेष्वहङ्कारेण स्वपाण्डित्याभिमानेन विशेषतो मूढेषु सत्सु । तथात्वे गमकद्वयमाहुः पापेत्यादि । पापाः पापकर्तारो राजसास्तामसाश्च म्लेच्छादयस्तदनुवर्तिषु तदुपजीविकेषु । अक्रूरादेः कंसाद्यनुवृत्तिवदनुवर्तित्वेप्यदोष इति तद् व्यावृत्त्यर्थं विशेषणान्तरं लाभेत्यादि । लाभो द्रव्यादेः, पूजा उन्नतिः, अर्थशब्दो द्वन्द्वान्ते श्रुतः प्रत्येकं सम्बध्यते, तेन तदर्थं यत्नो बाह्याभ्यन्तर उद्यमो येषामिति । एतद् द्वयं विमूढत्वाज्ञापकम् । तथाच मार्गप्रचारकेष्वेतादृशेषु जातेषु सतामभावात्सङ्गो दुरापास्त इति सर्वमार्गेषु नष्टेषु कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥४॥

इसके पश्चात् अब यहाँ यह शंका होती है कि, श्रीमद्-भागवत के ''केवल जलतीर्थ ही तीर्थ नहीं हैं एवं मिट्टी-शिला आदि से बनी हुई मूर्तियाँ ही देवता नहीं हैं परंतु संतपुरुष भी देवता हैं। ये तीर्थ तो दीर्घकाल के बाद पवित्र करते हैं एवं सत्पुरुष तो अपने दर्शनमात्र से पवित्र कर देते हैं (श्री.भा. १०/४८/३१; १०/८४/११)'' इस वाक्यानुसार तीर्थक्षेत्रों की अपेक्षा संतपुरुषों का संग करना अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होता

है। और भी, "संग या आसक्ति यदि संतों-महापुरुषों के प्रति हो जाय, तो वह मोक्ष का खुला द्वार बन जाती है (श्री.भा. ३/२५/२०)", "सत्पुरुषों के सत्संग द्वारा शीघ्र ही श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का विकास होगा (श्री.भा. ३/२५/२५)", "संतपुरुषों का चित्त सदा मुझमें (भगवान में) लगा रहता है, वे सभी में भगवान का ही दर्शन करते हैं (श्री.भा. ११/२६/२६)", "हे उद्धवजी ! सत्संग के द्वारा ही दैत्य-राक्षस, पशु-पक्षी, गंधर्व-अप्सरा, इत्यादि को मेरी प्राप्ति हुई है (श्री.भा. ११/१२/३)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार सत्पुरुषों का संग करना भगवद्-मार्ग को साधने में अनुकूल है, यह प्रतीति होती है। अतः इस भ्रम का निवारण करने के लिए आचार्यचरण अग्रिम श्लोक द्वारा <u>अहंकार</u> इत्यादि शब्दों द्वारा यह कह रहे हैं कि, कालकृत उपद्रव से सत्पुरुषों में भी दोष उत्पन्न हो गये हैं अतः उनका संग भी साधक नहीं हो सकता।

इस श्लोक में "अर्हाणां कर्तृत्वे" सूत्र के द्वारा विपरीत-अर्थ में सप्तमी-विभक्ति माननी चाहिए। (अर्हाणां कर्तृत्वे सूत्र वहाँ लागू पड़ता है, जहाँ अपेक्षित कुछ और हो एवं घटना कुछ और घट रही हो। ऐसी परिस्थिति में सप्तमी-विभक्ति का प्रयोग होता है। जैसे-सत्सु तिष्ठत्सु असन्तः तरन्ति अर्थात् सत् जन यों ही बैठे रह गये और असन्त तर गये। अपेक्षा यह है कि सत् जन तर जाएँ, उनकी मुक्ति हो जाय और असत् जन अपने दुष्ट कर्मों के कारण बैठे रह जाने चाहिए थे, परंतु हुआ इससे विपरीत। अतः जहाँ विपरीत हुआ, वहाँ व्याकरणशास्त्र कहता है कि सप्तमी-विभक्ति होनी चाहिए। विशेष जानने के लिए अष्टा. २/३/३७ मे वार्तिक प्रयोग देखें यहाँ इस अहंकार..... गतिर्मम में भी विपरीत हुआ है। सज्जनों से यह अपेक्षा है कि वे अहंकारी एवं नहीं होने चाहिए एवं पापकर्म नहीं करने चाहिए, परंतु हो रहा है ठीक इसके विपरीत। अतः यहाँ सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ।) आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि इस कलियुग में <u>सत्स</u> अर्थात् मार्गप्रचारक पुरुष <u>अहंकार</u> से अर्थात् अपने पांडित्य के अभिमान से विशेषरूप से मूढ़ हो गये हैं। इसका कारण आपश्री **पाप** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **पापाः** अर्थात् पापी-पुरुष, राजसी-तामसी जीव, म्लेच्छ आदि एवं ऐसे लोगों पर अवलंबित होकर अपनी जीविका का निर्वाह करने वाले। इस कारण से आचार्यचरण इन्हें विशेषरूप से मूढ़ कह रहे हैं। परंतु यहाँ प्रश्न यह होता है कि अक्रूरजी ने भी तो कंस का अनुसरण किया था परंतु अक्रूरजी में कहाँ दुष्टता आई ? अतः अनुकरण करने मात्र में दोष कैसे कहा जा सकता है ? तो इस प्रश्न का समाधान करने के लिए आपश्री <u>लाभ</u> इत्यादि शब्दों से इनके दूसरे अवगुण गिना रहे हैं। लाभ का अर्थ है धन-प्राप्ति होनी; पूजा का अर्थ है, अपनी उन्नति होनी। 'अर्थ' शब्द लाभ-पूजा दोनों के साथ जुड़ेगा अतः कुल मिलाकर (लाभ + अर्थ + पूजा + अर्थ + यत्नेषु) अर्थ यह हुआ कि वर्तमान समय में सत्पुरुष केवल लाभ-पूजा के लिए यत्न कर रहे हैं अर्थात् बाहरी-भीतरी दोनों प्रकार से केवल खुद की ही उन्नति के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। इन्हीं दोनों लाभ-पूजा के लिए इनका प्रयत्नशील रहना इनकी मूर्खता को बता रहा है। ऐसी परिस्थिति में जहाँ मार्गप्रचारक ही ऐसे हो गये हैं, वहाँ सत्पुरुष तो मिल ही नहीं रहे हैं अतः सत्संग मिलना दुर्लभ हो गया है, सो आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, सभी मार्ग नष्ट हो गये हैं और अब कृष्ण ही मेरी गति हैं ॥४॥

अतः परं सतां दुर्मिलतया तदपेक्षया मन्त्रसाधनजपादेः स्वमात्रसाध्यतयान्तरङ्गत्वात्तत्र च 'परिहाय्यापि वेदांस्त्रीन् कर्माणि विहितानि च । गायत्रीमात्रमाश्रित्य द्विजो भवति निर्भयः' 'गायत्रीहीनवेदास्तु साङ्गा अपि च निष्फलाः' 'सर्वेषु वर्णेषु तथाश्रमेषु नारीषु नानाह्वयजन्मभेषु । दाता फलानामभिवाञ्छितानां द्रागेव गोपालकमन्त्र एष' इत्यादिवाक्यैस्तत्तन्मन्त्राणां तथात्वप्रतीतेस्तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं तत्रापि कालेन दोषं वदन्त आहुः-अपरीत्यादि ।

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञाननष्टेष्विति । अत्रापि पूर्ववदनुषङ्गो भावलक्षणा सप्तमी च । 'मन्त्रस्य च परिज्ञानमि'त्येकादशे भगवद्वाक्यात्परिज्ञानेन मन्त्रशुद्धिः । परिज्ञानं नाम गुरूपसत्त्यादिना विधानन्यासपाठार्थतात्पर्यविनियोगादीनां निर्धारस्तदभावोऽपरिज्ञानं, तेन नष्टेषु । स्वरूपस्य श्रावणत्वेपि शुद्ध्यभावेन 'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमि'तिवददृश्यमानेषु ।

उपर्युक्त परिस्थिति में सत्पुरुष मिलने तो दुर्लभ हो गये हैं अतः इन्हें ढूँढने का प्रयास करने से तो अच्छा यह रहेगा कि, भगवद्-प्राप्ति के लिए मंत्र-जप इत्यादि साधन कर लिए जाएँ क्योंकि कम से कम इनमें किसी और की तो अपेक्षा नहीं है और अपने-आप ही किए जा सकते हैं। अतः सत्संग की अपेक्षा इन पर निर्भर रहना अधिक श्रेयस्कर लगता है। और भी, "तीन वेदों को भी छोड़ दिया जाय, विहित-कर्मों को भी छोड़ दिया जाय परंतु केवल गायत्रीमंत्र का जाप करते रहने से ब्राह्मण निर्भय हो जाता है", "भले ही अंगसहित वेदों का आचरण करे परंतु गायत्रीमंत्र के जाप के बिना वह निष्फल ही है", "समस्त वर्ण, आश्रम, स्त्री, नाना प्रकार के पुनर्जन्म के भयभीतों को वांछित फल देने वाला एवं रक्षा करने वाला गोपालकमंत्र ही है" इत्यादि वाक्यों के अनुसार ये मंत्र-जाप आदि धर्म को साधने में अनुकूल प्रतीत होते हैं। अतः इस भ्रम का निवारण करने के लिए आचार्यचरण कालकृत उपद्रव के कारण इन मंत्रों में भी दोष बताते हुए <u>अपरिज्ञान</u> इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

अपरिज्ञाननष्टेषु इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । इसमें भी पहले की ही भाँति गौण-अर्थ एवं भावलक्षणा सप्तमी-विभक्ति माननी चाहिए । श्रीमद्-भागवत के एकादश-स्कंध में कहे "मंत्रों का अर्थ भलीभाँतिरूप से समझकर हृदयंगम कर लेने से मंत्र की शुद्धि होती है (श्री.भा.११/२१/१५)" इस भगवद्-वाक्य के अनुसार मंत्रों को भलीभाँति समझ-बूझ लेने से मंत्र की शुद्धि होती है । परिज्ञान (भलीभाँति रूप से समझना-बूझना) का अर्थ है - गुरु के शरणागत होकर मंत्रों के विधान, मंत्रों का न्यास, मंत्रपाठ का अर्थ, मंत्र का तात्पर्य, मंत्रों का विनियोग कहाँ करना, इत्यादि समस्त बातों का परिपूर्ण ज्ञान होना । जहाँ इन सभी बातों का ज्ञान नहीं है, वह 'अपरिज्ञान' है एवं आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, अपरिज्ञान के कारण मंत्रों का प्रभाव नष्ट हो गया है । भले ही मंत्रों का उच्चारण सुनाई दे रहा हो तथापि पूर्णशुद्धि न रखने के कारण वे मंत्र अपने सत्य स्वरूप का दर्शन नहीं देते । जैसे कि "कोई सुंदर स्त्री सुंदर वस्त्र धारण करके अपने आपको केवल अपने पति के आगे ही समर्पित करती है और कोई अयोग्य व्यक्ति उसे देखते हुए भी देख नहीं पाता और सुनते हुए भी सुन नहीं पाता (सरस्वती रहस्योपनिषद्/९ वां श्लोक)" इस वाक्य में कहा गया है, वैसे ही अशुद्धकर्ता मंत्रों के वास्तविक स्वरूप को देख़सुन नहीं पाता ।

क्वचित्कस्यचित्परिज्ञानदर्शनाद्दोषान्तरमाहुः-अव्रतयोगिष्विति । 'अव्रता बटवोऽशौचा' इतिद्वादशस्कन्धे कलिधर्मेषूक्तेर्मन्त्रोपाकरणदशायामेव गुरुकुलावासब्रह्मचर्याध्ययनधर्मपरिपालनाभावादव्रतेषु योगः सम्बन्धो येषां तादृशेषु । तेन दोषान्तरमप्याहुः तिरोहितार्थदेवेष्विति । तिरोहितावप्रतीयमानौ अर्थः प्रयोजनं तात्पर्यं च देवोधिष्ठात्री देवता तौ येषाम् । 'य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानी'त्यादिश्रुतिप्रभृत्युक्तनिदर्शनव्यभिचारेण तदुभयतिरोभावस्य स्फुटत्वान्न तेषामिदानीं साधकत्वं न वा मार्गानुकूलत्वमतः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥५॥

अब चलो मान लो कि कहीं मंत्रों का परिज्ञान भी दिखाई देता हो, तो आचार्यचरण अव्रतयोगिषु इत्यादि शब्दों से दूसरे दोष भी बता रहे हैं । श्रीमद्-भागवत के द्वादश-स्कंध में कलियुग "कलियुग में ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यव्रत से रहित एवं अपवित्र रहने लगते हैं (श्री.भा. १२/३/३३)" यह बात कलियुग के धर्मों के अंतर्गत कही गई है । अतः मंत्रों की आरंभदशा में ही गुरुकुल में आवास, ब्रह्मचर्य, अध्ययन, धर्मपरिपालन इत्यादि का अभाव होने के कारण ऐसे अव्रतों से संबंध हो जाने से मंत्रों की शक्ति भी क्षीण हो जाती है । इस परिस्थिति से उत्पन्न होने वाले अन्य दोषों को आपश्री तिरोहितार्थदेवेषु इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । तिरोहित होने का अर्थ है - प्रतीत न होना । अर्थः से तात्पर्य है - मंत्रों का प्रयोजन या तात्पर्य । अर्थात् मंत्र का प्रयोजन एवं उन मंत्रों में रहने वाले देवता का तिरोधान हो गया है इसे आचार्यचरण तिरोहितार्थदेवेषु शब्द से कह रहे हैं । श्रुति में कहे "जो इस मन्थ (यज्ञ में दी जानेवाली आहुति) द्वारा सूखे वृक्ष का सिंचन करेगा, तो यह वृक्ष पत्ते, लताओं आदि से पुनः हराभरा हो जायेगा" (बृहदा.६/३/७.....१२) इत्यादि वाक्यानुसार यहाँ बताए गये निर्देश का पालन न होने से मंत्रों का प्रयोजन एवं उसके देवता का तिरोहित हो जाना तो स्पष्ट ही है । (उपनिषद् की इस श्रुति में बताया गया है कि, इस मन्थविद्या को केवल अपने पुत्र अथवा अपने अन्तेवासी शिष्य को ही देना चाहिए । इसके अतिरिक्त किसी अनधिकारी व्यक्ति को इस विद्या का दान करने पर यह मंत्र निष्फल हो जायेगा) अतः वे मंत्र इस समय न तो हमारे लिए साधक हो सकते हैं और न ही हमारे भगवद्-मार्ग के अनुकूल ही हो सकते हैं । अतः आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं कि, कृष्ण ही मेरी गति हैं ॥५॥

अतः परं मन्त्रापेक्षयापि स्वधर्माणां व्रतानामाचारस्य च पूर्वोक्तदोषाभावेन सुकरत्वेन चान्तरङ्गत्वात्तत्र च 'स्वधर्मस्थो यजन्यज्ञैरनाशीः काम उद्धव । न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यत्र समाचरेत्' 'इह लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोनघः शुचिः । ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं च यदृच्छये'त्येकादशस्कन्धीयैः' 'केदारे उदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते' 'तथा चैकादशी ह्येका गर्भवासक्षयङ्करी । एकादशीसमं पुण्यं न भूतं न भविष्यती'त्यादिभिः पुराणान्तरीयैर्भगवद्वाक्यै'राचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युत' इत्यादिभिर्भारतीयैश्च वाक्यैर्धर्मव्रतादीनां साधकत्वादिप्रतीतेरस्तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं तेष्वपि कालेन दोषं वदन्त आहुः नानेत्यादि ।

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानाप्रकारका ये वादाः स्वरूपफलादिविषयकास्तैर्विशेषेण स्वरूपेण फलादिना च नष्टेषु तिरोहितेषु । तत्र स्वरूपतो नाशो वेदबाह्यानां वादात् । 'यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्' 'अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकम् । प्रज्ञापौरुषनिःस्वानां जीवो जल्पति जीविका' इत्यादिरूपात् ।

अब इसके पश्चात् यहाँ एक संदेह यह होता है कि, मंत्रों की अपेक्षा तो स्वधर्माचरण एवं व्रतपालन इत्यादि में उपर कहे दोष न होने से सुगमता है और श्रीमद्-भागवत के एकादश-स्कंध में कहे "हे उद्धव ! अपने वर्ण एवं आश्रम के अनुकूल धर्म में स्थित होकर यज्ञों द्वारा निस्वार्थ

भावना से मेरी आराधना करे एवं निषिद्ध कर्मों से दूर रहकर धर्म के कार्य करे, तो उसे स्वर्ग-नर्क के चक्कर में नहीं पड़ना पड़ता। अपने धर्म में निष्ठा रखने वाला पुरुष इस शरीर में ही रहते हुए निषिद्ध कर्मों का त्याग करके पवित्र हो जाता है और इसी से उसे विशुद्ध तत्वज्ञान अथवा मेरी भक्ति प्राप्त होती है (श्री.भा. ११/२०/१०,११)", "केदार में जल पीने वाले को पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता", "एकादशी तिथि पुनर्जन्म का क्षय करने वाली है। इसके जैसा पुण्य न था न होगा" इत्यादि पुराणों में बताए भगवद्-वाक्यों के अनुसार एवं "आचारप्रभवो धर्मो....." इस महाभारत के वाक्यानुसार धर्म-व्रत करना इत्यादि धर्म के साधक प्रतीत होते हैं। इस भ्रम का निवारण करने के लिए आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में **नाना** इत्यादि वाक्यों से यह कह रहे हैं कि ये भी कालदोष से ग्रस्त हो चुके हैं।

आपश्री का तात्पर्य यह है कि नाना प्रकार के वाद जो अपने-अपने ढंग से अपने-अपने स्वरूप एवं फल को बता रहे हैं, ये इसी कलह के कारण विशेषरूप से नष्ट हो चुके हैं अर्थात् तिरोहित हो गये हैं। धर्म-कर्म के स्वरूप का नाश तो वेदविरोधियों के वाद के कारण हो गया है, जैसे इन वाक्यों में कहा गया है कि - "जब तक जियो, सुख से जियो। धर्म, भगवान, वेद ये व्यर्थ की बातें हैं", "अग्निहोत्र करने वाले, तीन वेदों का पालन करने वाले, त्रिदंडधारी, भस्म-तिलक लगाने वाले बुद्धिहीन एवं पुरुषार्थरहित होते हैं और इन सबको वे अपनी जीविका का साधन बनाते हैं" इत्यादि वेदविरुद्ध मान्यताओं से धर्म के स्वरूप का नाश हो गया है।

फलतो नाशस्तु यथैकादशीव्रतादौ 'शुक्रेण मोहिता विप्रा दैत्यानां कारणे भुवि । तुष्ट्यर्थं दशमीविद्धं कुर्वन्ति मम वासरमि'ति पाद्मे 'पुरा देवैर्ऋषिगणैः स्वपदच्युतिशङ्कया । सप्तमीवेधजालेन गोपितं चाष्टमीव्रत'मिति स्कान्देऽन्यत्र च निषेधनिन्दादेर्वेधस्वरूपनिर्णयस्य च विद्यमानत्वेपि तदनादृत्य स्वस्वाग्रहेण वाक्याभासान्न्यायाभासांश्च समुदाहृत्य निर्णयन्ति, तादृशस्थले बोध्यः । एवं स्वधर्माचारयोरपि विप्रतिपत्त्या फलतो नाशो बोध्यः ।

धर्म के फल का नाश तो - जैसे एकादशी के व्रत-आदि में लोग करते हैं कि, "असुरों के गुरु शुक्राचार्यजी को प्रसन्न करने के लिए जैसे दैत्यों ने दशमीविद्धा एकादशीव्रत किया था, वैसे भूतल पर लोग दशमी के वेधवाली एकादशी करने लगे हैं - इस पद्मपुराण की उक्ति के अनुसार हो गया है। स्कंधपुराण में भी "देवों एवं ऋषिगणों ने अपना पद खोने के भय से सप्तमीवेध अष्टमी व्रत किया" इत्यादि वाक्यों में किसका निषेध किया गया है, क्या निंदनीय है, इन सभी का उल्लेख करते हुए वेधस्वरूप का निर्णय किया गया है ही, तथापि इन समस्त वाक्यों का अनादर करते हुए आज लोग अपने-अपने आग्रह से "इन वाक्यों में यह आभासित होता है, इन वाक्यों में तो यह न्याय आभासित होता है" इस प्रकार के उदाहरण दे - दे कर स्वयं ही निर्णय करने लगे हैं। जहाँ इस प्रकार की वृत्तियाँ चल रही हैं, जहाँ स्वधर्माचरण एवं आचार-विचार में ऐसी आपत्ति आने लगी है, वहाँ धर्म के फल का नाश समझ लेना चाहिए।

वादे प्रयोजकमाहुः पाषण्डेति । पाषण्डेन दम्भेन एकोन्यःप्रयत्न उद्यमो येषामिति । स च ' वेश्यावेश्मसु सीधुगन्धिल-लनावक्त्रासवामोदितैर्नीत्वा निर्भरमन्मथोत्सवरसैरुन्निद्रचन्द्रक्षपाः सर्वज्ञा इति दीक्षिता इति चिरात्प्राप्ताग्निहोत्रा इति ब्रह्मज्ञा इति तापसा इति दिवा धूर्तैर्जगद्वञ्च्यते' इतिवद्बोध्यः । अत एवं भूयोदर्शनात्स्वधर्मव्रतादीनामपि न स्वतः साधकत्वं न वा मार्गानुकूलत्वमतः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥६॥

किंतु ये इतने प्रकार के वाद क्यों चल निकले हैं, यह आचार्यचरण **पाषण्ड** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। पाषंड का अर्थ है 'दंभ'। जो लोग केवल दंभ करने का ही प्रयत्न कर रहे हैं, उन्हें आपश्री 'पाषण्डैकप्रयत्नः' कह रहे हैं। इसे इस प्रकार से समझें कि "दुश्चरित्र स्त्रियों के घरों में उनके मुख से मादकपेयों का पान करते हुए मदमत्त होकर काम-उत्सव के रस से ओतप्रोत होकर चंद्रमा की रात्रियों मे रतजगे हैं, और वही लोग दिन में 'हम सर्वज्ञ हैं', 'हम दीक्षित हैं', 'हम अग्निहोत्री हैं', 'हम ब्रह्मज्ञ हैं, तपस्वी हैं" ऐसा कहते हुए धूर्त जगत् को ठग रहे हैं - इस वाक्यानुसार वर्तमान में लोगों में धर्म केवल दिखावे के लिए रह गया है और लोग धर्म के नाम पर जगत् को ठग रहे हैं। अतएव बहुतायत में यही अधर्म दिखाई देता होने से स्वधर्माचरण एवं व्रत-आदि भी अपनेआप में साधक नहीं हो सकते और न ही भगवद्-मार्ग के अनुकूल हो सकते हैं। अतः आचार्यचरण कह रहे हैं कि, कृष्ण ही मेरी गति हैं ॥६॥

एवं षड्भिर्भक्त्यादिमार्गाणां दुःसाध्यताज्ञापनाय कालकृतसर्वसन्मार्गनाशबोधनमुखेनाश्रयणस्योपायत्वं साधितम् , तदिदं तदा दृढीभवति यदा भगवानाश्रिते स्वमाहात्म्यमनुभावयति तदर्थमाहुः अजामिलादीति ।

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादीति । अजामिलः षष्ठस्कन्धे प्रसिद्धो दासीपतिर्ब्रह्मबन्धुः । आदिपदेन गजेन्द्राहल्याद्या, नृसिंहपुराणे नवमाध्याये मार्कण्डेयमृत्युप्रसङ्गे उक्ता नारकिणश्च, तेषां ये दोषा इहजन्मनि पूर्वजन्मनि च कृतानि पापानि तेषां नाशकः ।

एतेन तादृशमाहात्म्ये तदनुभावने च शब्दः प्रमाणमुक्तम् ।

इस प्रकार यहाँ छह श्लोकों तक आचार्यचरणों ने कलिकाल में भक्ति-आदि मार्गों की दुःसाध्यता बताने के लिए कलिकाल के उपद्रव द्वारा समस्त मार्गों का नाश बताते हुए केवल भगवद्-आश्रय को ही एकमात्र उपाय बताया है। परंतु भगवद्-आश्रय भी तब ही दृढ़ होता है, जब भगवान उन पर आश्रित जीव को अपने माहात्म्य का अनुभव कराते हैं। आचार्यचरण अब आगे के श्लोक में अजामिलादि इत्यादि शब्दों से भगवद्-माहात्म्य का वर्णन कर रहे हैं।

इस श्लोक में कहे **अजामिल** इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। अजामिल का चरित्र श्रीमद्-भागवत के षष्ठस्कंध में प्रसिद्ध है, वह दासीपति एवं अधम ब्राह्मण था। आचार्यचरणों ने 'अजामिलादि' (अजामिल + आदि) कहा है, अतः आदि पद से गजेन्द्र, अहिल्या एवं नृसिंहपुराण के नवमाध्याय में मार्कण्डेयमृत्यु के प्रसंग में कहे नारकीय जीव भी समझ लेने चाहिए। आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि, ऐसे जीवों के इस जन्म एवं पूर्वजन्म के किए गये पापों के भगवान नाशक हैं। आचार्यचरणों ने भगवान का माहात्म्य बताने के लिए यहाँ अजामिल आदि का उदाहरण देकर शब्दप्रमाण दिया है, प्रत्यक्षप्रमाण के लिए वे **अनुभव** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

प्रत्यक्षमाहुः अनुभव इत्यादि । अनुभवेऽस्माकं स्थितो विषयीभूतो ज्ञापितसमग्रमाहात्म्यः, एतेन प्रपन्नस्य मायातरणे सति प्रतिबन्धकाभावात्स्वयमेवाग्रे माहात्म्यं गोचरीभवतीति ज्ञापितम् । ततश्च पूर्वमार्षे शब्दे श्रीमदाचार्यचरणोक्तौ वोभयत्र वा विश्वस्य भगवदाश्रयणे भगवानेव साधनान्तरापेक्षां विना सर्वं ज्ञापयंस्तद्गोचरो भवतीति सूचितम् । कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥७॥

आपश्री कह रहे हैं कि भगवान का ऐसा समग्र माहात्म्य आपश्री के अनुभव में है अतः वे कहते हैं कि भगवान के शरणागत होने वाले जीव की माया निवृत्त होने के पश्चात् एवं तब प्रतिबंधकों के भी न होने के कारण आगे उसे स्वयं ही भगवद्-माहात्म्य दृष्टिगोचर हो जायेगा, यह सूचित किया है। और, इससे भी पहले, ऋषि-मुनियों के कथन पर अथवा आचार्यचरणों के कथन पर अथवा तो दोनों के ही कथन पर विश्वास रखने वाले जीव को भगवान का आश्रय करने पर भगवान ही अन्य साधनों की अपेक्षा न रखते हुए उसे अपना समस्त माहात्म्य बताते हुए उसके दृष्टिगोचर हो जाते हैं, यह सूचित किया है। अतः आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं कि कृष्ण ही मेरी गति हैं ॥७॥

एवमत्र शब्दप्रत्यक्षाभ्यां पूर्वोक्तश्रुतिब्रह्मवैवर्त्तादिरीत्या भगवानेव पुष्टिमार्गीयाणां साधनमिति साधितमतः परं पूर्वोक्तश्रुतिगौतमीयतन्त्रोक्तरीतिकं भगवतः फलत्वं साधयन्ति प्राकृता इत्यादि ।

प्राकृताः सकलाःदेवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

देवा-अष्टौ वसव, एकादश रुद्रा, द्वादशादित्या, इन्द्रः, प्रजापतिश्चेति त्रयस्त्रिंशत् वा, 'अग्निरवमो देवानां विष्णुःपरमस्तदन्तरेणान्या देवता'इत्यग्न्यादयो विष्ण्वन्ताः। अत्र विष्णुः कालः, 'स विष्ण्वाख्योधियज्ञोसौ कालः कलयतां वर' इतिवाक्यात्तदन्ता वा। अकारं ब्रह्माणं नाभावुकारं विष्णुं हृदये मकारं रुद्रं भ्रूमध्य इति प्रणवमात्राधिष्ठातारो विश्वादयो वा प्रजापत्यन्ताः, शतानन्दिनो वा । ते सकलाः कला अंशस्तत्सहिताः, सर्वे प्राकृताः, प्रकृतिर्माया 'मायां तु प्रकृतिं विद्यादि'-तिश्रुतेस्तदधीनाः । कालस्य क्षोभकतया गुणानुरोधित्वेन गुणाधिष्ठातृणामभिमानित्वेन च प्राकृतत्वम् ।

यहां तक आचार्यचरणों ने शब्दप्रमाण एवं प्रत्यक्ष-प्रमाण के द्वारा पूर्व में कही श्रुति एवं ब्रह्मवैवर्तपुराण में कही गई रीति के अनुसार पुष्टिमार्गीयों के लिए भगवान ही एकमात्र साधन हैं, यह सिद्ध किया है। इसके पश्चात् अब आपश्री श्रुति, गौतमीयतंत्र में कही रीति से भगवान ही फल हैं - यह **प्राकृता** इत्यादि शब्दों से सिद्ध कर रहे हैं।

देवा का अर्थ है - आठ वसु, एकादश रुद्र, बारह सूर्य, इंद्र, एवं प्रजापति अथवा तो तैंतीस करोड़ देवता। अर्थात् "देवताओं में अग्निदेव छोटे हैं एवं विष्णुदेवता बड़े। विष्णु में ही अन्य समस्त देवता समाये हुए हैं" इस श्रुति के अनुसार यहाँ कहे गये देवा शब्द से अग्निदेव आदि देवता से लेकर विष्णु तक समस्त देवता समझ लेने चाहिए। अथवा तो यह अर्थ कर लें कि विष्णु पद काल का वाचक है और "वह यज्ञ को संपूर्ण करने वाला विष्णु नाम का काल इसमें रहने वाले अन्य सभी में सर्वश्रेष्ठ है" इस वाक्य के अनुसार काल के अंतर्गत आने वाले समस्त पदार्थ यहाँ देवा शब्द से कहे जा रहे हैं। अथवा तो फिर देवा शब्द का यह अर्थ कर लें कि, अकार-ब्रह्मा जो नाभि में स्थित हैं, उकार-विष्णु जो हृदय में स्थित हैं और मकार-रूद्र जो भ्रूमध्य में स्थित हैं, ऐसे ओंकार में स्थित रहने वाले ये तीन देवता अथवा विश्वदेवता, प्रजापति इत्यादि देवता

अथवा तो सौ-गुना आनंद वाले समस्त देवता। सकला का अर्थ है भगवान की कला-अंश सहित जो देवता हैं, वे। ये सभी देवता प्राकृत हैं। प्रकृति का अर्थ है, माया। "माया ही प्रकृति है" इस श्रुति के अनुसार ये देवता माया के अधीन हैं। इन देवताओं को काल

डाँवाडोल कर सकता है, ये तामस-राजस-सात्विक गुणों से युक्त हैं, इन्हें अपने गुणों का अभिमान है अतः आचार्यचरण इन्हें प्राकृत कह रहे हैं।

बृहदक्षरं गणितानन्दकं, गणितः 'स एको मानुष आनन्द' इत्यारभ्य शतानन्दिनां गणने 'स एको ब्रह्मण आनन्द' इत्युत्तरावधौ ब्रह्म गणितम्, अत एवंसङ्ख्यात आनन्दो यत्र, स्वार्थे कस्तादृशम्। तेन तुरीयकोटिनिविष्टा ओंकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्त इत्याद्युक्ता गुणावतारा अपि तत्रैव प्रविशन्तीति बोधितम्। हरिः पुरुषोत्तमोऽ'क्षरात्परतः परः' स उत्तमः पुरुषः। 'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम' इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रतिपाद्यः। पूर्णानन्दः शतानन्दसङ्ख्याने ब्रह्मानन्दस्य सर्वपरत्वेन गणनया मनोवाग्गोचरतामेव प्रतिपाद्य तदुत्तरानुवाके 'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चने'तीतिश्रुतावानन्दस्य मनोवागगोचरत्वकथनेन तदपेक्षयाधिक्यस्यानवधित्वस्य च बोधनात्तथा। तस्मादानन्दे निरवधित्वस्यैव परमफलतावच्छेदकत्वेन तस्य चात्रैव विश्रान्तेः कृष्णः पूर्वोक्तरीतिकः मम परमफलरूपोस्त्विति पूर्ववत् ॥८॥

गणितानंद का अर्थ है, बृहद्-अक्षरब्रह्म। आचार्यचरणों ने अक्षरब्रह्म को गणित + आनंद कहा है, इसका तात्पर्य यह है कि "युवा हो, सदाचारी हो, श्रेष्ठकुल में उत्पन्न हुआ हो, स्वस्थ हो, बलशाली हो और धन-संपत्ति से मेरी यह संपूर्ण पृथ्वी उसके अधिकार में आ जाय, तो वह मनुष्य के लिए मनुष्यलोक का एक आनंद है (तै.२/८/२)" यहाँ से लेकर सौ-गुना आनंद की गणना में "प्रजापति का सौ-गुना आनंद ब्रह्मा का एक आनंद है (तै.२/८/१२)" इस श्लोक तक ब्रह्मा का आनंद गिना गया है। ब्रह्मा के आनंद की संख्या गिनी जा सकती है अतः आचार्यचरण इन्हें गणितानंद कह रहे हैं। स्वार्थ में 'क' प्रत्यय प्रयुक्त होने के कारण 'गणितानंदकं' शब्द बना है। अतः नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद् में वर्णित ओंकार, सर्वेश्वर, द्वादश-सूर्य इत्यादि प्रभु के गुणावतार भी गणितानंद-ब्रह्म में ही अन्तर्निहित हैं, यह सूचित होता है। भगवान हरिः तो पुरुषोत्तम हैं अर्थात् "अक्षरात्परतः परः" इस श्रुति द्वारा हरि ही उत्तम पुरुष हैं। भगवद्-गीता के "मैं क्षर-अक्षर दोनों से परे हूँ, सबसे उत्तम हूँ। इसलिए संसार में और वेदों में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ (भ.गी. १५/१८)" इत्यादि श्रुति-स्मृति के वाक्यों द्वारा प्रतिपादित किए गये हैं। अब पूर्णानंदः शब्द की व्याख्या कर रहे हैं। उपर के वाक्यों में प्रजापति का सौ-गुना आनंद ब्रह्मा का एक आनंद है - इस प्रकार से ब्रह्मानंद की गणना सर्वोपरि बताई गई है और ब्रह्मानंद मन एवं वाणी से अनुभव भी किया जा सकता है परंतु इन्हीं श्लोकों के पश्चात् नौवें अनुवाक में भगवान पुरुषोत्तम के लिए "मन के सहित वाणी आदि समस्त इंद्रियाँ पुरुषोत्तम के स्वरूप को जाने बिना ही लौट आती हैं (तै. २/९/१)" कही गई इस श्रुति में भगवान पुरुषोत्तम का आनंद मन एवं वाणी के अनुभव से परे बताया गया है। अतः पुरुषोत्तम का आनंद अक्षरब्रह्म से अधिक है एवं निरवधि (जो कभी खत्म न हो) है, इसलिए आचार्यचरण श्रीकृष्ण को 'पूर्णानंद' कह रहे हैं। अतः आनंद में रही परमफलता उसकी निरंतरता के कारण है और वह आनंद की निरंतरता केवल श्रीकृष्ण में ही विद्यमान है, सो आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं कि उपर कही रीति-अनुसार श्रीकृष्ण ही हमारे परमफलरूप बनें ॥८॥

एवमष्टभिर्भगवत्स्वरूपविचारेणाश्रय एव सर्वथा साधको न त्वन्यः कोपि मार्गः साधक इति साधितम्। अतः परमाश्रयस्यापि साङ्गस्यैव साधकता विवेकधैर्याश्रये सिद्धेति तदङ्गाभावेऽपि यथा स फलं साधयति तमुपायं वदन्त आहुः विवेकेत्यादि।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

सर्वदुःखहर्ता भगवान् स्वेच्छातः सर्वं करिष्यतीत्येतद्विचारपूर्वकमनुसन्धानं विवेकः। सात्त्विकादीनां कायिकादीनां भौतिकादीनां त्रिविधदुःखानां प्रतीकारानाचरणेनोपेक्षणं धैर्यम्। माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुदृढः स्नेहो भक्तिर्नवविधा च। आदिपदेन तदङ्गानि। साङ्गे ज्ञानकर्मणी च। तै रहितस्यैतेन यावत्साधनराहित्यं सूचितम्।

इस प्रकार से आठ श्लोकों द्वारा आचार्यचरणों ने भगवद्-स्वरूप के विचार द्वारा, सभी प्रकार से भगवद्-आश्रय ही जीवों का एक मात्र साधक है, अन्य दूसरा कोई भी मार्ग साधक नहीं है - यह सिद्ध किया। इसके पश्चात् अब आगे के श्लोक में आचार्यचरण यह बता रहे हैं कि, जैसे विवेकधैर्याश्रयग्रंथ में यह बताया गया है कि भगवद्-आश्रय भी तब तक साधक नहीं हो सकता, जब तक उसके अंगभूत साधन विवेक-धैर्य न सिद्ध हुए हों, तो यहाँ आचार्यचरण अग्रिम श्लोक में वह उपाय बता रहे हैं, जिससे विवेक-धैर्य के बिना भी भगवद्-आश्रय फलसिद्धि प्राप्त करा दे। इसे वे विवेक इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

समस्त दुःखों का हरण करने वाले भगवान उनकी इच्छा से ही सभी कुछ करेंगे - ऐसे विचार का अनुसंधान रखना 'विवेक' कहलाता है। सात्विक-कायिक-भौतिक तीन प्रकार के दुःखों का प्रतीकार न करते हुए इनकी उपेक्षा करनी 'धैर्य' कहलाता है। भक्ति का अर्थ है - भगवान

के माहात्म्य ज्ञानपूर्वक भगवान से सुदृढ़ स्नेह होना एवं श्रीमद्-भागवत में कही गई नवधा-भक्ति । आदि पद से भक्ति के अंग लिए जा सकते हैं जो भक्ति सुदृढ़ करने में सहायक होते हैं अर्थात् ज्ञान-कर्म इत्यादि । इन सभी से रहित जीवों को आचार्यचरण विवेकधैर्यभक्त्यादिरहित कह रहे हैं - इससे यह सूचित होता है कि प्रभु-प्राप्ति के जितने साधन हैं, जीव उनसे सभी से रहित है ।

बाधकसत्तामाहुः विशेषतः पापासक्तस्येति । आसक्तिः सङ्गातिशयोपरिहार्यःसङ्ग इति यावत् । एतावता 'नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत' इतिवाक्यस्मारणाद्भक्त्युत्पत्तौ प्रतिबन्धकमपि सूचितम् । एवं बाधकद्वयसद्भावेऽपि येनाङ्गेनाश्रयस्य सिद्धिस्तदाहुः दीनस्येति । एवं साधकाभावबाधकसद्भावाभ्यां जातया ग्लान्या दीनस्य । दौर्गत्यादेरनोजस्त्वं दैन्यम् । अनोजस एतादृशस्य कृष्ण एवेति पूर्ववत् । एवंप्रकारिकाया ग्लानेरसतां दुरापत्वात् सतां मार्यादिकानां ग्लानौ साधनान्तरेषु प्रवृत्तेरत्र तु तादृशग्लानिप्रपत्तिभ्यां तदुभयविलक्षणतया 'सोहं तवाङ्घ्री'त्यत्रोक्तानुग्रहस्य स्वस्मिन्कारणत्वेन सत्ता ज्ञाप्यते । एतादृशस्यापि फलसिद्धिर्गीतायां 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य' 'अपि चेत्सुदुराचार'इत्यत्र भगवताज्ञप्ता ।

जीव में ये साधन क्यों नहीं हैं और उसे कौन-कौन सी बाधाएँ हैं, यह आपश्री विशेषतः पापासक्तस्य इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । 'आसक्ति' का अर्थ है - जो संग अतिशय हो जाय, जिस संग को छोड़ा ही न जा सके । यही बात "जिस मनुष्य के पाप कम हो जाते हैं, उसकी कृष्ण के प्रति भक्ति उत्पन्न हो जाती है" इस वाक्यानुसार भक्ति उत्पन्न होने में प्रतिबंधक भी आते हैं, यह सूचित किया गया है । इस प्रकार विवेकधैर्य आदि से रहित एवं पापासक्त, यह दो प्रकार के बाधक होने पर भी जिस साधन से भगवद्-आश्रय सिद्ध हो सकता है, वह साधन आचार्यचरण दीनस्य शब्द से कह रहे हैं । तात्पर्य यह कि इस प्रकार भगवद्-प्राप्ति में साधकों का तो अभाव है एवं बाधकों की बहुलता होने से जीव को मन में ग्लानि का अनुभव होता है । अतः आचार्यचरण उसे दीन कह रहे हैं । अपनी ऐसी दुर्गति देखकर वह कांतिहीन हो जाता है । यही दीनता है । ऐसे कांतिहीन - दीनहीन जीव की गति श्रीकृष्ण ही हैं, यह आचार्यचरणों का तात्पर्य है । इस प्रकार की ग्लानि दुष्टों को तो होनी दुर्लभ ही है । मर्यादाभक्त-सत्पुरुषों को जब ऐसी ग्लानि का अनुभव होता है तो भगवद्-सेवा के मार्ग को छोड़कर उनकी प्रवृत्ति अन्य साधनों में हो जाती है । परंतु यहाँ पुष्टिमार्गीय-जीवों को तो अपनी असमर्थता की ग्लानि एवं भगवद्-शरणागति इन दोनों की विलक्षणता से श्रीमद्-भागवत में कहे "हे प्रभु ! मैं इसे आपकी कृपा ही मानता हूँ कि, मैं भटकता हुआ आपके चरणकमलों की छत्रछाया में आ पहुँचा हूँ, जो दुष्टों के लिए दुर्लभ हैं (श्री.भा. १०/४०/२८)" इसमें भगवान के अनुग्रह (कृपा) को ही दीनता प्राप्त करने में कारण बताया गया है । अतः आचार्यचरण भी यही कह रहे है कि, ऐसे दीन-हीन जीव की गति श्रीकृष्ण ही हैं । ऐसे दीनहीन एवं निःसाधन जीव को भी फलसिद्धि होती है, यह भगवान ने गीता में "हे पार्थ ! मेरे शरणागत होकर पापयोनिवाले, स्त्री, वैश्य, शूद्र चाहे जो कोई भी हों, परमगति को प्राप्त करते हैं (९/३२)", "अतिशय दुराचारी भी यदि अनन्यभाव से मेरा भजन करें, तो उसे साधु ही मानना चाहिए (९/३०)" इन वाक्यों द्वारा आज्ञा की है ।

नच पूर्ववाक्ये पापयोनीनां गतिरुक्ता न तु पापकर्मणाम्, द्वितीये चानन्यभजनेन पापकर्मणां साधुत्वमुक्तं, न त्वाश्रयेणेति नैतद्द्वयमाश्रयेण सिद्धेर्गमकमिति शङ्क्यं, 'सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च यो वदेत् । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददात्येतद् व्रतं हरेरि'तिगारुडात्, 'सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च यो वदेत् । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं ममे'तिपुराणान्तरीयभगवद्वाक्याच्च भगवतस्तादृशे व्रते निश्चिते ततो भगवदनुग्रहेणैव तत्र प्रवृत्तावपि माहात्म्यज्ञानपूर्वककस्नेहस्यैव द्वारत्वनिश्चयादनन्यभाक्त्वसिद्ध्या, द्वितीयस्या 'नित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व मामि'ति भजनशेषतया निरूपितत्वेन प्रथमस्य चाञ्जस्यात् । अतो नात्र कोऽपि चोद्यावसरः ॥९॥

यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि उपर कहे भगवद्-गीता के "मां हि पार्थ" श्लोक में तो पापयोनियों में पड़े जीवों का ही कल्याण प्रभु-शरणागति द्वारा बताया गया है, पाप-कर्म करने वालों का नहीं । और, दूसरे श्लोक "अपि चेत्" में यह बताया गया है कि पापकर्म करने वाले भी अनन्यभाव से प्रभु-भजन करें, तो उन्हें साधु ही समझना चाहिए । इस दूसरे श्लोक में कल्याण का साधन अनन्यता को बताया गया है, आश्रय को नहीं । इन दोनों ही वाक्यों में आश्रय का उपदेश कहीं भी नहीं है अतः ये दोनों ही श्लोक आश्रय को प्रमाणित नहीं कर सकते । यदि किसी को ऐसा विरोधाभास लगता हो तो समझना चाहिए "जो कोई भी एक ही बार शरणागत होकर 'मैं आपका हूँ' यों कहे, तो उसे चहुँओर से अभयदान दे देते हैं, यह भगवान-हरि का व्रत है", इस गरुड पुराणवाक्य के अनुसार एवं "एक ही बार मेरे शरणागत होकर जो 'मैं आपका हूँ' ऐसा कहे, तो मैं उसे चहुँओर से अभयदान दे देता हूँ, यह मेरा व्रत है" इस पुराणवाक्य के अनुसार भी भगवान का अपने शरणागतों की रक्षा करने का व्रत तो निश्चित् है । अतः भले भगवद्-कृपा से ही जीव शरणागत होता हो, तब भी भगवान की अनन्यभाव से की जाने वाली सेवा तो भगवान का माहात्म्यज्ञान हो जाने के पश्चात् उनमें स्नेह हो जाने पर ही सिद्ध होती है । और जो द्वितीय श्लोक में पापकर्म करने वालों को भी प्रभु भजन करने के कारण साधु मानने वाली बात थी, उसकी संगति भगवद्-गीता के" जब पापयोनि वाले, स्त्री, वैश्य, शूद्र इत्यादि की भी परमगति हो

सकती हो, तो फिर ब्राह्मण, सदाचारी भक्तों की तो बात ही क्या कहनी ? अतः क्षणभंगुर एवं दुःखमय एस लोक में मेरा ही भजन कर (भ.गी. ९/३३)'' इस श्लोक के संग बैठती है, जहाँ भगवद्-भजन करने की बात कही है। अतः प्रथम श्लोक अर्थात् 'मां हि पार्थ' में कहा उपदेश द्वितीय श्लोक में कहे उपदेश की तुलना में शीघ्र भगवद्-प्राप्ति करा देता है, सो अब यहाँ किसी भी तर्कवितर्क के लिए कोई अवसर नहीं है ॥९॥

एवं नवभिर्विवेकधैर्याश्रयग्रन्थोक्ताङ्गाभावेप्येतदुक्तरीतिकदैन्येनाप्याश्रयसिद्धिरिति बोधितम् । अतःपरमेतत्स्याप्यङ्गस्याभावे द्वाभ्यां साधनान्तरमाहुः सर्वसामर्थ्येत्यादि ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयत' इत्यादिश्रुतिभिः कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं च यावन्ति सामर्थ्यानि तत्सहितस्तदुपपादित'मजामिलादी'तिपद्येन । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' 'एष ह्येवानन्दयाती'त्यादिश्रुतिभिः सर्वत्र देशेषु जीवेषु चाखिलार्थानां कृत् 'आक्रेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिष्वि'त्यनेन ताच्छील्ये क्विप् कर्ता । एतादृशं कृष्णमहं जगदुद्धारार्थमाज्ञप्तो वैश्वानर आचार्यवर्यः शरणस्थानां शरणमार्गवर्तिनां समुद्धारं सम्यक् आज्ञप्तमार्गप्राप्यपरमफलपर्यंतमुद्धारं विज्ञापयामि । सामानाधिकरण्यादध्याहारानाक्रमाच्च प्रथमान्तद्वयमहंपदस्यैव विशेषणं वा । तथाच तादृशदैन्याभावेपि मयि विश्वासेनैतच्छरणमार्गस्थितौ श्रीमदाचार्यचरणकृपयैवास्माकमुद्धार इति निश्चयदार्ढ्येपि तत्कृतं साधनान्तरमनपेक्ष्य मद्विज्ञापनादेवोद्धरिष्यतीत्यर्थः ॥१०॥

इस प्रकार यहाँ तक आचार्यचरणों ने यह बताया कि, विवेकधैर्याश्रय ग्रंथ में कहे भगवद्-प्राप्ति के साधन न होने पर भी यहाँ इस ग्रंथ में कही गई रीतिपूर्वक दीनता से जीव को भगवद्-आश्रय सिद्ध हो सकता है। अब यदि किसी में ऐसी दीनता भी न हो तो, आपश्री अग्रिम दो श्लोकों द्वारा (अर्थात् १० वें एवं ११ वें) अन्य दूसरे साधनों को कह रहे हैं। इसे वे सर्वसामर्थ्य इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इस श्लोक में आचार्यचरणों ने भगवान-श्रीकृष्ण को 'सर्वसामर्थ्यसहित' कहा है, जिसका तात्पर्य यह है कि, ''परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'' इत्यादि श्रुतिवाक्यों के अनुसार कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुम् आदि जितने सामर्थ्य हैं, वह सभी सामर्थ्य प्रभु में विद्यमान हैं, यह वे पूर्व में 'अजामिल' वाले पद्य में कह चुके हैं। और, ''एतस्यैव.....'', ''एष हि एव'' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा सभी स्थलों पर, सभी जीवों में सर्वत्र अखिल वस्तुओं के कृत् अर्थात् कर्ता प्रभु-श्रीकृष्ण हैं। आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं कि, ऐसे सामर्थ्यशाली कृष्ण ने मुझ आचार्यवर्य-वैश्वानर को जगत् का उद्धार करने की आज्ञा दी है अतः शरणस्थों का अर्थात् इस शरणमार्ग का अनुकरण करने वालों का **समुद्धारं** अर्थात् मुझे जिस कार्य की आज्ञा हुई है, जीव को उसके परमफल को प्राप्त कराने तक के उद्धार की मैं भगवान-श्रीकृष्ण से प्रार्थना कर रहा हूँ। अथवा तो ऐसा अर्थ कर लें कि, चूँकि भगवान-श्रीकृष्ण एवं आचार्यचरण तो समान ही हैं (सामानाधिकरण) एवं अध्याहार करने के लिए (अध्याहार का अर्थ होता है, किसी वाक्य में अपनी बुद्धि लगाकर अर्थ करना) भी कोई स्थान नहीं है अतः 'सर्वसामर्थ्यसहित' एवं ''सर्वत्रैवाखिलार्थकृत्'' इन दोनों पदों को आचार्यचरणों का विशेषण माना जा सकता है। ऐसा करने से पूरे श्लोक का अर्थ यह बनेगा कि - आचार्यचरण सर्वसामर्थ्यसहित हैं एवं सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् हैं अतः जीवों का पूर्णरूप से उद्धार करने वाले कृष्ण से वे उद्धार करने की प्रार्थना कर रहे हैं। अतः भले ही जीव में ऐसी दीनता न हो, तथापि आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि मुझ पर विश्वास रखते हुए इस शरणमार्ग में स्थिति बनाए रखने से - श्रीमदाचार्यचरणों की कृपा से ही हमारा उद्धार होगा - यह बात तो निश्चित् रूप से दृढ़ है ही तथापि आपश्री कह रहे हैं कि भगवान जीव के साधनों की अपेक्षा न रखते हुए मेरे द्वारा प्रार्थना करने से ही उद्धार करेंगे, यह अर्थ है ॥१०॥

अतः परमेतन्निश्चयदार्ढ्यगमकं वदन्तो विज्ञापनप्रकारं स्वरूपं चाहुः कृष्णाश्रयमित्यादि ।

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्ण आश्रीयतेनेनेति, कृष्ण आश्रयो विषयो यस्येति वा कृष्णाश्रयम् । आश्रयपदस्य विषयवाचकत्वं प्रल्हादचरित्रे 'यत्तत्र गुरुणा प्रोक्तं श्रश्रुवेनुपपाठ च । न साधु मनसा मेने स्वपरासद्ग्रहाश्रयमि'ति सप्तमेऽन्यत्र च प्रसिद्धम् । एतदन्वर्थनामकमिदमुक्तं स्तोत्रं यः कृष्णसन्निधौ भगवन्निकटे पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयः सहायो भवेत् । इतीममर्थं श्रीवल्लभोऽब्रवीदुक्तवानिति । तथाचैवमेतत्पाठ एव पूर्वोक्तनिश्चयदार्ढ्यगमक इत्यर्थः । एवं च विवेकधैर्याश्रयोक्तरीतिकविवेकादेरभावे दैन्यपूर्वकमेवैतत्स्तोत्रार्थानुसन्धानपूर्वकं भगवत्सन्निधावेतत्स्तोत्रपाठः । तत्राप्यनधिकारे श्रीमदाचार्यचरणविश्वासपूर्वकं

भगवत्सन्निधौ पाठ इति साधनद्वयं मानसवाचनिक-केवलवाचनिक-शरणागतिरूपं निर्दिष्टम् ॥११॥

इसके पश्चात् आचार्यचरण अब आगे के श्लोक में यह बता रहे हैं कि, हमें ऐसा दृढ़ विश्वास क्यों रखना चाहिए एवं भगवान से उद्धार करने के लिए किस प्रकार से प्रार्थना करनी चाहिए एवं प्रार्थना का स्वरूप कैसा है। इसे वे 'कृष्णाश्रयम्' इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। जिस स्तोत्र द्वारा कृष्ण हमारे आश्रय बन जाएँ अथवा तो जिस स्तोत्र में आश्रय का विषय कृष्ण हैं, वह कृष्णाश्रय-स्तोत्र है। आश्रय की चर्चा श्रीमद्-भागवत के सप्तमस्कंध में प्रल्हादचरित्र में "प्रल्हादजी गुरु का पढ़ाया हुआ राजनीति एवं अर्थनीति का पाठ पढ़ भी लेते और उन्हें सुना भी देते परंतु मन से उसे अच्छा नहीं समझते थे क्योंकि उसमें भगवद्-आश्रय की कोई चर्चा नहीं थी (श्री.भा. ७/५/३)" इस वाक्य द्वारा और अन्यत्र कई स्थानों पर भी प्रसिद्ध है। इसी आश्रय के अर्थ को बताने वाले कृष्णाश्रय नामक स्तोत्र का जो कृष्ण की सन्निधि में अर्थात् भगवान के निकट पाठ करता है, कृष्ण उसके आश्रय बन जाते हैं अर्थात् सहायक हो जाते हैं, यह बात श्रीवल्लभ ने कही है। अतः इस प्रकार इस ग्रंथ का पाठ करना ही आश्रय को सिद्ध करने में मूल कारण है, यह सिद्ध होता है। अतः यह समझना चाहिए कि विवेकधैर्याश्रय ग्रंथ में कही गई रीति-अनुसार यदि हममें विवेक आदि न हों, तो दीनतापूर्वक इस स्तोत्र के अर्थ का अनुसंधान करते हुए भगवान के समक्ष ही इस स्तोत्र का पाठ करना चाहिए। यदि इतना भी न हो सके तो श्रीमदाचार्यचरणों पर विश्वास रखते हुए भगवान के समक्ष केवल पाठ ही कर लेना चाहिए। इस प्रकार से आचार्यचरणों ने मानसवाचनिक (मन से अर्थ को समझकर पाठ करना) एवं केवलवाचनिक (केवल मुख से पाठ करना) यों शरणागति के दो साधन निर्दिष्ट कर दिए हैं ॥११॥

[1]इदं प्राचां रीतिमनुसृत्य व्याख्यातं, मम त्वन्योप्यर्थः स्तोत्रस्य प्रतिभाति । तथाहि-अयं मार्गोऽविहितभक्तिरूपः, अत्र भगवान् रसात्मकः प्रतिपन्नः। एवं सति तदधिकारिष्वेव मन्दमध्यमविचारेणात्र साधनोपदेशो वक्तव्यः । अत एव विवेकधैर्याश्रयसमाप्तौ 'भक्त्यादिमार्गा' इत्युक्तम् । अन्यथैकादशे 'योगास्त्रयो मये' त्यत्र 'ज्ञानं कर्म च भक्तिश्चे'ति त्रितयान्ते निवेशिताया भक्तेरादित्वकथनं विरुद्धं स्यात् । अतोऽत्र भक्तिपदेन तत्परामर्शः किं 'त्वथैतपरमं गुह्यमि' त्यत्रोक्तायाः । तथासति सा भक्तिरादिर्येषां तादृशा ये मार्गा अविहितभक्तेरेव प्रकारभेदा बालादिभावेन भजनरूपास्ते यतो दुःसाध्या इत्यर्थो भवति । एवं सति तत्र तत्रानधिकारे विवेकधैर्याश्रयोक्तरीतिक आश्रयः, अत एव 'स्वाम्यभिप्रायसंशयात्' 'गोपभार्यवत्' इति स्वामिपदं तद् दृष्टान्तश्च सङ्गतौ भवतः । अतः परं तत्राप्यनधिकार इदं स्तोत्रपठनमपि तस्यैवानुकल्परूपम् ।

यहाँ तक मैंने प्राचीन टीकाकारों की रीति का अनुकरण करके इस ग्रंथ की व्याख्या की है परंतु मुझे तो इस स्तोत्र का कुछ अन्य अर्थ भी प्रतीत हो रहा है। इसे इस प्रकार से समझें कि, यह पुष्टिमार्ग कोई ऐसा भक्तिमार्ग नहीं है, जहाँ वैदिक विधानों द्वारा विधिपूर्वक या किसी विशेष नियम के अनुसार भक्ति की जाय, यह तो किसी नियमों के बंधन में जकड़े बिना सीधे-साधे प्रभु से स्नेह करने का मार्ग है। इस मार्ग में भगवान रसात्मक स्वरूप से बिराजते हैं। इन परिस्थितियों में सभी जीवों को नहीं अपितु इस मार्ग के अधिकारी जीवों के लिए ही एवं उत्तम-मध्यम-जघन्य अधिकार का विचार करते हुए ही भगवद्-प्राप्ति के साधनों का उपदेश करना आवश्यक हो जाता है। इसी कारण विवेकधैर्याश्रय ग्रंथ की समाप्ति में आचार्यचरणों ने "कलिकाल में भक्ति-आदि मार्ग बड़े दुःसाध्य हो गये हैं (वि.धै.आ./१७)" यह वाक्य कहा है क्योंकि यह मार्ग सभी के लिए नहीं है। अन्यथा तो एकादश-स्कंध में भगवान ने "हे उद्धव ! मैंने ही वेदों में एवं अन्यत्र भी मनुष्यों का कल्याण करने के लिए अधिकारिभेद से ज्ञान-कर्म-भक्ति यों तीन प्रकार के योगों का उपदेश किया है। कल्याण के लिए इनसे अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है (श्री.भा. ११/२०/६)" यह वाक्य कहा है और ज्ञान-कर्म-भक्ति यों इस प्रकार से भक्ति को तीसरे स्थान पर कहा है। ऐसे में तो आचार्यचरणों का उपर कहे वि.धै.आ. ग्रंथ में भक्ति को प्रथम श्रेणी में रखना भगवद्-वाक्य से विरुद्ध हो जायेगा परंतु यहाँ इस पुष्टिमार्ग में कही जाने वाली भक्ति उपर कहे एकादश स्कंध (११/२०/६) के वाक्य में कही गई साधारण भक्ति नहीं है। यह भक्ति तो "हे उद्धव ! अब मैं तुम्हें भक्ति के विषय में एक अत्यंत गोपनीय परम रहस्य की बात कहूँगा क्योंकि तुम मेरे प्रेमी हो और सुनने के भी इच्छुक हो (श्री. भा. ११/११/४९)" इस भगवद्-वाक्य में कही गई विलक्षण भक्ति है। इस प्रकार से यह समझना चाहिए कि, ऐसी विलक्षण भक्ति जिन मार्गों में है, वे अविहितभक्ति (ऐसी भक्ति जो विधि-नियम-निषेध इत्यादि बंधनों में जकड़ी हुई न हो) के प्रकारभेद हैं। जैसे प्रभु का बालभाव से भजन करना इत्यादि; ये मार्ग वर्तमान में दुःसाध्य हो गये हैं - यह वि.धै.आ. की पंक्ति का अर्थ है। इस परिस्थिति में यदि जीव इस प्रकार की भक्ति करने का अधिकारी न हो, तो उसे वि.धै.आ. में कही गई रीति-अनुसार भगवद्-आश्रय करना चाहिए। और इसी से इस ग्रंथ में कहे "भगवान की इच्छा जान लेनी संभव नहीं है (२)", "गोपिकाओं की भाँति हमें भी धैर्य रखना चाहिए (६) इत्यादि बातों की संगति बैठेगी। और यदि इतना करना भी हमारे लिए संभव न हो रहा हो, तो इस कृष्णाश्रय स्तोत्र का पाठ करना भी आश्रय का ही अनुकल्प है, यह जान लेना चाहिए।

---

१ अतः परं श्रीव्रजराजपादाः प्रमेयमनुसृत्य विवृण्वन्ति स्तोत्रमिदम् ।

एतन्मार्गप्रविष्टानामतिजघन्यतमाधिकारिणामेतन्मार्गफलसम्बन्धो यथा प्रणाड्या भवति तामनुसन्धायास्योक्तत्वात् । तदर्थं स्वस्वरूपं भगवत्स्वरूपं च वक्तव्यम् । तत्र भगवत्स्वरूपं तूक्तमेव । किञ्चाभेदवादानुरोधेन रसस्वरूपविचारे रसालम्बनद्वयाभिन्नरसात्मा स्वयं भवति उपबृंहितं चेदं ब्रह्मवैवर्तीयश्रीकृष्णजन्मखण्डे गर्गवाक्येषु-'वर्धते सा व्रजे राधा शुल्के चन्द्रकला यथा । श्रीकृष्णतेजसोर्धेन सा च मूर्तिमती सती' 'एका मूर्तिर्द्विधा भूता भेदो वेदे निरूपितः । इयं स्त्री स पुमान् किं वा सा वा कान्ता पुमानयमि'ति । 'पिताहमस्य जगतो माते'ति गीतायां च । तथासत्याचार्याणामपि 'वैश्वानरा-द्वाक्पतेः' 'वस्तुतः कृष्ण एवे'ति च वाक्यद्वयविचारे पूर्वोक्तरीत्योभयमुखारविन्दात्मकत्वमुभयात्मकत्वं च सिद्ध्यति । किञ्च, सप्तश्लोक्यां सर्वोत्तमे च 'श्रीभागवतप्रतिपदे'त्यादि 'तत्सारभूतरासस्त्रीभावपूरितविग्रह' इति चोक्तम् ।

इस मार्ग में प्रविष्ट होने वाले अति-जधन्यतम अधिकारियों को इस मार्ग की फलप्राप्ति जिस प्रणाली से होती है, उस प्रणाली का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समस्त बातें कही गई हैं। इसलिए जीवों का स्वरूप एवं भगवद्-स्वरूप का विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है। अब यहाँ भगवद्-स्वरूप के बारे में तो कह ही दिया गया है परंतु इतना अधिक और जान लें कि इस मार्ग में अभेदवाद (अभेदवाद का मोटे तौर पर अर्थ यह है कि, कार्य-कर्ता, कार्य-कारण, जीव-परमात्मा, परमात्मा-सृष्टि इनमें कोई भी भेद नहीं है, वस्तुतः सभी कुछ परमात्मा ही हैं) के अनुसार भगवान के रसस्वरूप का विचार करें तो रस-स्वरूप एवं आलंबन-स्वरूप इन दोनों में अभिन्नतया वे स्वयं रसात्मा हैं। यही बात ब्रह्मवैवर्तीय पुराण में श्रीकृष्णजन्मखंड के अंतर्गत गर्गवाक्य में "वह राधा व्रज में बड़ी हो रही हैं, जैसे शुक्लपक्ष में चंद्रकला बढ़ती है। वे श्रीकृष्ण के आधे तेज से मूर्तिमति सती प्रकट हुई हैं," "राधा और कृष्ण के रूप में एक मूर्ति दो रूपों में प्रकट हुई है, यह वेद में निरूपित है। अब यह कहना कठिन है कि, यह स्त्री है या वह पुरुष, राधा स्त्री है या कृष्ण पुरुष", "मैं इस जगत् का पिता, माता, पोषण करने वाला एवं पितामह हूँ (भ.गी. ९/१७)" इस प्रकार भगवान ही सभी कुछ हैं, यह बात सिद्ध होती है। इन्हीं समस्त बातों से यह भी सिद्ध होता है कि "श्रीमद्-भागवत के अर्थ को प्रकट करने के लिए मुझ वैश्वानर-वाणी के पति के अतिरिक्त और कोई भी सक्षम नहीं है अतः भगवान-श्रीकृष्ण ने मुझे मनुष्यदेह प्रदान करके भागवत का गूढ़ार्थ प्रकट करने की आज्ञा दी है (सुबो.मंगला./५)", "श्रीमदाचार्यचरण वास्तव में तो श्रीकृष्ण ही हैं (वल्लभाष्टक/८)" इन दो वाक्यों का विचार करने पर पूर्व में कही रीति-अनुसार आचार्यचरण राधा-कृष्ण दोनों के मुखारविंद-स्वरूप और दोनों के मिश्रित स्वरूप हैं। और भी, सप्तश्लोकी एवं सर्वोत्तमस्तोत्र में भी आचार्यचरणों के लिए "श्रीमद्-भागवत के प्रत्येक पदरत्नों की कांति से आचार्यचरण सुशोभित हैं", "श्रीमदाचार्यचरण श्रीमद्-भागवत की सारभूत रासस्त्री (गोपिकाएँ) के भावों से परिपूर्ण हैं (सर्वो./१६)" यह कहा गया है।

एवं स्वरूपे निश्चिते यदा यद्भावेन यान् प्रति यथा वदन्ति तदा तदधिकारिणः प्रति तानि साधनानीति पुंस्तोत्रमप्येवं व्याख्यायते तदापि न दोषः । तथासत्यस्यार्थस्य गुप्ततया भगवतः परोक्षप्रियत्वेन चात्र परोक्षवादाल्लक्षणाप्यदुष्टैव । ततश्चायमर्थः । तथाहि सर्वमार्गेषु सख्यादिप्रोक्तेषु भगवत्प्राप्त्युपायेषु नष्टेषु तदप्रापकतया स्वान्तःकरणेऽनुपायतया भातेषु । खलोन्तर्दुष्ट ईर्ष्यारूपो धर्मो यस्मिँस्तादृशे कलौ कलहे स्वसमानेषु स्वस्मिन् कृपातिशयख्यातिविषयके नष्टे हृदयादपयाते । चकारेण कलहादेरपि नष्टत्वं ज्ञाप्यते । पाषण्डः कलहजननकारणरूपो धर्मः प्रचुरो यस्मिंस्तादृशे लोके सख्यादौ चादृश्यमाने । विरहेण तेषु दोषारोप'स्तस्याधमस्यान्तिकमि'त्यादिवत्, अतो न दोषः । एवं सति दुःखितस्य मम कृष्णः सदानन्दस्तादृशतापे हृदि विभाव्यमान एव गतिर्बहिःप्राप्तौ साधनरूपो भवत्वित्यध्याहृता प्रार्थना । अत्रैवं सर्वसाधन वैफल्यबोधनेन स्वस्यातिखेदः । एवकारेण तादृशसमये 'रुरुदुः सुस्वरं राजन्नि'त्यत्र फलप्रकरण इव भगवतः प्राकट्यावश्यकत्वं च द्योत्यते । एवमग्रेपि बोध्यम् ॥१॥

जब एक बार श्रीमहाप्रभुजी आचार्यस्वरूप एवं गोपिकावृंद के मूर्तिमान स्वरूप हैं, यह निश्चित् हो गया तब यह जान लेना चाहिए कि आचार्यचरण जब-जब जिस भाव के द्वारा जिसके प्रति जो कहेंगे अर्थात् आचार्यस्वरूप से अथवा तो स्वामिनीस्वरूप से जो कुछ कहेंगे, तब-तब वही व्यक्तिविशेष उनके उपदेशों के अधिकारी बनेंगे और आपश्री के उपदेश ही उनके लिए साधन भी बनेंगे। इसी कारण यद्यपि आपश्री ने इस कृष्णाश्रयग्रंथ को आचार्यस्वरूप से लिखा है तथापि यदि मैं इस ग्रंथ की व्याख्या आपश्री के स्वामिनीभाव की दृष्टि से करूँ, तो इसमें कोई दोष नहीं है। अतः इन परिस्थितियों में जानना चाहिए कि इस स्तोत्र का अर्थ गुप्त है एवं स्वयं भगवान भी परोक्षप्रिय हैं, सो यदि परोक्षवाद से अर्थात् लक्षणलक्षणावृत्ति से मैं इस स्तोत्र का अर्थ करूँ, तो इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। अतः इस ग्रंथ के प्रथम श्लोक का अर्थ यह समझना चाहिए कि सर्वमार्गेषु अर्थात् सखियों ने भगवद्-मिलन/भगवद्-प्राप्ति के जितने उपाय बताए थे, वह सभी नष्ट हो गये हैं। अर्थात् अब किसी भी प्रकार भगवान प्राप्त नहीं हो रहे हैं अतः अपना अन्तःकरण उपायरहित हो गया है। खल का अर्थ यह है कि जिस गोपी को भगवान मिले हैं, उस गोपी के प्रति अन्य गोपियों के मन में दुष्टता एवं ईर्ष्या पैदा हो गयी है। अब इस प्रकार के कला अर्थात् कलहपूर्ण वातावरण में उन गोपियों

के एवं अपने समान अन्य गोपियों के मन में भगवान का अतिकृपालु-स्वरूप नष्ट हो चुका है, हृदय से निकल चुका है। इस प्रकार से आपस में कलह-आदि करने के कारण भी भगवद्-प्राप्ति के उपाय नष्ट हो गये हैं, यह **च** शब्द के प्रयोग द्वारा ज्ञात होता है। **पापण्डः** का अर्थ यह है कि, प्रभुमिलन प्राप्त न होने के कारण सखियों में परस्पर मधुर कलह उपस्थित हो गया है और जिससे प्रभुमिलन कराने में सहायक अन्य गोपियाँ भी अदृश्य हो गयी हैं। परंतु यहाँ यह समझना चाहिए कि, गोपिकाएँ विरह के कारण एकदूसरे में यह दोष लगा रही हैं। जैसे कि "तस्याधमस्य....." इस श्लोक में नायिका ने नायक एवं दूती में दोष लगाया था अतः इसे दोष नहीं समझना चाहिए। अतः अर्थ यह हुआ कि, विरह के कारण मुझ दुखियारी के हृदय में जब इस प्रकार के ताप की अनुभूति हो रही है, तो सदानंद-श्रीकृष्ण ही मेरी गति हों अर्थात् मुझे प्रत्यक्षरूप में प्राप्त हो जाएँ, इस प्रकार से गोपिकाएँ भावपूर्वक श्रीकृष्ण से प्रार्थना कर रही हैं। यहाँ इस श्लोक में (सर्वमार्गेषु..... मम) यह बात समझ में आती है कि प्रभु-मिलन के समस्त साधनों के विफल हो जाने के कारण गोपिकाओं को मन में अति खेद हो रहा है। और ऐसे समय में फलप्रकरण में कहे "हे राजन्! भगवान की प्यारी गोपियाँ विरह के आवेश में आकर तरह-तरह से गाने और प्रलाप करने लगीं। कृष्णदर्शन की लालसा वे रोक न सकीं और फूट-फूटकर रोने लगीं (श्री.भा. १०/३२/१)" इस वाक्य की भाँति जैसे वहाँ भगवान का प्रकट होना उनके लिए आवश्यक था, वैसे यहाँ भी भगवान का प्रकट होना आवश्यक हो गया है, यह 'एव' शब्द से सूचित होता है। इसी प्रकार आगे के समस्त श्लोकों का भी अर्थ समझ लेना चाहिए ॥१॥

अतः परं भगवन्मिलनस्थानभूतानां देशानामप्यनुपायत्वमाहुः-म्लेच्छाक्रान्तेत्यादि । म्लाना रसमार्गविरोधिनीच्छा येषां ते म्लेच्छा एतद्रसानभिज्ञास्तैर्देशेषु वृन्दावनादिष्वाक्रान्तेषु । क्रिञ्च, पापैकनिलयेषु । पातीति पः स्थायिभावः सः अपः अक्षरको यत्रासौ पापो विरहः सन्तापातिशयजनकत्वात्, तदेकनिलयेषु 'सोयं वसन्तसमयो विपिनं तदेतत् सोयं निकुञ्जविटपी निखिलं तदास्ते । हा हन्त हन्त नवनीरदकोमलाङ्गो नालोकि पुष्पधनुषः प्रथमावतार' इतिवत्तदुद्बोधकत्वेन तदेकस्थानेषु । चोवधारणे । तेन पूर्वमतथात्वमनभिज्ञसम्बन्धेन तथात्वमिति ज्ञाप्यते । किञ्च, सतः शरीरस्य या पीडा तया व्यग्रा लोकाः स्वीयैकान्तभक्ता येषु । एतादृशेऽवसरे कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥२॥

इसके पश्चात् अब अग्रिम श्लोक द्वारा आचार्यचरण यह बता रहे हैं कि, जिन स्थलों पर भगवद्-मिलन प्राप्त हो सकता है, वे स्थल भी अब अयोग्य हो चुके हैं, यह वे **म्लेच्छाक्रांतेषु** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ 'म्लेच्छा' शब्द का अर्थ समझें। भगवद्-रस की विरोधिनी इच्छा को 'म्लाना' कहते हैं, ऐसी इच्छा जिन लोगों में है अर्थात् रसमार्ग से विरोधी इच्छा जिनमें है, वे 'म्लेच्छ' हैं अर्थात् इस रसमार्ग से अनभिज्ञ। ऐसे म्लेच्छों से समस्त वृंदावन आदि देश आक्रांत हो गये हैं, यह अर्थ है। और **पापैकनिलयेषु** अर्थात् पाप का घर भी बन चुके हैं। **पाप** शब्द का अर्थ समझें। पः का अर्थ है रक्षा करना और अपः का अर्थ है - अरक्षक अर्थात् रक्षा न करना। अतः 'पाप' शब्द का अर्थ है - 'रक्षा न करना'। कुल मिलाकर यह 'विरह' ही प्रभुप्राप्ति में विघ्न उत्पन्न करा रहा है अतः गोपिकाओं की रक्षा न करके विघ्न उत्पन्न करा रहा है क्योंकि यह अतिशय सन्ताप को उत्पन्न करने वाला है। समस्त स्थल इन्हीं संताप का घर बन चुके हैं अर्थात् जैसे "यही वह वसंत ऋतु का समय है, यही वह वन है, यही वह निकुंज के वटवृक्ष हैं, सबकुछ वही है परंतु हाय! नये मेघ के समान कोमल अंग वाले कामदेव-स्वरूप भगवान दिखाई नहीं दिए" इस वाक्य के अनुसार समस्त भगवद्-स्थल भगवद्-विरह का भाव उद्बोधित कर रहे हैं। 'च' शब्द उपर्युक्त वाक्यों का अर्थ भलीभाँति अवधारण करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इससे यह बात समझ में आती है कि, पहले ये भगवद्-स्थल ऐसे नहीं थे एवं भगवद्-रस को जानने वालों का संग प्राप्त हो जाता था परंतु अब ऐसे भगवदीयों के बजाए भगवद्-रस से अनभिज्ञ लोगों का संसर्ग हो जाने से ये भगवद्-स्थल भी दूषित हो गये हैं। अब 'सत्पीडाव्यग्रलोकेषु' पद का अर्थ समझें। सतः का अर्थ है शरीर। एवं विरह के कारण शरीर में जो पीड़ा हो रही है, वह 'सत्पीडा' है। इस पीड़ा से जो लोकाः अर्थात् स्वीय या एकांतभक्त व्यग्र हो रहे हैं उन्हें आचार्यचरण 'सत्पीडाव्यग्रलोका' शब्द से कह रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में कृष्ण ही गति हैं, यह अर्थ है ॥२॥

अतः पर तादृशां तीर्थानामप्यसाधकत्वमाहुः-गङ्गेत्यादि । इह वृन्दावनादिदेशे गङ्गा 'सितासिते सरिते यत्र सङ्गते' इति श्रुतौ तस्याः पूर्वं पठितत्वात्सादिर्यस्याः सा गङ्गादिः, यमुनातत्प्रभृतीनि तीर्थवर्याणि घट्टविशेषाश्चन्द्रसरोवरश्रीकुण्डाद्या, 'नद्यस्तदे' त्यत्रोक्ता नद्यश्च, तेषु दुष्टैरेतद्भावराहित्येन दुष्टैरेवावृतेषु व्याप्तेषु । किञ्च, तिरोहिताधिदैवेषु । तिरोहितमगोचरमधि उपरि दैवं 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यमि'ति कोशादस्मद्भाग्यं, 'त्रैलोकलक्ष्म्येकपदं वपुर्दध'द्यत्र । यदुपरि भगवानिदानीं न दृश्यते चिह्नानि सन्तीति 'श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुम' इतिवदधिकतापजनकेष्विति भावः । तथाचैतादृशावस्थायां कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥३॥

इसके पश्चात् अब आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि, ऐसी विरहिणी गोपिकाओं के लिए तीर्थक्षेत्र भी भगवद्-प्राप्ति में साधक नहीं रह गये हैं, इसे वे गंगा इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा कर रहे हैं कि इह अर्थात् इन वृंदावन आदि देशों में गंगादि अर्थात् यमुना जैसे

तीर्थक्षेत्र नष्ट हो गये हैं। (इस पंक्ति को ध्यान से समझें। यहाँ टीकाकार 'गंगादि' (गंगा + आदि)' शब्द का अर्थ गंगा न करके यमुना कर रहे हैं। इसके लिए उन्होंने आगे एक श्रुति का प्रमाण भी दिया है। 'गंगादि (गंगा + आदि)' शब्द में प्रयुक्त हुए 'आदि' शब्द का एक अर्थ 'आगे' भी होता है, जिससे 'गंगादि' शब्द का अर्थ हुआ - गंगा जिसके आगे है, वह। टीकाकार के द्वारा दी गई श्रुति में भी यही बात है। इस श्रुति का अर्थ है - "सित (गंगा) और असित (यमुना) नदी का जहाँ पर संगम होता है।" इस श्रुति में सित का अर्थ है श्वेत अर्थात् गंगा-नदी एवं असित का अर्थ है श्याम अर्थात् यमुना नदी। इस श्रुति में यमुना से पहले गंगा का उल्लेख है अतः गंगा नदी आगे है और यमुना पीछे। अतः टीकाकार कह रहे हैं कि 'गंगादि' शब्द से आचार्यचरणों का तात्पर्य यमुना है, न कि गंगा।) क्योंकि "सित (गंगानदी) और असित (यमुनानदी) का संगम जहाँ होता है" इस श्रुति में गंगानदी का उल्लेख यमुनानदी से पहले है अतः 'गंगादि' शब्द का अर्थ है - गंगा जिसके आगे है, वह। अर्थात् यमुना। अतएव आचार्यचरणों का गूढ़ आशय यह है कि यमुना जैसे उत्तम तीर्थक्षेत्र, चंद्रशेखर-श्रीकुंड जैसे घाट एवं "हे सखी ! इन जड़ नदियों का प्रवाह भी श्यामसुंदर के वेग से रुक गया है (श्री.भा. १०/२१/१५)" इस वाक्य में कही हुई नदियाँ भी इस रसमय भगवद्-भाव से रहित दुष्टों से व्याप्त हो जाने के कारण ऐसे दुष्टों से घिर चुकी हैं। अब <u>तिरोहिताधिदैवेषु</u> शब्द का अर्थ समझें। 'तिरोहित' का अर्थ होता है 'अगोचर' अर्थात् दिखाई न देना। 'अधि' शब्द का अर्थ है - उपर। दैव शब्द का अर्थ शब्दकोश में कहे - <u>दैव, दिष्ट एवं भागधेयं</u>, इन तीनों का अर्थ 'भाग्य' होता है - इस वाक्यानुसार हमारा भाग्य है अर्थात् आचार्यचरणों का आशय यह है कि गोपिकाएँ कह रही है कि हमारा भाग्य ही ऐसा है कि प्रभु - श्रीकृष्ण हमसे दूर चले गये हैं। तात्पर्य यह कि श्रीमद्-भागवत् में कहे "हे परीक्षित् ! तीनों लोकों में जितना भी सौंदर्य प्रकाशित होता है, वह सब तो भगवान-श्रीकृष्ण के बिंदु मात्र सौंदर्य का आभास मात्र है (श्री.भा. १०/३२/१४)" इस वाक्य में वर्णित ऐसे अलौकिक सौंदर्य वाले श्रीकृष्ण हमसे दूर चले गये हैं, यह अर्थ है। गोपिकाएँ यह कह रही हैं, कि इन यमुना नदी, चंद्रसरोवर, श्रीकुंड आदि घाटों पर भगवान इस समय दिखाई नहीं दे रहे हैं केवल उनके चिन्ह दिखाई दे रहे हैं। जैसा कि भागवत में "यहाँ का एक-एक प्रदेश श्रीकृष्ण के परम सुंदर चरणचिन्हों से अंकित है, हम उन्हें कैसे भूलें ? (श्री.भा. १०/४७/५०)" इस वाक्य द्वारा गोपिकाओं ने अपना विरहभाव प्रकट किया है, वैसे यहाँ भी गोपिकाओं को अत्यधिक ताप हो रहा है अतः आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, भगवान के दिखाई न देने वाली ऐसी विरही - अवस्था में गोपिकाएँ कह रही हैं कि अब कृष्ण ही मेरी गति हैं ॥३॥

अतः परं सत्सङ्गस्याप्यसाधकत्वमाहुः-अहङ्कारेत्यादि । निन्दायां सर्वत्र तापाधिक्यमेव बीजं नतु तेषु दोषो बीजम् । अहङ्कारेणास्मद्वशो भगवानस्मत्प्रार्थित एवान्यत्र फलिष्यतीत्येवंरूपेण विमूढेषु स्तब्धेषु । किञ्च, पापानुवर्तिषु पापः पूर्वोक्तरीतिको विरहस्तमनु लक्षीकृत्य वर्तन्त इति तथा । तथाच पूर्वं यद्वश इदानीं तैरपि सह न मिलतीति । तद्रमकं लाभपूजार्थयत्नेषु । लाभो भगवत्प्राप्तिस्तदर्था पूजा लाभपूजा तदर्थं यत्न उद्यमो येषाम् । पूर्वं भगवत्प्राप्तये कात्यायन्यर्चिता पुनरिदानीमपि यत्कुर्वन्ति तेन ज्ञायते न मिलतीति । लीलानां नित्यत्वात्तापेनासक्तिभ्रमवत्तदाविर्भावात्तेष्वप्यमिलननिश्चयः । सत्सु एतन्मार्गगुरुष्वेतादृशेषु सत्सु किं तत्सङ्गेनेति कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥४॥

इतने विश्लेषणों के पश्चात् अब आगे के श्लोक में आचार्यचरण यह बता रहे हैं कि, ऐसी अवस्था में सत्संग भी भगवद्-प्राप्ति में साधक नहीं है, इसे वे <u>अहंकार</u> इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ यह समझना चाहिए कि विरहदशा में भले ही गोपिकाएँ प्रभु की निंदा कर रही हों परंतु विरह-ताप की अधिकता होने के कारण ही वे ऐसा कर रही हैं। ऐसा नहीं है कि गोपिकाओं के हृदय में भगवान के प्रति कोई दोषभाव है। गोपिकाओं को अपने अंहकार के कारण यह लग रहा है कि हमारी प्रार्थना के कारण ही भगवान हमारे वश में हुए हैं, और अब वे हमें छोड़कर कहीं अन्यत्र फलदान दे रहे हैं। इस प्रकार के विचार द्वारा वे **विमूढ** अर्थात् स्तब्ध हो गई है। अब **<u>पापानुवर्तिषु</u>** शब्द का अर्थ समझें। 'पाप' शब्द का अर्थ विरह है, यह हमने पूर्व में समझाया है अतः जो विरह का अनुकरण कर रही हैं, उन गोपिकाओं को आचार्यचरण पापानुवर्ती कह रहे हैं। और यह भी समझना चाहिए कि प्रभु पूर्व में जिनके वश में थे, अब तो उनके संग भी नहीं मिल रहे हैं, जिसका कारण आचार्यचरणों ने <u>लाभपूजार्थयत्नेषु</u> इत्यादि शब्दों से कहा है। लाभ का अर्थ है भगवत्प्राप्ति हो जानी; भगवद्-प्राप्ति के लिए की जाती पूजा यहाँ 'लाभपूजा' शब्द से कही जा रही है, ऐसी लाभपूजा के लिए जो यत्न-प्रयत्न कर रही हैं, उन्हें आचार्यचरणों ने <u>लाभपूजार्थयत्नेषु</u> शब्द से बताया है। भाव यह है कि, भगवत्प्राप्ति के लिए पूर्व में इन गोपिकाओं ने कात्यायनी देवी की पूजा की थी और इस समय भी वे जो कुछ यत्न-प्रयत्न कर रही हैं, उससे पता चलता है कि प्रभु उन्हें प्राप्त नहीं हो रहे हैं। (<u>देखें श्री.भा. १०/२२/१.....४</u>)। भगवद्-लीला तो नित्य ही है अतः अतिशय ताप की तीव्रता के कारण आसक्तिभ्रम की भाँति लीला का आविर्भाव होने के कारण यह निश्चय हो जाता है कि अन्य साखियों को भी प्रभुमिलन प्राप्त नहीं हो रहा है। <u>सत्सु</u> शब्द से आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि, जहाँ इस पुष्टिमार्ग की गुरु गोपिकाओं की ही ऐसी विरही दशा हो रही है और प्रभु प्राप्त होने कठिन हो रहे हैं, तो उनके सत्संग से भी क्या लाभ होने वाला है, अतः आपश्री आज्ञा करते हैं कि, कृष्ण ही मेरी गति हैं ॥४॥

अतः परं ततोप्यतितापेन गुरूणां हार्दं विचारयन्तो मन्त्राणामसाधकत्वमाहुः- अपरीति । अः भगवान् तस्य परिज्ञानं स्वभावज्ञानं 'न नन्दसूनु'रितिप्रस्थानसामयिकविलापस्यश्लोकोक्तं, तेन नष्टेष्वसाधकतया तैर्ज्ञातेषु । अत एव अव्रतयोगिषु ज्ञानगोचरत्वेपि जपादिनियमायोगिषु । तत्रापि हेतुः-तिरोहितार्थदेवेषु तिरोहितः अविषयः अर्थोभिधेयो देवोधिष्ठाता च येषां तादृशेषु मन्त्रेषु व्रतचर्याप्रासङ्गिक-मुख्यमहिषीप्रासङ्गिक-समर्पणादिप्रासङ्गिकेषु सत्सु । कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥५॥

इसके पश्चात् जब विरहताप और बढ़ा तो उससे पुष्टिमार्ग की गुरु कही जाने वाली गोपिकाओं के हृदय की बात का विचार करते हुए आचार्यचरण मंत्रों की भी असाधकता बताते हुए **अपरि** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अः का अर्थ होता है - भगवान। भगवान का परिज्ञान होना अर्थात् भगवद्-स्वभाव का ज्ञान हो जाना। जिस प्रकार कि "अरे इन श्यामसुंदर को तो देखो ! हम तो अपने घर-द्वार, स्वजनसंबंधी, पति-पुत्र आदि को छोड़कर इनकी दासी बनीं और ये ऐसे हैं कि हमारी ओर देखते तक नहीं (श्री.भा. १०/३९/२२)" इस श्लोक में वर्णित है कि जब भगवान श्रीकृष्ण को अक्रूरजी मथुरा ले जाने के लिए आए, तब गोपियों ने विलाप करते हुए कृष्ण के प्रति ऐसे उद्गार प्रकट किए थे। अतः उपर कहे श्लोक के अनुसार गोपिकाएँ भगवान के मथुरागमन से दुःखी होकर ऐसा कह रही हैं, जिससे ज्ञात होता है कि गोपिकाओं को प्रभुप्राप्ति के समस्त साधन असाधक बन गये हैं, और प्रभु प्राप्त नहीं हो पा रहे हैं। गोपिकाएँ प्रभु को प्राप्त करने में सहायक मंत्र-जप-नियम इत्यादि को जानती हैं परंतु वह आचरण अब उनसे नहीं बन पा रहे हैं। अतएव आपश्री उन्हें अव्रतयोगिषु कह रहे हैं। ऐसा क्यों हो गया है, इसका तात्पर्य आचार्यचरणों ने **तिरोहितार्थदेवेषु** इत्यादि शब्दों से कहा है। गोपिकाओं ने प्रभु को प्राप्त करने के लिए मंत्रजाप किए हैं। जैसे व्रतचर्याप्रसंग में, महिषीप्रासंगिक, समर्पणमंत्र इत्यादि (इन प्रसंगों को विशेष जानने के लिए देखें श्री.भा. १०/२२/४,५ (व्रतचर्या); १०/५३/४६ (महिषी प्रासंगिक) सुबोधिनी में श्रीमहाप्रभुजी ने इन श्लोकों के लिए मंत्र शब्द का उपयोग किया है) परंतु आचार्यचरण कहते हैं कि इन मंत्रो का विषय, अर्थ एवं इनमें रहनेवाला देवता इत्यादि तिरोहित हो चुके हैं अतः गोपिकाओं के लिए ये मंत्र भी कारगर सिद्ध नहीं हो पा रहे हैं। अतः आपश्री आज्ञा करते हैं - कृष्ण ही मेरी गति हैं ॥५॥

अतः परं ततोप्यतितापाधिक्येन स्वस्याशक्तिं द्योतयन्तः कर्मादिनाशमाहुः-नानेत्यादि । नानाप्रकारका वादा नानावादाः । भगवान् मथुरायामेवं पुरवनितादीनां कामं वर्धयति, जरासुतादिभिर्युध्यति, द्वारकायामुज्जयिन्यां प्राग्ज्योतिषपुरे इन्द्रप्रस्थादावेवमेवं करोतीत्यादिलोकोक्तिरूपाः, श्रीमदुद्धवानीतसन्देशादितत्संवादादिरूपा वा, तैर्विनष्टेषु अक्रियमाणेषु सर्वेषु गृहादिकर्मभगवद्-व्रतादिषु । किञ्च, पाषण्डः कापट्यं, तेनैको मुख्यः प्रयत्नो बहिरुद्यमो येषां यत्सम्बन्धी । तथाच तादृशेष्वेतद्गोपनाय लौकिकवैदिकविहितमार्यादिकर्मभगवद्-व्रतादीनामुद्यम एव न तु मनस्तत्तत्कृतिरपीति तादृशेषु तेषु सत्सु, 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चने'त्येतादृशावस्थायां कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥६॥

इसके पश्चात् जब विरहताप इससे भी अधिक हो गया तब अपनी असमर्थता बताते हुए भगवद्-प्राप्ति के लिए अब समस्त प्रयत्नों का नाश **नाना** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अनेक प्रकार के वाद-विवादों को आचार्यचरण **नानावाद** शब्द से कह रहे हैं। वह ऐसे कि - "भगवान मथुरा में स्त्रियों का कामवर्धन कर रहे हैं", "जरासंध जैसे राक्षसों से युद्ध कर रहे हैं", "द्वारिका, उज्जयिनी, प्राग्ज्योतिषपुर, इंद्रप्रस्थ, आदि नगरियों में ऐसा वैसा कर रहे हैं" इस प्रकार से लोगों द्वारा कही-सुनी बातें ही नानावाद है। अथवा तो यों अर्थ कर लें कि, जब श्रीमद्-उद्धवजी भगवान श्रीकृष्ण का संदेश लेकर गोपिकाओं के पास आए और उन्हें ज्ञानोपदेश किया, वही नानावाद है। गोपिकाओं ने उनसे कहा-सुनी की है क्योंकि श्रीकृष्ण के विरह में पागल हुई गोपिकाओं का ज्ञानोपदेश से क्या लेना-देना ? वे तो बस श्रीकृष्ण के दर्शन मात्र करना चाहती थीं। अतः आचार्यचरणों का गूढ़ तात्पय यह है कि, इस प्रकार के नानावादों से गोपिकाओं के समस्त गृहकार्य, भगवद्-व्रत आदि नष्ट हो गये, गोपिकाओं का मन इनमें न लगा। और, पाषण्डः का अर्थ है - कपट। अर्थात् केवल कपट ही करने का जो प्रयत्न कर रहे हैं, वे पाषण्डैकप्रयत्नः हैं। यहाँ कपट करने से तात्पर्य है कि, अरसिकों एवं अन्यमार्गीयों से अपना पुष्टिभाव छुपाने के लिए वे लौकिकवैदिक मार्यादिक कर्म, भगवद्-व्रत इत्यादि कर रही हैं, परंतु है वो कपट ही। उन्हें मन से इन कर्मों के प्रति कोई निष्ठा नहीं है। ऐसी विरही गोपिकाओं की अब कृष्ण ही गति हैं। जैसा कि श्रीमद्-भागवत में कहे "हे उद्धव ! मेरी गोपियों ने मेरे विरह में बड़े ही कष्ट एवं प्रयत्न से उपने प्राणों को बचा कर रखा है (१०/४६/६)" इस वाक्यानुसार ऐसी विरह की परिस्थिति में कृष्ण ही मेरी गति हैं ॥६॥

एवमतिशयितताप भगवानन्तःप्रादुरभूत्ततस्तयावस्थयाहुः-अजामिलादीति । जामि आलस्यं 'जामि वैतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशावि'त्यादिश्रुतौ तथासिद्धत्वात् 'आत्मा यावत्प्रपन्नोभूदि'त्यत्रेवात्र परोक्षवादे वैदिकप्रयोगस्यादोषाच्च । न जामि अजामि अनालस्यं तेन लान्ति गृह्णत इत्यजामिलाः, आदिपदेन जामिलाश्च । तदुणसंविज्ञानः । शैघ्र्येण विलम्बेन च भगवद्विप्रयोजका इति यावत् । तथाच तादृशा ये दोषा मानादय आज्ञाद्यकरणादयश्च तेषां नाशकः । अनुभवे मानसे

साक्षिप्रत्यक्षे च स्थितो गोचरीभवन् । ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः ज्ञापितमखिलं समीक्षाभावादि मथुराद्वारकास्थित्यादि तत्तल्लीलादितात्पर्यविषयकं सर्वं माहात्म्यमुत्कर्षः परोक्षभजनाविस्मरणातिप्रियत्वरूपो येन तादृशः । कृष्ण एवेति पूर्ववत् । एतेन योग्यतमानामप्येतादृशताप एव प्रादुर्भाव ईदृशो न त्वन्यथेति । अन्यथा त्वन्यथेत्यपि सूचितम् ॥७॥

इस प्रकार से जब गोपिकाओं में अतिशय ताप उत्पन्न हो गया, तब भगवान उनके अन्तःकरण में प्रादुर्भूत हुए। उस अवस्था को आचार्यचरण अजामिल इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। 'जामि' का अर्थ होता है - आलस्य। जामि शब्द का अर्थ आलस्य होता है - यह अर्थ ''यज्ञ की हवन-सामग्री तैयार करने में जामि (आलस्य) करने से पूर्ण यज्ञफल प्राप्त नहीं होता'' इस श्रुति के द्वारा एवं ''आत्मा यावत्.....'' इस वाक्य द्वारा सिद्ध है। अतः परोक्षवाद में वैदिकप्रयोग करना अदुष्ट होने के कारण इस प्रकार से अर्थ करने में कोई आपत्ति नहीं है। अतः कुल मिला कर अर्थ यह हुआ कि, जो जामि नहीं है, वह अजामि है। तात्पर्य यह कि अजामि अर्थात् आलस्य न करना। जो आलस्य नहीं है, वह अजामि है। यहाँ अजामिल पद के संग आचार्यचरणों ने 'आदि' पद भी जोड़ा है, जिससे 'जामिल' अर्थात् आलस्य भी समझ लेना चाहिए! सो 'अजामिलादि' पद से तात्पर्य हुआ - आलस्य न करना एवं आलस्य करना। अनालस्य से तात्पर्य है - शीघ्र ही भगवान से विप्रयोग कराने वाला तत्व एवं आलस्य से तात्पर्य है - विलंब से भगवान से विप्रयोग करानेवाले तत्व। भक्तों को ऐसे विप्रयोग कराने वाले तत्वों के भगवान नाशक है। अतः अर्थ यह हुआ कि प्रभु से मान करना (रूठ जाना), प्रभु की आज्ञा न माननी इत्यादि जो दोष हैं, प्रभु उन दोषों के नाशक हैं। अनुभवे स्थितः का अर्थ है - प्रभु उन दोषों के नाशक हैं, यह बात मनोमस्तिष्क में भी है एवं उनकी ऐसी सामर्थ्य प्रत्यक्ष भी दिखाई देती है। प्रभु को ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः इस कारण कहा है क्योंकि गोपिकाओं ने जैसे गोपीगीत में प्रभु की विभिन्न लीलाओं की समीक्षा की है, प्रभु की मथुरा-द्वारका की जो लीलाएँ हैं - इन सभी स्थलों पर प्रभु के **माहात्म्य** अर्थात् उत्कर्ष का वर्णन हुआ है। इसी प्रकार भगवान के अंतर्धान होने पर गोपिकाओं के लिए प्रभु द्वारा चिंतन किए जाने की बात श्रीमद्-भागवत के १०/३२/२१ (परोक्षभजन) एवं १०/४६/२,३,४,५ ११/१२/१० इत्यादि श्लोकों में प्रभु द्वारा गोपिकाओं को न भूलने एवं उनके अतिप्रिय होने की बात कही गई है। तात्पर्य यह कि उपर्युक्त समस्त श्लोकों में अपने माहात्म्य को ज्ञापित कर देनेवाले कृष्ण मेरी गति हों।

इससे यह सिद्ध होता है कि पुष्टिमार्ग की योग्यतम गोपिकाओं को भी इस प्रकार का ताप होने पर ही भगवान का प्रादुर्भाव हुआ है, ऐसे उत्कृष्ट ताप के बिना नहीं। यदि ऐसा उत्कृष्ट ताप न हो तो भगवान का प्रादुर्भाव होना भी संभव नहीं है ॥७॥

माहात्म्यं यज्ज्ञापितं तन्मध्ये यदत्रोपयुज्यते तत्प्रकटीकुर्वन्त आहुः-प्राकृता इत्यादि । प्रकृते रसमार्गे भवा विद्यमानाः प्राकृताः । सकलाः, कला भगवदनुरञ्जन चातुर्यं तया सह वर्तमानाः । देवा भगवता सह क्रीडापराः । किञ्च, बृहदक्षरं गुहायां परमे व्योमन्याविर्भूतं ब्रह्म गणितानन्दकं, गणितः श्रुतौ सङ्ख्यात आनन्दो येषां प्रजापत्यन्तानां यतीनां वा, तेषामेव कं सुखं यस्मादिति तादृशं, न तु स्वस्मिन् स्थिति मात्रेण सकलदेवानां सुखदम् । तथा पूर्णानन्दः कर्मधारयेण बहुव्रीहिणा च हरिः देवानन्दतिरोभावहर्ता कृष्ण एव तस्मान्मम तथेत्यर्थः । तथाचैतन्मार्गीयं फलं केवल परमानुग्रहैकलभ्यमेवेति सपरिकरभगवन्माहात्म्यं यद्भगवज्ज्ञापितं तत्सूचितम् ॥८॥

भगवान का माहात्म्य बताने में जो अन्य बातें भी जुड़ सकती हैं, उन्हें प्रकट करते हुए आचार्यचरण **प्राकृताः** शब्दों से कह रहे हैं। आचार्यचरणों ने यहाँ अभी रसमार्ग की चर्चा की है, उस रसमार्ग के अंतर्गत आए लोगों को आपश्री 'प्राकृताः' कर रहे हैं। सकलाः का अर्थ है - इनमें भगवान को प्रसन्न करने का कलाचातुर्य है। देवा का अर्थ है - भगवान के संग क्रीड़ा करने वाले। और, जैसे बृहद्-अक्षरब्रह्म हृदय में आविर्भूत होकर आनंद प्रदान करते हैं परंतु उनके आनंद की गणना की जा सकती है। जैसे श्रुति में जिन प्रजापति से लेकर यति तक तक के आनंद की गणना की गई है, उस प्रकार से अक्षरब्रह्म केवल प्रजापति, यज्ञकर्ता इत्यादि को ही आनंद दे सकते हैं, पूर्णानंद नहीं। जैसे अक्षरब्रह्म हृदय में आविर्भूत होकर आनंद देते हैं, वैसे वह अक्षरब्रह्म गोपिकाओं के हृदय में भले ही प्रकट हो जाएँ परंतु उन्हें पूर्णानंद नहीं दे सकते क्योंकि ये गोपिकाएँ तो स्वयं पूर्णभगवानश्रीकृष्ण के संग क्रीड़ा करनेवाली हैं अतः उन्हें सुख भी पूर्णानंद ही दे सकते हैं, सीमित आनंद वाले अक्षरब्रह्म नहीं। श्रीकृष्ण को पूर्णानंदः हरिः इसलिए कहा गया है क्योंकि वे गोपिकाओं के आनंद के तिरोभाव का हरण करके पूर्णानंद देते हैं। अतः ऐसे कृष्ण मेरी गति हों, यह अर्थ है। इस प्रकार इस पुष्टिमार्ग का फल केवल एक भगवद्-अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकता है इसलिए भगवान ने जो परिकरसहित अपना माहात्म्य बताया है, वह आचार्यचरणों ने यहाँ सूचित किया है ॥८॥

एवमनुग्रहस्य तत्फलस्य स्वकृतसाधनासाध्यत्वेनुसंहिते यावस्था तयाहुः-विवेकेत्यादि । विवेकः साधनतारतम्यानुसन्धानं, धैर्यं दुःखसहनसामर्थ्यं, भक्तिः स्वशरीरसेवा । आदिपदेन तत्तत्साधनानि, तै रहितस्य । विशेषतोत्यन्तं पापेन पूर्वोक्तविरहात्मकेन असक्तस्य मुक्तसमस्तसङ्गस्य, अत एव दीनस्य तत एवानोजसः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥९॥

इस प्रकार भगवान की कृपा एवं उस कृपा का फल हमारे द्वारा किए गये साधनों से असाध्य है - जब हमें ऐसा अनुसंधान हो जाय, तब हमारी जो अवस्था होगी, उसे आचार्यचरण विवेक इत्यादि शब्दों से कह रहे है । विवेक: का अर्थ है - भगवद्-प्राप्ति के समस्त साधनों में से प्रत्येक का भेद समझना । धैर्य का अर्थ है - दु:ख सहन करने का सामर्थ्य । भक्ति: का अर्थ है - अपने शरीर से प्रभु-सेवा करनी । 'आदि' पद से इन विवेक-धैर्य-भक्ति के साधन भी गिन लेने चाहिए । इन सभी से रहित को आचार्यचरण विवेकधैर्यभक्त्यादिरहित: कह रहे हैं । पूर्व में कहे गये विरह के कारण विशेषरूप से सभी ओर से अनासक्ति हो गई है, अतएव ऐसे दीनहीन, कांतिहीन भक्त के लिए कृष्ण ही गति हैं ॥९॥

एवमतितापेन परमदैन्ये भगवान् बहि:प्रादुर्भूतस्तदातिसन्तुष्टा जीवेषु मन्दमध्यमेष्वेवं विलम्बाभावाय विज्ञापयन्ति सर्वेत्यादि । अयोग्येष्वपि योग्यतासम्पादनं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्यैव शक्यमिति तादृश: सन् । तादृशत्वस्य गमकमौदार्यमिति सर्वत्रैवाङ्गीकृतमात्रे अखिलार्थानां पुष्टिपुष्टिमोक्षरूपाणां कृत् ! करणशील ! कृष्ण ! पूर्वोक्तश्रुति-पुराणव्याख्यातरूप ! । श्रीरघुनाथचरणै: कृष्णपदं सम्बुद्ध्यन्तत्वेन व्याख्यातमित्यस्माभिरपि तथोक्तम् । द्वितीयान्तपक्षेपि क्रिबन्तमेव । शरणस्थानामेतन्मार्गरीत्या शरणागतानां फलपर्यन्तमुद्धारं अहं भवदनुभावप्रकट-नार्थाज्ञयावतीर्ण: विज्ञापयामि । एतेन स्वस्य विज्ञापने भगवतश्च तथोद्धार आवश्यकता सूचिता ॥१०॥

इस प्रकार से अतिशय ताप बढ़ जाने के कारण जब भक्त में परमदीनता का उदय होने पर अब भगवान बाहर प्रादुर्भूत हुए । इससे अति संतुष्ट हुए जीवों में जो मंद और मध्यम अधिकारी जीव हैं, उन्हें भगवद्-प्राप्ति में इस प्रकार का विलंब न हो, इसके लिए आचार्यचरण सर्व इत्यादि शब्दों से प्रार्थना कर रहे हैं । अयोग्य जीवों में भी योग्यता का संपादन करना तो कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुम् समर्थ के लिए ही संभव है । भगवान का इस प्रकार से जीवों पर कृपा करना उनके उदारचरित्र के कारण ही है अत: आचार्यचरण प्रार्थना करते हैं कि - समस्त अंगीकृतजीवों के, पुष्टिपुष्टि के अंतर्गत कृतार्थ होने वाले जीवों के समस्त कार्य संपन्न करने वाले हे कृष्ण ! श्रुतिपुराणों में व्याख्यायित होने वाले कृष्ण ! आप ही सभी की गति हैं । श्रीरघुनाथचरणों ने तो इस श्लोक के अंतर्गत 'कृष्ण' शब्द को संबोधन मान कर व्याख्या की है अत: हम भी यही कह रहे हैं । और यदि 'कृष्ण' शब्द को द्वितीया-विभक्ति मान लें (अर्थात् 'कृष्ण को' यों अर्थ करके) तो भी अर्थ तो यही रहता है । शरणस्थानां शब्द से आचार्यचरण प्रभु-श्रीकृष्ण से कह रहे हैं कि - इस पुष्टिमार्ग की रीति के अनुसार शरणागत हुए जीवों का अहं अर्थात् आपके अनुभाव को प्रकट करने की आज्ञा से अवतीर्ण हुआ मैं, फलपर्यन्त उद्धार करने की प्रार्थना कर रहा हूँ । इस प्रकार से प्रार्थना करके आचार्यचरणों ने भगवान द्वारा भी वैसे ही उद्धार करने की आवश्यकता सूचित कर दी है ॥१०॥

विज्ञापनां वदन्ति-कृष्णाश्रयमित्यादि । कृष्णाश्रयं स्तोत्रं श्रीरूप: स्वामिनीभावपूरितत्वात् वल्लभो भगवत: प्रिय आचार्यवर्योब्रवीदिति, य: पठेत् एवमनुसन्दधानो योस्मद्विप्रयोगावस्थां ज्ञापयन् कृष्णसन्निधौ व्यक्तं कथयेत्तस्य कृष्ण आश्रयो भवेदिदं विज्ञापनमित्यर्थ: । स्तोत्रस्य प्रत्यक्षत्वेनेदमा विनाप्यर्थसिद्धेरिति, शब्दान्तरानध्याहाराच्च, अत्र दूरान्वयोप्यदुष्ट एव । 'विमुञ्चात्मतनुं घोरामित्युक्तो विससर्ज ह' । 'विससर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमतिं प्रिया'मित्यादौ भाव एव तनुत्वेन व्यवहाराच्च श्रीरूपत्वोक्तावपि न दोष इति न कोपि शङ्कालेश इति । यथाधिकारं सर्वा एव टीका उपयुज्यन्त इति न क्वापि शङ्कालेश इति । दिक् ॥११॥

इति श्रीवल्लभाचार्यप्रकटीकृतमद्भुतम् ।
स्तोत्रं कृष्णाश्रयकरं विवृतं तत्प्रसादत: ॥१॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणकमलचञ्चरीकश्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराजविरचितं कृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं समाप्तम् ।

अब वह प्रार्थना क्या/कैसी है, यह आचार्यचरण कृष्णाश्रयम् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । स्वामिनीभाव से पूरित होने के कारण भगवान को प्रिय आचार्यवर्य श्रीवल्लभ यह कृष्णाश्रयस्तोत्र कह रहे हैं । इस स्तोत्र में कही हुई बातों का अनुसंधान करते हुए हमारी विप्रयोगावस्था बताते हुए कृष्ण की सन्निधि में जो इसका पाठ करेगा, कृष्ण उसके आश्रय बन जायेंगे - इस प्रकार से आचार्यचरण प्रार्थना कर रहे हैं । यद्यपि इस पूरे स्तोत्र में आचार्यचरण श्रीकृष्ण से प्रार्थना कर रहे हैं, यह प्रत्यक्ष ही है अत: इस ग्यारहवें श्लोक में आचार्यचरण विज्ञापना (प्रार्थना) न करते, तो भी इस ग्रंथ का प्रार्थनारूप सिद्ध हो ही जाता है और इस ग्यारहवें श्लोक की उपर कहे श्लोकों से संगति करने में अपने मन से अन्य शब्द जोड़ने की भी आवश्यकता नहीं है, तथापि यदि ऐसा अर्थ करें कि, इस ग्यारहवें श्लोक में आचार्यचरण यह प्रार्थना कर रहे हैं कि कृष्ण के सन्मुख इस ग्रंथ पाठ करने वाले हर किसी के कृष्ण आश्रय बन जाएँ, तो ऐसा अर्थ करना अनुचित न होगा । और, श्रीमद्-भागवत में "भगवान ने ब्रह्माजी से कहा कि - तुम अपने इस कामकलुषित शरीर को त्याग दो (श्री.भा. ३/२०/२८)", एवं "ब्रह्माजी ने अपने कांतिमय शरीर का त्याग कर दिया (श्री.भा. ३/२०/३९)" कहे इन श्लोकों में भाव ही शरीर के रूप में कहा गया है । अत: भावपूर्वक यदि हमने श्रीवल्लभ को श्रीरूप कहा है तो उसमें

दोष नहीं है अतः यहाँ किसी भी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए। अपने-अपने अधिकारानुसार प्राचीन सभी टीकाएँ भी मेरी टीका के संग जुड़ जायेंगी अतः यहाँ लेशमात्र भी किसी शंका के लिए कोई स्थान नहीं है। सो यह दिशा अब स्पष्ट हो गई ॥११॥

श्रीवल्लभाचार्य द्वारा प्रकट किए गये कृष्ण का आश्रय करानेवाले इस अद्भुत स्तोत्र की विवृत्ति मैंने उनकी कृपा से की है ॥१॥

यह श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणकमलों में भौंरे के समान श्रीश्यामलात्मज श्रीव्रजराजविरचित कृष्णाश्रयस्तोत्र का विवरण समाप्त हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

विवरणसमेतम् ।

यत्कृपादृष्टिवृष्ट्येकबिन्दुस्पर्शे रसार्द्रता ।
कृष्णलीलाब्धिजा जन्तोर्न कदापि निवर्तते ॥१॥
तानेव श्रीमदाचार्यचरणानाश्रये मुदा ।
तेनैव मम तद्वाक्यबोधो बोध्यो हि जायते ॥२॥
पुष्टिमार्गादिलीलाभिः स्वानन्दं पूरयन्निजम् ।
स्वाश्रयं कुरुते यश्च तमहं कृष्णमाश्रये ॥३॥

जिनकी कृपादृष्टिरूप वर्षा के एक बिन्दु के स्पर्श से जीव की कृष्णलीला के सागर से उत्पन्न हुई रसाद्रता कभी निवृत्त नहीं होती ॥१॥ उन्हीं श्रीमदाचार्यचरणों का मैं प्रसन्नतापूर्वक आश्रय करता हूँ, उसी आश्रय से मुझे उनके वाक्यों में कहा कृष्णाश्रय प्राप्त होगा ॥२॥ जो पुष्टिमार्ग की लीलाओं से निजजनों को अपने आनंद से पूरित करके अपना 'आश्रय' दे देते हैं, ऐसे कृष्ण का मैं आश्रय करता हूँ ॥३॥

अथात्राश्रयो द्वेधा निरूप्यते मर्यादापुष्टिभेदेन । तत्र मर्यादया य आश्रयः स तु स्फुट एव सर्वत्र व्याख्यातः । पुष्टिमार्गीयस्तु गूढः, स च परोक्षवादेन साधनफलस्वरूपनिरूपणपूर्वकं निरूप्यते । तत्रापि कालादिषट्साधनानां फलासाधकत्वं वदन्त आश्रयं संभावयन्ति । एवं सति यादृशः पुष्टिमार्गीयाणामाश्रयस्तादृशोत्र निरूप्यते प्रकारसहित इत्यवगम्यते । तथाहि प्रथमं परमकृपालुः साक्षात् भगवान् स्वयं निरूपधिकरुणावत्त्वात्पुष्टिफलदानेच्छया यं वृणुते तस्य तदारभ्य स्वत एवोद्भूतसहजानुरागतो भगवत्सेवादौ प्रवृत्तिर्भवति न तु तद्व्यतिरिक्तधर्मेषु ।

अब आचार्यचरण आश्रय को दो प्रकार से निरूपित कर रहे हैं, एक मर्यादा एवं दूसरे पुष्टि के भेद से । मर्यादामार्ग में जिस आश्रय की बात की गई है, वह तो सभी को ज्ञात है ही क्योंकि उसकी व्याख्या सर्वत्र की जा चुकी है । किंतु पुष्टिमार्गीय आश्रय गूढ़ है और उसे आचार्यचरण यहाँ परोक्षवाद से उसके साधन एवं फलस्वरूप को बताते हुए निरूपित कर रहे हैं । (यहाँ टीकाकार ने परोक्षवाद शब्द प्रयुक्त किया है, उसे समझें । जो बात सीधे-सीधे बिना घुमाए-फिराए स्पष्टरूप से कह दी जाय, उसे प्रत्यक्षरूप से कहना कहा जाता है और जो बात सीधे-सीधे न कहकर किसी दूसरे ढंग से कही जाय तो उसे परोक्षरूप से कहना कहा जाता है । यहाँ टीकाकार ने कह ही दिया है कि पुष्टिमार्गीय-आश्रय गूढ है अतः सभी प्रकार के अधिकारियों से प्रत्यक्षरूप में इसकी चर्चा नहीं होनी चाहिए अतः टीकाकार कह रहे हैं कि आचार्यचरण परोक्षरूप से कह रहे हैं । अब वह परोक्ष रूप से कहना क्या है, इसे समझें । इस ग्रंथ में बताया गया है कि धर्म के छह अंग बिफल हो चुके हैं, वर्तमान परिस्थितियाँ बिगड़ चुकी हैं, जीव में विवेक-धैर्य-भक्ति आदि नहीं हैं, वह पापासक्त हो गया है, इत्यादि । इन सभी कारणों से श्रीकृष्ण का आश्रय करना चाहिए । यही परोक्षरूप से कहना हुआ क्योंकि मान लें कि, यदि परिस्थिति इस प्रकार से बिगड़ी हुई नहीं होती तो कृष्ण का आश्रय क्या नहीं करना था ? आश्रय तो सभी परिस्थितियों में करना ही है परंतु आचार्यचरण सभी प्रकार के अधिकारियों को ध्यान में रखकर बिगड़ी हुई परिस्थितियों का हवाला देते हुए परोक्षतया कह रहे हैं, यह अर्थ है ।) अतः यह ज्ञात होता है कि पुष्टिमार्गीयों को जिस प्रकार का आश्रय करना चाहिए, वैसे प्रकार का आश्रय इस ग्रंथ में निरूपित किया जा रहा है अर्थात् प्रकारसहित कहा जा रहा है । यहाँ सर्वप्रथम यह समझना चाहिए कि, परमकृपालु साक्षात् भगवान उनकी निरुपधिकरुणा (सहज करुणा) के कारण जब पुष्टिफल दान करने की इच्छा से जिस जीव का वरण करते हैं, तब उस जीव को उस वरण के समय से ही भगवान में स्वतः ही सहज अनुराग उद्भूत होता है और भगवत्सेवा - आदि में प्रवृत्ति होती है; भगवान से अतिरिक्त दूसरे धर्मों में उसकी प्रवृत्ति फिर नहीं होती ।

ततस्तादृशानुरागपूर्वकसेवादिकरणोल्लसितप्रेमासक्तिजनितपुष्टिमार्गीयभावाङ्कुराणां 'भगवता सह संलाप'

इत्याद्युक्तप्रकारकभावनाया अवश्यसंभवात्तत्र तद्धर्मप्राकट्ये विजातीयसङ्गानुरोधादन्तःस्वरूपानुभवप्रतिबन्धे सति तदपेक्षाजनितार्त्या भगवद्व्यतिरिक्तस्य तन्निर्वृत्तेरशक्यत्वाच्छरणगतिरुत्पद्यत इति श्रीमदाचार्यचरणास्तत्स्वरूपनिरूपणपूर्वकं श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रं निरूपयन्ति सर्वेति ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ।। १ ।।

तादृशपुष्टिमार्गीयस्य सर्वे मार्गाः प्रमाणरूपाः कर्मादयो नष्टाः, एक एव प्रमेयमार्गस्तिष्ठति, यतस्तेषु फलत्वासाधकत्वबुद्ध्याऽरुचिरेवेति तत्त्यागकरणान्नष्टा एवेत्यर्थः । अथवा 'णशृ अदर्शने' इति धात्वर्थविचारेण नष्टा अज्ञाता वा । तेषां दर्शनज्ञानयोरप्येतन्मार्गे प्रतिबन्धकत्वादितिभावः ।

इसके पश्चात् ऐसे प्रकार के अनुरागपूर्वक भगवत्सेवा करने से जीव में उत्पन्न हुई प्रेम-आसक्ति से पुष्टिमार्गीय भावांकुर उत्पन्न होता है अर्थात् "भगवान के संग वार्तालाप (सुबो. १०/१८/७; कारिका - ८)" इत्यादि कारिका में कहे हुए प्रकार की भावना तो अवश्यंभावी होती है। और जब जीव में ऐसे पुष्टिमार्गीय-धर्म प्रकट हो जाते हैं तब विजातीय लोगों का दुःसंग लग जाने से अन्तःकरण में स्थित भगवत्स्वरूप का अनुभव करने में प्रतिबंध हो जाता है। ऐसे में जब उसको भगवत्स्वरूप का अनुभव नहीं होता तो उसे आर्ति (विरह-ताप) होता है और भगवान के अतिरिक्त उस आर्ति को कोई अन्य निवृत्त नहीं कर सकता, अतः फिर उसमें शरणागति का भाव उत्पन्न होता है। इसी कारण आचार्यचरण यहाँ शरणागति के स्वरूप का निरूपण करते हुए श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्र का निरूपण <u>सर्व</u> इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि ऐसे पुष्टिमार्गीय जीव के लिए कर्म-ज्ञान-उपासना आदि समस्त प्रमाणरूप मार्ग नष्ट हो चुके हैं, केवल एक प्रमेयमार्ग (पुष्टिमार्ग) रह गया है। क्योंकि इन समस्त मार्गों में वांछित-फल प्राप्त होना असाध्य है - यह विचार कर पुष्टिजीवों को इनमें अरुचि ही हो गई है और उन्होंने इनका त्याग कर दिया होने से ये नष्ट ही हो गये हैं - यह अर्थ है। अथवा तो नष्ट शब्द का अर्थ 'णशृ अदर्शने' इस धातु-अर्थ का विचार करने के द्वारा - ये सभी मार्ग जीवों के लिए अज्ञात हैं - इस प्रकार लिया जा सकता है। अर्थात् यों समझें कि पुष्टिमार्गीय जीवों के लिए इन सभी मार्गों की ओर दृष्टि करना या इनको जानने का प्रयत्न करना इस मार्ग में प्रतिबंधक है, यह भाव है।

ननु भक्तानां कलिकालः साधको भवतीति तन्निष्ठमार्गाणां कथं तथात्वमिति पुष्टिमार्गीयाणां तस्य बाधकत्वमाहुः खलधर्मिणीति । कालस्तु प्रमाणभूतः, प्रमाणं साक्षात्स्वरूपं न कथयतीति तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्य सदोषत्वमेवेति तन्नष्टत्वात् खलो दुष्टो धर्मो धर्मकर्तापि यत्रेति । यद्यपि 'कलेर्दोषनिधे राजन्' 'कलिंसभाजयन्ती'त्यादिवचनैः कलेर्भग-वद्भजनानुकूलत्वमुक्तं, तथाप्यधुनानवता-रसामयिकत्वेनाधिदैविकरूपत्वाभावात् पुष्टिमार्गीयान् प्रत्यानुकूल्यस्य नष्टत्वमेवेति तथोक्तम् । भौतिककालस्य प्रमाणरूपत्वेन मर्यादोक्तविधिना तेषां भजनं न पुष्टिरीत्या । फलमपि मुक्तिरेव न ततोऽग्रिमकक्षापन्ना । अत एव पाषण्डप्रचुरे लोके इत्युक्तम् । धर्मिव्यतिरेकेण केवलधर्मस्य सोपाधिकत्वात्तथोक्तमितिभावः । तानेव धर्ममार्गानुत्तर श्लोकेष्वसाधकत्वेन वक्ष्यन्ति ।

परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि भक्तों के लिए तो कलिकाल साधक होता है अतः काल के अंतर्गत आनेवाले मार्ग कैसे नष्ट हो सकते हैं ? सो पुष्टिमार्गीयों के लिए कलिकाल की बाधकता बताते हुए आचार्यचरण <u>खलधर्मिणी</u> इत्यादि शब्दों से इस शंका का समाधान कर रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि काल तो प्रमाणभूत है एवं प्रमाण कभी भी अपने साक्षात् स्वरूप को नहीं कहता। अतः जिसका प्रत्यक्ष स्वरूप ज्ञात हो सके, वही निर्दुष्ट वस्तु है और इसके अतिरिक्त जिसका साक्षात् स्वरूप न ज्ञात हो सके, वह सभी कुछ दोषसहित ही है। अतः भगवान का साक्षात्-स्वरूप नष्ट (तिरोहित) हो जाने के कारण धर्म और धर्मकर्ता भी नष्ट हो गये हैं। यद्यपि "हे परीक्षित् ! यों तो कलियुग दोषों का भंडार है परंतु इसमें एक गुण यह है कि कलियुग में भगवान श्रीकृष्ण का केवल संकीर्तन करने से भगवत्प्राप्ति हो जाती है (श्री.भा. १२/३/५१)", "कलियुग में केवल भगवान का संकीर्तन करने से ही समस्त स्वार्थ परमार्थ बन जाते हैं। अतः इस युग का गुण जाननेवाले श्रेष्ठ पुरुष कलियुग की बड़ी प्रशंसा करते हैं (श्री.भा. ११/५/३६)" इत्यादि वचनों में कलिकाल को भगवद्-भजन के अनुकूल कहा गया है तथापि यह भगवान के अवतार का समय नहीं है अतः इस समय भगवान के आधिदैविक स्वरूप का अभाव है इसलिए पुष्टिमार्गीयों के प्रति कलियुग की अनुकूलता नष्ट हो गई है, इस कारण से आचार्यचरण कलिकाल को बाधक कह रहे हैं। आज के समय में भौतिकरूप से जो प्रत्यक्ष दिखाई दे, उसी को प्रमाण माना जाता है। अतः इस प्रकार भौतिककालानुसार मर्यादामार्गीय ढंग से प्रभुभजन करने वालों के लिए तब फल भी केवल मुक्ति ही है, मुक्ति से आगे प्रभु-प्राप्ति नहीं। इसी कारण आचार्यचरण <u>पाषण्डप्रचुर</u> <u>लोके</u> कह रहे हैं अर्थात् वर्तमान में लोग धर्मिस्वरूप-भगवान को छोड़कर केवल

स्वार्थपूर्ति के लिए धर्माचरण कर रहे हैं, यह भाव है । इन्हीं धर्मार्गों को आचार्यचरण आगे के श्लोकों में असाधक रूप से कहेंगे ।

एवं सति तत्तत्काले तत्तद्धर्मानाचरणे तेषां दोषबुद्धिरेवोत्पद्यत इति तत्समक्षं तत्तत्काले प्रमाणातिरिक्तं न कर्तुं शक्यत इति कालस्य भावोद्बोधे प्रतिबन्धकत्वादसाधकत्वं निरूपितम् । चकाराद्गृहेऽपि तथा । 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मत' इतिवचनात्तत्रापि सेवाकरणे क्रमेण स्नेहासक्तिजनितभावनाया जातत्वात्तत्रत्यानां तदभावात्तत्सङ्गोस्य बाधको विजातीयभाववत्त्वादित्यर्थः । अथवा, एवं पुष्टिमार्गीयस्य कालतदुक्तमार्गाणां प्रतिबन्धकत्वं निरूप्य तस्य स्वधर्माचरणप्रकारमाहुः-पाषण्डेति । लोके पुष्टिमार्गीये पाषण्डप्रचुरे सति तत्संसर्गेण भावापेक्षया दोषबाहुल्ये सतीत्यर्थः । यद्वा, पाषण्डो नाम स्वान्तर्निष्ठधर्मगोपनेन बहिरन्यधर्मकरणं तदेव प्रचुरो यस्मिंस्तादृशे सति । यथा न कोपि जानाति तथा कर्तव्यमापन्नमितिभावः । एवं सत्येतावत्प्रतिबन्धके विद्यमाने तत्संसर्गेण पूर्वोक्तभावानामुच्छलितत्वाभा-वात्फलाभाव इति तादृशस्य प्रतिबन्धनिवर्तकः साक्षाद्भगवानेव नान्य इति कृष्ण एव गतिर्ममेतिशरणमुपदिष्टम् । शरणं गते कृपया स एव सर्वं करिष्यतीतिभावः ॥१॥

इन परिस्थितियों में उन-उन समयों पर जीव यदि मर्यादामार्गीय ढंग से भगवद्-भजन न करे, तो समाज उसे दोषबुद्धि से देखता है, इसलिए उनके आगे उन-उन समयों पर वे वही कर सकते हैं, जिसका प्रमाण हो, प्रमाण के अतिरिक्त और कुछ नहीं । इसलिए वर्तमान का काल पुष्टिमार्गीयों की भाववृद्धि में प्रतिबंधक है अतः आचार्यचरण काल को असाधक कह रहे हैं । इस प्रथम श्लोक में प्रयुक्त 'च' शब्द इस अर्थ को बताने के लिए प्रयुक्त हुआ है कि गृह में भी यही परिस्थिति है - यह सिद्ध होता है । क्योंकि "गृह में रहकर अपने स्वधर्म से रहते हुए भगवद्-सेवा करनी चाहिए (भक्ति./२)" इस वचनानुसार गृह में रहकर भी सेवा करें, तो भक्त को क्रमपूर्वक भगवान में स्नेह-आसक्ति-व्यसन इत्यादि भावनाएँ उत्पन्न होती तो हैं परंतु परिवारजनों को तो भगवत्सेवा में रुचि नहीं होती । इसलिए परिवारजनों का भाव विजातीय होने के कारण उनका संग भक्त के लिए बाधक होता है, यह अर्थ है । अथवा तो यों अर्थ कर लें कि आचार्यचरणों ने एक पुष्टिमार्गीय के लिए काल को प्रतिबंधक बताया है एवं अब उसे अपने स्वधर्म का आचरण कैसे करना चाहिए, यह पाषण्ड इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं । लोके अर्थात् पुष्टिमार्गीयों में पाषंड की प्रचुरता हो गई है अतः पाषंड का संसर्ग हो जाने से पुष्टिमार्गीयों में भगवद्-भाव बढ़ने के स्थान पर दोषों की बहुलता हो गई है, यह अर्थ है । अथवा पाषंड का अर्थ है - अपने स्वधर्म को छुपा लेना और बाहर से किसी अन्य धर्म को प्रकट करना; अर्थात् कोई भी अपने आंतरिक भावों को न जान सके वैसा ही करना - लोगों में इस प्रकार का भाव पनप गया है । इन परिस्थितियों में इस प्रकार के प्रतिबंधक आ जाने पर एवं ऐसे पाखंडियों के संसर्ग से पूर्व में कहा गया प्रेम-आसक्ति-व्यसन से युक्त भगवत्भाव उत्पन्न नहीं हो पाता और जिस कारण धर्माचरण का फल प्राप्त नहीं होता । ऐसे प्रतिबंधों का निवारण करने वाले साक्षात् भगवान ही हैं कोई अन्य नहीं, इस कारण आचार्यचरण "कृष्ण ही मेरी गति हैं" इस प्रकार से शरणागति का उपदेश कर रहे हैं । भगवान की शरण जाने पर कृपापूर्वक वे ही समस्त कार्यों को सिद्ध करेंगे, यह भाव है ॥१॥

ननु तर्हि भगवल्लीलाप्रदेशेषु गत्वा स्वधर्मनिर्वाहः कर्तव्य इति चेत्तत्रापि प्रतिबन्धकबाहुल्येन देशानामसाधकत्वेन शरणमेव निरूपयति म्लेच्छेति ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

मलिनपदार्थमेवेच्छन्तीति म्लेच्छा विषयिणो, मन्त्राद्युपासकाः, कर्ममार्गीयाश्च । यद्यपि तेऽनिषिद्धं विहितमेव कुर्वन्ति तथापि स्वार्थपराः 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ती' त्याद्युक्त्या कर्मफलं मलिनमेवेति तत्पराणां तथात्वेन निर्देशः कृतः । तादृशैस्तैराक्रान्ताः सर्वे प्रदेशा, अत एव तत्तल्लीलादीनां तिरोभावान्न ते साधका इतिभावः । स्वगृहं तु भगवदीयत्वादनुकूलमेव किन्तु भावे वैजात्यमात्रेण तस्य बाधकत्वम् । तावतापि यत्र प्रतिबन्धकत्वं तत्र केवलविषयाविष्टसम्बन्धिदेशसंसर्गेण भावनाशे किमु वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायेनापि देशस्यासाधकत्वं निरूपितम् ।

अब यहाँ कोई यह प्रश्न करे कि, ऐसी परिस्थिति में तो फिर भगवान के लीलास्थलों पर या हरिस्थान में जाकर स्वधर्म का निर्वाह करना चाहिए, तो आचार्यचरण वहाँ भी म्लेच्छ इत्यादि शब्दों से प्रतिबंधकों की बहुलता बता कर इन देशों को भी असाधक बताते हुए भगवान की शरण का ही निरूपण कर रहे हैं ।

जो केवल मलिन, अपवित्र, अशुद्ध पदार्थों की ही इच्छा करते हैं, वे म्लेच्छ हैं । मंत्र - तंत्र के उपासक एवं कर्ममार्गी भी म्लेच्छ हैं । यद्यपि ये कर्ममार्गीय वही कर रहे हैं जो शास्त्र में अनिषिद्ध है एवं शास्त्रोक्त है परंतु अपने खुद के स्वार्थ के लिए कर रहे हैं, भगवत्सुख के लिए नहीं अतः "तीन वेदों में वर्णित कर्मों को करने वाले पुण्य प्राप्त करके स्वर्गसुख को भोगने के पश्चात् पुण्य क्षीण होने पर पुनः मृत्युलोक में जा गिरते हैं (भ.गी. ९/२१)" इस श्लोकानुसार कर्मों का फल तो मलिन ही होता है अतः कर्ममार्गीयों को आचार्यचरण म्लेच्छरूप से निर्देश कर रहे हैं । आचार्यचरण

कह रहे हैं कि, ऐसे म्लेच्छों से सभी स्थान आक्रांत हैं अतएव इन भगवत्स्थलों से भगवान की समस्त लीलाएँ तिरोभूत हो चुकी हैं, जिससे भगवत्स्थल भी अब धर्म के साधक नहीं रह गये हैं, यह भाव है। अपना गृह तो यद्यपि अपने भगवद्-भाव के अनुकूल है परंतु यदि भगवद्विमुख परिवारजनों के संसर्ग से अपना भाव विजातीय हो जाने मात्र से गृह भी भगवद्-भजन में बाधक बन जाता है। अब जहाँ इतने मात्र से गृह भी अपने भगवद्-भाव में प्रतिबंधक बन जा रहा हो, वहाँ केवल सांसारिक विषयों से आविष्ट हुए देश का संसर्ग हो जाने से भावनाश हो जाय, इसमें क्या संदेह है ? इस प्रकार कैमुतिक-न्याय द्वारा भी आचार्याचरणों ने देश की असाधकता बताई है।

किञ्च, न केवलमाक्रान्तिमात्रं किन्तु तद्भूमय एव जाता इत्याहुः पापैकनिलयेष्विति । कर्मणां हिंसाप्रचुरत्वात्तथोक्तम्। एतेन तत्र गमनमात्रेण तत्सम्बन्धात्स्वधर्मनाशो भवतीतिभावः । एवं सति भगवतो मन्त्रोपासनाद्यस्पृष्टत्वेनास्मिञ्छ्लोके मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनानां सङ्गहेणासाधकत्वं निरूपितम् । आदिपदेन विहितभक्त्यादीनामपि तथेत्यर्थः ।

और भी, ये समस्त स्थान केवल म्लेच्छोंसे आक्रांत ही नहीं हो गये हैं परंतु संपूर्णरूप से म्लेच्छ ही हो गये हैं, यह बताने के लिए आचार्यचरणों ने पापैकनिलयेषु कहा है। लोगों के कर्मों में हिंसा की प्रचुरता हो जाने से आपश्री ऐसा कह रहे हैं। इस कारण ऐसे स्थलों पर जाने मात्र से इन म्लेच्छों से संबंध हो जाने से स्वधर्म का नाश हो जाता है, यह भाव है। इन परिस्थितियों में कर्ममार्गों के अंतर्गत भगवान के लिए उपयोग किए जाने वाले मंत्र-उपासना आदि तो अछूते ही रह जाते हैं और हिंसा, स्वार्थ इत्यादि की प्रधानता रहती है, इस कारण इस श्लोक में आचार्यचरण देश की असाधकता के साथ-साथ कममार्गों में कहे गये इन मंत्र-उपासना-वैदिकतांत्रिक दीक्षा - अर्चन इत्यादि को भी असाधक कह रहे हैं। आदि पद से विधिपूर्वक किए जाने वाले भक्तिमार्ग; कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग इत्यादि भी प्रभु-प्राप्ति में असाधक ही हैं, यह ज्ञात होता है।

ननु तत्रापि केचन निवृत्तिपरा भविष्यन्तीति चेत्तत्राहुः सत्पीडेति । निवृत्तिपरत्वेन सद्रूपाणि तत्रत्यानां देहेन्द्रियादीनि तेषां पीडा सत्पीडा, तद्देशसम्बन्धे तानि विषयाविष्टान्येव भवन्तीति तन्निग्रहाशक्यत्वान्निवृत्तिपराणां खेदो जायत इति तद्रूपैव स्वधर्मनाशजनिता पीडा, तया व्यग्राः कथमस्माकं परलोकः सेत्स्यतीति व्यग्रा लोका धर्मशीला येषु । यत्र स्थूलदृष्टीनामपि न धर्मनिर्वाहस्तत्रातिसूक्ष्मेक्षिकाणां तादृशानां भावशैथिल्ये किमु वाच्यम् । तादृशानामग्रेपि स्थातुमशक्तेरितिभावः । तथाचोक्तं 'अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमि'त्यत्र विवरणे 'यथा व्याघ्राग्रे देहाभिमानी'ति फलप्रकरणे । अतस्तद्भावपोषणे प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं शरणमेव भावनीयमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम् । अत ए'वालौकिकमनःसिद्धावि'ति विवेकधैर्याश्रयेप्युक्तम् ॥२॥

परंतु एक शंका यह होती है कि सभी तो ऐसे स्वार्थी नहीं होते, कुछ ऐसे भी तो होते हैं जिन्होंने संसार से निवृत्ति लेकर प्रभुभजन में अपना मन रमा लिया है; तो इसका स्पष्टीकरण आचार्यचरण सत्पीडा इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, चूँकि इन्होंने संसार से निवृत्ति ले ली है इसलिए उनकी सद्रूप देह-इंद्रियों को पीड़ा दी जा रही है, इसे आपश्री सत्पीडा शब्द से कह रहे हैं। ऐसे दुष्ट देश से संबंध होने के कारण सज्जनों के देह-इंद्रिय भी संसारावेश से विषयासक्त हो ही जाते हैं। अतः ऐसी इंद्रियों का निग्रह फिर अशक्य हो जाने से संसार से निवृत्ति ले लेने वालों को मन में खेद होता है। अपने स्वधर्म का नाश हो जाने से ही उन्हें पीड़ा होती है और इससे वे व्यग्र हो जाते हैं कि, अब हमें परलोक की प्राप्ति कैसे होगी ? अतः ऐसे दुष्ट वातावरण में जो धर्मशील लोग व्यग्र हो रहे हैं, इस परिस्थिति में आचार्यचरण कह रहे हैं "कृष्ण ही मेरी गति हैं"। इस प्रकार की परिस्थिति में जहाँ साधारण रूप से धर्म का आचरण करने वाले लोगों का धर्मनिर्वाह नहीं हो पा रहा है, वहाँ धर्म में अतिश्रद्धा रखनेवालों का धर्मनिर्वाह कैसे हो ? और यदि इससे उनका धर्म के प्रति भाव शिथिल हो जाता हो तो इसमें क्या कहना ? ऐसे लोग आगे और अधिक इन दुष्ट स्थलों पर नहीं रह पायेंगे, यह भाव है। यही बात आचार्यचरणों ने श्रीमद्-भागवत के "स्वयं लक्ष्मीजी को भी दुर्लभ ऐसे आपके चरणारविंदों का स्पर्श हमें प्राप्त हुआ अब हम आपके अतिरिक्त किसी और के सामने एक पल भी ठहरने में असमर्थ हो गई हैं (श्री.भा.१०/२९/३६)" इस श्लोक की सुबोधिनी में "जैसे कोई देहाभिमानी सिंह के समक्ष नहीं टिक सकता, वैसे भगवदीय भगवान के अतिरिक्त अन्य स्थल पर नहीं टिक सकते (सु. १०/२६/३६)" इस वाक्य द्वारा कही है। अतः भगवद्-भाव का पोषण करने में प्रतिबंधकों को दूर करने के लिए भगवान की शरणभावना ही करनी चाहिए, सो आचार्यचरण "कृष्ण ही मेरी गति हैं" यह कह रहे हैं। यही बात आपश्री ने वि.धै.आ. में भी "मन को अलौकिक करने के लिए सर्वथा हरि की शरण करनी चाहिए (१३)" इस वाक्य द्वारा कही है ॥२॥

एवं दुःसंसर्गेण देशानामसाधकत्वं निरूप्य तत्र भगवद्भक्ता अपि सन्ति ते समीचीनास्तै सह सङ्गो न बाधक इत्याशङ्क्य द्रव्याणामशुद्ध्या पुष्टस्य तेषामपि सङ्गो बाधक इतीतरमार्गीयाणामसाधकत्वमाहुः गङ्गादीति ।

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादितीर्थवर्या भक्ताः । अयं भावः-'अस्ति गङ्गायां त्रिरूपमि'ति सिद्धान्तमुक्तावल्यां स्फुटीकृतं, तत् त्रिविधत्वमत्रापि ज्ञेयम् । तेन जलरूपाधिभौतिकादिभेदेन प्रवाहभक्तिमार्गीयज्ञानमार्गीयमर्यादाभक्तिमार्गीया भक्ता निरूपितास्तत्र प्रथमं प्रवाहभक्तिमार्गीयाणामसाधकत्वं निरूपयन्ति । यद्यपि गङ्गापदस्यादौ निरूपणाद्गङ्गाया मर्यादा भक्तिमार्गीयभक्तत्वात्तन्मार्गीयभक्तानामेवादौ निरूपणं संभवति तथाप्याधिभौतिकादिक्रमेण परिदृश्यमानप्रवाहजलस्यैव प्रथमनिरूपणादत्राप्यादौ प्रवाहभक्तिमार्गीया एव ज्ञेयाः । अग्रिमाणामुत्तरश्लोकेषु निरूपणम् ।

इस प्रकार आचार्यचरणों ने दुःसंसर्ग द्वारा देश की असाधकता का निरूपण किया। अब यदि किसी को यह प्रश्न होता हो कि, भले ही देश म्लेच्छों से आक्रांत हो गये हों एवं धर्म का नाश हो गया हो परंतु यहाँ भगवद्-भक्त भी तो होते ही हैं, और वे भले भी होते हैं। ऐसे भगवद्-भक्तों का संग तो बाधक नहीं होगा न ? तो अब आचार्यचरण आगे के श्लोक में यह बता रहे हैं कि द्रव्य की अशुद्धि में रचे-पचे ऐसे भगवद्-भक्तों का संग भी बाधक है। अतः अन्यमार्गीयों को असाधक कहते हुए आचार्यचरण गंगादि इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

गंगादितीर्थवर्य शब्द से आचार्यचरणों का तात्पर्य है - भक्तजन। क्योंकि श्री. भा. में तीर्थों को भक्त कहा गया है। यहाँ भाव यह है कि सिद्धांत मुक्तावली की विवृत्ति में प्रभुचरणों ने "गंगा के आधिदैविक - आध्यात्मिक-आधिभौतिक यों तीन रूप हैं (५)" इस प्रकार से कहा है, इसी प्रकार से गंगा के तीन रूप यहाँ भी समझ लेने चाहिए। इसलिए जलरूप-आधिभौतिक, तीर्थरूप-आध्यात्मिक एवं मूर्तिमती गंगा - आधिदैविक यों तीन प्रकार के भेद से गंगा के उदाहरण द्वारा आधिभौतिक-प्रवाहभक्तिमार्गीय भक्त, आध्यात्मिक-ज्ञानमार्गीय भक्त एवं आधिदैविक-मर्यादाभक्तिमार्गीय यों तीन प्रकार के भक्त आचार्यचरणों ने यहाँ निरूपित किए हैं। अब यहाँ आचार्यचरण सर्वप्रथम प्रवाहभक्तिमार्गीय भक्तजनों की असाधकता का निरूपण कर रहे हैं। यद्यपि आचार्यचरणों ने यहाँ इस श्लोक में सर्वप्रथम 'गंगा' पद का प्रयोग किया है अतः मूर्तिमतीगंगा = आधिदैविक अर्थात् मर्यादामार्गीय भक्त का निरूपण ही सबसे प्रथम मुझे भी करना चाहिए और यों भी गंगा भी मर्यादामार्गीय भक्त ही है; फिर भी आधिभौतिक-आध्यात्मिक-आधिदैविक यों क्रम से चलें, तो सबसे पहले तो आँखों के सामने दिखाई देने वाले जल-प्रवाह का ही आपश्री ने निरूपण किया है अतः सर्वप्रथम प्रवाह भक्तिमार्गीयों के बारे में ही कहा गया है, यह जान लेना चाहिए। कर्ममार्गीय भक्त एवं मर्यादामार्गीय भक्तों का निरूपण आगे के दो श्लोकों में आचार्यचरणों ने किया है।

तथाच पदसम्बन्धः, गङ्गा देवी आदिर्येषां तानि गङ्गादीनि, तस्या एवाधिदैविकादिरूपाणि, तद्रूपा एव 'तीर्थभूता'-आदिसाधकवचनाद्भक्ताः, परन्तु दृश्यमानजलादिरूपाक्रमेण प्रवाहमार्गीया एव । कर्ममार्गीयापेक्षयोत्तमत्वज्ञापनाय 'वर्य'पदम् । तादृशेष्वपि दुष्टैरेव स्वरूपापेक्षया तद्दोषैरित्यर्थः । तादृशैर्धर्मव्रतेष्वाच्छादितेषु सत्सु, धर्मा एव तेषां धर्मिस्वरूपज्ञाने आवरका जाताः ।

अब इस श्लोक का पदसंबंध इस प्रकार से है - गंगादेवी तीन स्वरूपों में सर्वप्रथम हैं, उसे आपश्री ने गंगादि शब्द से कहा है। गंगा के तीन स्वरूप अर्थात् आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक। वही त्रिप्रकारक स्वरूप वाली गंगा को "हे विदुरजी ! आप जैसे भगवान के भक्त स्वयं तीर्थरूप होते हैं। (श्री.भा.१/१३/१०)" इत्यादि साधकवचनों द्वारा भक्तजन समझना चाहिए। परंतु प्रथमतया आँखों को गंगा जल का प्रवाह ही दिखाई देता है अतः सर्वप्रथम यहाँ प्रवाहमार्गीय भक्त की ही चर्चा आयी है। कर्ममार्गीयों की तुलना में तो प्रवाहमार्गीय ही श्रेष्ठ हैं अतः आपश्री उन्हें 'वर्य' कह रहे हैं। ऐसे श्रेष्ठ भक्त भी दोषों से घिर चुके हैं। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के मर्यादामार्गीय तंत्रमंत्र, वैदिकशास्त्रों में कहे गये विधिविधानों वाले धर्मों से वे घिर चुके हैं और यही मर्यादामार्गीय धर्मों ने उनके धर्मिस्वरूप के ज्ञान को अर्थात् प्रमेयस्वरूप श्रीकृष्ण के ज्ञान को ढँक लिया है।

ननु भगवद्धर्मनिष्ठेषु कथं तद्धर्माणामावरकत्वं तत्राहुः-तिरोहिताधिदैवेष्विति । तिरोहितमधिदैवस्वरूपं येषु । यथा जलप्रवाहे मूर्तिमत्या गङ्गायास्तिरोधानं तथा प्रवाहमार्गेपि साक्षात्पुरुषोत्तमस्वरूपतिरोधानम् । विभूतिरूपस्यैव तेषां भजनं तद्रूपमेव फलं, न तत्राधिदैविकभजनं फलं चेति द्रव्याशुद्ध्या पुष्टिमार्गीयाणां तत्सङ्गो न साधक इति शरणगतिमेवोपदिशन्ति कृष्ण एवेति । अत एवा'द्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति सा सेवानाधिदैविकी'त्युक्तं सेवाफले । प्रकृते तु आधिदैविकस्वरूपस्यैव सर्वस्य साधकत्वादाधिदैविकरसात्मकसदानन्दस्वरूपज्ञापककृष्णपदमेवोक्तं सर्वत्र शरणागतौ । एतेन तद्व्यतिरिक्तस्वरूपस्य शरणमपि न साधकमित्यपि सूच्यत इति सुष्ठूक्तम् ॥३॥

परंतु यहाँ कोई यदि यह शंका करे कि, भगवद्-धर्म में निष्ठ जीव के लिए स्वयं भगवद्-धर्म कैसे बाधक हो सकते हैं ? तो समझिए कि जिस प्रकार गंगा के जलप्रवाह में मूर्तिमयी गंगा का तिरोधान हो गया है, वैसे प्रवाहमार्ग में भी साक्षात् पुरुषोत्तम-स्वरूप का तिरोधान हो गया है। ये भगवद्-भक्त भगवान की विभूतियों का ही भजन करते हैं इसलिए उन्हें फल भी वैसा ही प्राप्त होता है, न उनका भजन आधिदैविक है न ही फल।

इसलिए भगवद्-उपयोगी साधन-साम्रगी की अशुद्धि के कारण पुष्टिमार्गीयों के लिए इन भगवद्-भक्तों का संग साधक नहीं है अतः आचार्यचरण शरणागति का उपदेश कर रहे हैं। अतएव सेवाफल-विवरण में आपश्री ने "यदि उत्तमफल (अर्थात् भगवत्प्राप्तिरूप फल) प्राप्त नहीं होता तो भगवान फल नहीं दे रहे हैं, यह समझना चाहिए और वह सेवा भी आधिदैविकी नहीं है" यह कहा है। और वर्तमान समय में तो भगवान का आधिदैविक स्वरूप ही सभी वस्तुओं का साधक है अतः आचार्यचरणों ने शरणागति करने के लिए भगवान के आधिदैविक रसात्मक-सदानंदस्वरूप को बताने वाला 'कृष्ण' पद ही सर्वत्र कहा है। इससे सिद्ध होता है कि भगवान-श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य दूसरे स्वरूप की शरणागति भी साधक नहीं है अतः आपश्री ने जो कहा वह उचित ही कहा है ॥३॥

ननु ज्ञानिनो निर्दोषाः समबुद्धय एकान्तस्थितयः तत्सङ्गः साधको भविष्यतीति तेषामपि मायामोहितत्वात्साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धाभावेनासाधकत्वं निरूपयन्तः कर्तृणां तन्निरूपयन्ति-अहङ्कारविमूढेष्विति ।

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

ते तु 'अहं ब्रह्मास्मी'त्यंङ्कारेण विशेषेण मूढा, नहि तत्र साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धः, किन्त्वक्षरमात्रसम्बन्धेन तन्मात्रस्यैव परमफलत्वं मन्यन्त इति सेव्यसेवकभावस्यापि गतत्वाद्विशेषेण मूढास्तादृशेषु सत्सु । ननु अविद्यानिवृत्तौ अनुभवरूपे विज्ञाने सम्पन्ने ब्रह्मणि लयो भवतीति कथं तेषां मोहः संभवतीति तत्राहुः पापानुवर्तिष्विति । 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन' इतिवाक्यात्पुष्टिमार्गीयाणां फले प्रतिबन्धकत्वात्साक्षात्पुरुषोत्तमज्ञानाभावरूपस्य तादृशज्ञानस्य पापत्वात्तदनुवर्तिनां पापानुवर्तित्वमेवेति तथोक्तम् ।

अब यहाँ कोई पूर्वपक्षी यह शंका करते हैं कि, भगवद्-भक्तों की बात छोड़ दीजिए परंतु जो ज्ञानीजन होते हैं वे तो निर्दोष होते हैं, सभी में समान बुद्धि रखनेवाले और एकांतवासी होते हैं; उनका संग धर्मसिद्धि में साधक हो सकता है। तो इस शंका के लिए आचार्यचरण अग्रिम श्लोक द्वारा यह बता रहे हैं कि ज्ञानी भी माया से मोहित हैं और इसी कारण उनका साक्षात् पुरुषोत्तम से संबंध न होने से उनका संग भी साधक नहीं हो सकता - इस प्रकार कर्ता की असाधकता का निरूपण आचार्यचरण <u>अहंकारविमूढेषु</u> इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आचार्यचरण कह रहे हैं कि ये ज्ञानी "मैं ब्रह्म हूँ" - इस प्रकार के अहंकार द्वारा विशेषरूप से मूढ़ हो गये हैं। इनका कोई साक्षात् पुरुषोत्तम से तो संबंध होता नहीं किंतु केवल अक्षरब्रह्म से संबंध होने को ही ये परमफल मान लेते हैं, जबकि परमफल तो पूर्ण-पुरुषोत्तम से संबंध होना है। इससे इनका भगवान पूर्ण-पुरुषोत्तम के प्रति सेव्यसेवक भाव भी न रहा, सो ये विशेषरूप से मूढ़ हैं। परंतु शंका यह होती है कि ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होने पर और तब आत्मस्वरूप का ज्ञान होने पर तो ज्ञानी सीधे ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, उन्हें मोह हो जाना कैसे संभव है ? आपश्री का तात्पर्य यह है कि "जो भगवान के शरणागत होते हैं, वे किसी से भी नहीं डरते। उन्हें स्वर्ग, मोक्ष, नर्क सर्वत्र केवल भगवान के ही दर्शन होते हैं (श्री.भा. ६/१७/२८)" इस वाक्यानुसार भगवत्प्राप्ति के ज्ञान से विपरीत सभी प्रकार का ज्ञान पुष्टिमार्गीयों के लिए तो फलप्राप्ति में प्रतिबंधक है क्योंकि ऐसा ज्ञान जिसमें साक्षात् पुरुषोत्तम का ज्ञान नहीं है, वह पापरूप है और ऐसे ज्ञान के पीछे भागने वाले पापानुवर्ती हैं, इस कारण आचार्यचरण यह बात कह रहे हैं।

किञ्च, तादृशस्य पुनरक्षरलयानन्तरं पुष्टिफलसंभावनैव नेत्यपिज्ञापनाय पापरूपत्वं विशेषेण मूढत्वं चोक्तम् । ननु तथाप्यानन्दानुभवो भविष्यतीति तत्राहुः-लाभपूजार्थयत्नेष्विति । तन्मार्गे न साधनदशायां न च फलदशायां तदनुभवः, यतो लाभः आत्मलाभः पूजा तत्साधनार्थं मनस्येव कल्पितमूर्तेरुपासनारूपा, तदर्थमेव यत्नो येषां तादृशेषु । नह्यात्मन ऐक्ये सर्वेन्द्रियाणां सार्थकता, नाप्यानन्दानुभवज्ञानं च, यथा जले निमग्नस्य जलपानम् । बहिरेव पाने तदनुभव इति न तेषामानन्दानुभवोपि । प्रकृते तु पुष्टभावापन्नस्य 'भगवता सहे'त्यादिरूपभावनायामपि सर्वेन्द्रियाणां साक्षात्स्वरूपानुभवो, बहिःप्राकट्ये तदनुभवे किं वाच्यमितिभावः । तदुक्तं निरोधवर्णने 'सङ्कल्पादपि तत्र हि' 'दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टमि'त्यादिना । एवं सति पुष्टिमार्गीयस्य न तत्सङ्गः साधक इति शरणमेव निर्दिशन्ति कृष्ण एव गतिः ॥४॥

और भी, यह समझिए कि ऐसे ज्ञानियों को एक बार अक्षरब्रह्म में लय हो जाने के बाद पुष्टिफल की तो संभावना ही नहीं रह जाती है, यह बताने के लिए भी आचार्यचरणों ने इन्हें पापरूप एवं विशेषरूप से मूढ़ कहा है। परंतु संदेह यह होता है कि, अक्षरब्रह्म में भी लीन हो जाने से उन्हें यत्किंचित् आनंद-अनुभव तो होगा ही ? तो इसका स्पष्टीकरण आपश्री <u>लाभपूजार्थयत्नेषु</u> इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, ज्ञानमार्ग में न तो साधनदशा में और न ही फलदशा में ही भगवद्-आनंद का अनुभव हो सकता है क्योंकि ज्ञानमार्ग का अनुकरण करने वाले

लोग खुद के लाभ के लिए ऐसा कर रहे हैं एवं अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए अपने मन में ही किसी देवतामूर्ति की कल्पना करके उपासना कर रहे हैं। इस परिस्थिति में कृष्ण ही मेरी गति हैं, यह अर्थ है। ब्रह्म में खुद का ऐक्य हो जाने पर अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाने से समस्त इंद्रियों की सार्थकता नहीं होती है (क्योंकि इस देह की और इंद्रियों की सार्थकता तो तब है जब इनका साक्षात् भगवत्सेवा में उपयोग हो जाय, ब्रह्म में लीन हो जाने पर ये कैसे संभव है, यह अर्थ है) और न ही भगवद्-आनंद का अनुभव होता है, जैसे पूरे के पूरे जल में डूबे व्यक्ति को जल पीने का क्या स्वाद आ सकता है, उसे जल पीने का आनंद तो जल के बाहर ही आयेगा, उसी प्रकार ज्ञानियों की भाँति अक्षरब्रह्म में लीन हो जाने पर भगवद्-आनंद का अनुभव नहीं हो सकता। यहाँ तो पुष्टिभाव से ओतप्रोत हुए जीव को "भगवान के संग संलाप, उनके दर्शन एवं उनसे मिलना आदि परमफल हैं (सु.१०/१८/७ ; का. - ८) इत्यादि वाक्यानुसार केवल ऐसी भावना करने से भी समस्त इंद्रियों को भगवान के साक्षात्-स्वरूप का अनुभव होता है, तो जब भगवान बाहर प्रकट होने पर उनके आनंद का अनुभव करने की तो बात ही क्या करनी ? यह भाव है। यही बात निरोधलक्षणग्रंथ में "संकल्प मात्र से भी भगवान के दर्शन, स्पर्श स्पष्टरूप से हो जाते हैं (१७)" इस वाक्य द्वारा कही गई है। इससे सिद्ध होता है कि पुष्टिमार्गीय के लिए ज्ञानियों का संग भी साधक नहीं है अतः आचार्यचरण "कृष्ण ही मेरी गति हैं" इस वाक्य से भगवान की शरण ही निर्देशित कर रहे हैं ॥४॥

ननु ज्ञानिष्वपि केचन भक्ता भवन्ति, तत्रापि प्रेमयुक्ताः, ते पुनर्द्विविधाः केचन नामनिष्ठाः केचन सेवैकनिष्ठास्तेषां सङ्गः साधको भविष्यति, तथाचोक्तं 'सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः' 'सतां प्रसङ्गा'दित्यादिनेत्याशङ्क्य तयोरपि साधकत्वाभावात्प्रथमं नामनिष्ठानामसाधकत्वं वदन्तो मन्त्राणां तन्निरूपयान्ति अपरिज्ञानेति।

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

यद्यपि 'एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत'मित्यत्र 'मन्त्रोप्येकस्तस्य नामानि यानी'-त्युक्त्या भक्तानां नामैव परो मन्त्रः तत्कीर्तनपराः समीचीना एव तेषां तत्कीर्तने तदानन्दानुभवजनिताश्रुपुलकादयोपि भवन्ति तथापि तेषां मर्यादामार्गीयत्वात्स्वरूपतोऽपरिज्ञानमेवेति तेषु मन्त्रेषु नामरूपेष्वपरिज्ञानेन नष्टेषु अलक्षितेषु सत्सु । यादृशः कृष्णपदस्य रसात्मकभावरूपोर्थस्तदपरिज्ञानादलक्षितत्वमुक्तम् ।

परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि, ज्ञानियों में भी कुछ ऐसे होते हैं जो भक्त होते हैं और भगवान से प्रेम करने वाले होते हैं। वे भी दो प्रकार के होते हैं - कुछ भगवद्-नाम में निष्ठा रखनेवाले, कुछ भगवत्सेवा में निष्ठा रखनेवाले; इनका संग साधक हो जायेगा। क्योंकि "ऐसे सर्वसंगत्यागी महापुरुष ही साधु होते हैं, तुम्हें उन्हीं के संग की इच्छा करनी चाहिए। ऐसे महापुरुषों का संग करने से शीघ्र ही श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का क्रमशः विकास होगा (श्री.भा. ३/२५/२४, २५)" इत्यादि वाक्यों द्वारा भगवान ने ही ऐसे भक्तों का संग करना कहा है। तो आचार्यचरण कह रहे हैं कि भगवद्-नाम में एवं भगवत्सेवा दोनों में निष्ठा रखने वाले ज्ञानी साधक नहीं हो सकते, इनमें सर्वप्रथम नामनिष्ठा वालों की असाधकता कहते हुए मंत्रों की असाधकता अपरिज्ञान इत्यादि शब्दों से निरूपित कर रहे हैं।

आपश्री का तात्पर्य यह है कि, यद्यपि "केवल देवकीपुत्र श्रीकृष्ण द्वारा गायी गई भगवद् - गीता ही एकमात्र शास्त्र है एवं केवल भगवान-श्रीकृष्ण का नाम ही महामंत्र है (शा.प्र.४)" इत्यादि श्लोकानुसार भगवद्-भक्तों के लिए भगवान का नाम ही महामंत्र है एवं भगवान के कीर्तन में रत रहनेवाले तो सज्जन ही होते हैं एवं कीर्तन करते करते भगवद्-आनंद से उनके अश्रु भी बहने लगते हैं और इन्हें भगवद्-रस का रोमांच भी होता हैं परंतु ये सभी मर्यादामार्गीय हैं और इसी कारण इन्हें पुष्टिपुरुषोत्तम के स्वरूप का पूर्णरूपेण ज्ञान नहीं है। अतएव भगवान के नामरूप मंत्रों का भी उन्हें परिपूर्ण ज्ञान न होने से मंत्र भी नष्ट हो गये हैं। क्योंकि 'कृष्ण' पद का जैसा रसात्मक भावरूप अर्थ है, उसका इन्हें परिज्ञान न होने के कारण आचार्यचरण ऐसा कह रहे हैं।

ननु कथं सोर्थो न लक्षितस्तत्राहुः- अव्रतयोगिष्विति। व्रतं अनन्यत्वं पतिव्रतावत्पतिविषयकपरमानुरागजनितरसात्मकभावेन तदेकनिष्ठारूपं, तदभावतोऽव्रताः पूर्वोक्ताः, तादृशेषु योगः संयोगो येषामिति तथात्वमुक्तम् । ननु तेष्वपि नामधर्माणां दृश्यमानत्वात्कथमेवमुच्यते तत्राहुःतिरोहितेति। तिरोहितः अर्थो रसात्मकस्वरूपेण यः प्रकटः स यत्र तादृशेषु सत्सु। अत एव मुकुन्द ! नारायण ! यज्ञेश्वर ! ज्ञाननिधे ! वासुदेवेत्यादीनि मोक्षेच्छुभिरुच्यन्ते, नहि पुष्टिमार्गीयैरिव 'व्रजजनार्तिहन् वीरयोषिताम्' 'सुरतनाथे'त्यादीनि रसात्मकानि तानि। तेषां मर्यादामार्गानुसारेणैव तदनुभवो भवति न पुष्ट्यनुसारेणेति न तत्सङ्गस्तस्य साधक इति शरणमेवोपदिशन्ति कृष्ण एवेति ॥ ५ ॥

अब ये भावरूप अर्थ का ज्ञान उन्हें क्यों नहीं हैं, यह आचार्यचरण अव्रतयोगिषु इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। व्रत का अर्थ होता है अनन्यता; एक पतिव्रता स्त्री की भाँति केवल अपने पति में ही परम अनुराग से उत्पन्न हुए रसात्मक भाव से केवल अपने पति में निष्ठा रखने जैसा आचरण व्रत कहलाता है। जिन्हें ऐसी अनन्यता अपने भगवान में नहीं है, उन्हें आचार्यचरण 'अव्रत' कह रहे हैं। और ऐसे अव्रतों से जिनका संयोग होता हो, वे 'अव्रतयोगी' हैं। ऐसी अनन्यता अपने भगवान में न होने के कारण इन्हें भगवद्-स्वरूप के भावरूप-अर्थ का ज्ञान नहीं है, यह अर्थ है। परंतु संदेह यह होता है कि, ये मर्यादामार्गीय भी तो भगवद्-नाम का गुणगान करते ही हैं; फिर उन्हें ज्ञान नहीं है, यह क्यों कहा जा रहा है ? यदि ऐसी शंका हो आचार्यचरण तिरोहित इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, जो भगवान रसात्मक स्वरूप से प्रकट हुए थे, उनका वह स्वरूप तिरोहित हो गया है। इसी कारण मोक्ष की इच्छा रखने वाले भक्त भगवान को 'मुकुंद', 'नारायण', 'यज्ञेश्वर', 'ज्ञाननिधि' 'वासुदेव' इत्यादि नामों से पुकारते हैं, पुष्टिमार्गीयों की भाँति "हे स्त्रियों में वीरशिरोमणि ! तुम्हारे मंद मुस्कान की एक रेखा ही समस्त मद को चूर करने के लिए पर्याप्त है (श्री.भा. १०/३१/६)", "हे हमारे प्रेमपूर्ण हृदय के स्वामी ! हम तुम्हारी बिना मोल की दासी हैं (श्री.भा. १०/३१/२)" इस प्रकार से भगवान के रसात्मक नाम उनके मुँह से नहीं निकलते। ऐसे अव्रतयोगियों को मर्यादामार्ग के अनुसार ही भगवान का अनुभव होता है, पुष्टिभाव के अनुसार नहीं अतः इनका संग पुष्टिमार्गीयों के लिए साधक नहीं हो सकता। इसलिए आचार्यचरण कृष्ण एव इत्यादि शब्दों से शरणागति का ही उपदेश कर रहे हैं ॥५॥

ननु ये सेवापरास्ते तत्सर्वविनियोगेनानन्यव्रतेन सेवां कुर्वन्तीति न तेषामव्रतत्वमिति साधका भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तेषामसाधकत्वं वदन्तः कर्मणां तदाहुः नानावादेति।

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

यद्यपि ते पूर्वोक्तापेक्षया सर्वोत्तमास्तथापि तेषां मर्यादामिश्रत्वात्सर्वकर्मव्रतादिषु सर्वं पुष्टिमार्गीयं यावत्प्रमेयं कर्म तन्मार्गीया सेवा 'भगवता सहे'त्यादिरूपा व्रतं लोकवेदनैरपेक्ष्येण केवलस्वरूपमात्रैकनिष्ठत्वं, आदिपदेन तन्मार्गीयश्रवणकीर्तनादीनि ज्ञेयानि, तेषु नानावादविनष्टेषु सत्सु। नानावादा अनेकविधप्रमाणवचनानि मर्यादामार्गीयाणि आवरणरूपाणि, तैः कृत्वा विशेषेण नष्टा अलक्षितास्तादृशेषु सत्सु। तेषां मर्यादामिश्रत्वेन विहितैकदृष्टित्वात्, न तज्ज्ञानमितिभावः। अत एव 'मर्यादया गुणज्ञास्ते' इति निरूपितं पुष्टिप्रवाहमर्यादायाम्।

अब यहाँ शंका यह होती है कि, जो भगवत्सेवा-परायण हैं, वे तो अपना सर्वस्व भगवान में विनियोग करने के द्वारा अनन्य-व्रत होकर ही भगवत्सेवा कर रहे हैं, वे तो अव्रतयोगी नहीं हैं, क्या उनका संग हमारे लिए साधक नहीं होगा ? तो ऐसे लोगों को भी असाधक बताते हुए आचार्यचरण उनके भी कर्मों को नानावाद इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं।

यद्यपि भगवत्सेवापरायण एवं अपना सर्वस्व भगवान में विनियोग कर देने वाले पहले कहे गये ज्ञानियों की तुलना में तो सर्वोत्तम हैं, परंतु उनके समस्त कर्म-व्रत आदि मर्यादा से मिश्रित हैं और पुष्टिमार्गीय समस्त वस्तु तो प्रमेय है और पुष्टिमार्गीय कर्म इस मार्ग में कही गई भगवत्सेवा है, जैसी "भगवान के संग अंतरंग वार्तालाप, उनके दर्शन एवं उनसे मिलना आदि (सु.बो. १०/१८/७ का. ८)" इस वाक्य में कही गई है। और पुष्टिमार्गीय व्रत का अर्थ लोक-वेद की अपेक्षा न रखते हुए केवल अपने भगवद्-स्वरूप में एकनिष्ठ होकर रहना है। आदि पद से पुष्टिमार्गीय श्रवण-कीर्तन इत्यादि प्रकार भी समझ लेने चाहिए ; इस प्रकार पुष्टिमार्गीय पद्धति से भगवत्सेवा करने में नाना प्रकार के वाद उपस्थित हो गये हैं। नानावाद का अर्थ है - अनेकविध मर्यादामार्गीय प्रमाणवचनों ने इन भगवत्सेवा परायणों को विशेषरूप से नष्ट कर दिया है अर्थात् मर्यादा पद्धति के मिश्रित हो जाने से ये भगवत्सेवा को भी विधिपूर्वक एवं शास्त्रोक्त पद्धति से करने लगे हैं, इन्हें पुष्टिपद्धति का ज्ञान नहीं है, यह भाव है। अतएव आचार्यचरणों ने पु.प्र. म.भै. ग्रंथ में "पुष्टिजीव शुद्ध एवं मिश्र भेद से दो प्रकार के होते हैं। जो पुष्टि में मर्यादा से मिश्रित जीव होते हैं, वे केवल भगवद्-गुणों को जानने वाले होते हैं परंतु शुद्ध पुष्टिजीव मिलने तो अति दुर्लभ होते हैं (१५,१६)" इस प्रकार से कहा है।

ननु तेपि भक्तिमार्गनिष्ठया सेवादिकं कुर्वन्तीति कथं तदज्ञानं तत्राहुः- पाषण्डैकप्रयत्नेष्विति। पाषण्डो नामोपाधिस्तद्रूप एवैकः प्रयत्नस्तदनुकूलसाधनरूपो येषां तादृशेषु । तेषामपि मिश्रत्वेन पुरुषोत्तमसायुज्यैकफलत्वात्तत्प्रयत्नादीनां पुष्टापेक्षयोपाधिरूपत्वमेवेति तथा निरूपितम्। अत एव मध्यमफलत्वं सायुज्यस्य निरूपितं सेवाफले 'सेवायां फलत्रयमि'त्यनेन। किञ्च, सायुज्यस्य मर्यादाभक्तिमार्गैकफलत्वं तत्त्वार्थदीपे निरूपितं 'सर्वत्यागेनन्यभावे' इत्यनेन। पुष्टिफलं तु केवलं तादृशानुग्रहभरेण सर्वात्मना निरुपधिभावैकसाध्यमिति तादृशस्यापि सङ्गो न साधक इति शरणमेव निरूपयन्ति

कृष्ण एव गतिर्ममेति ॥ ६ ॥

ठीक है, भले ही वे मर्यादा से मिश्रित हों तथापि भक्तिमार्ग में निष्ठा रखते हुए भगवत्सेवा, कीर्तन, सत्संग इत्यादि तो करते ही हैं, फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि उन्हें पुष्टिमार्ग का ज्ञान नहीं हैं ? यदि ऐसी शंका होती हो तो आचार्यचरण पाषंडैकप्रयत्नेषु इत्यादि शब्दों से उत्तर दे रहे हैं । पाषंड का अर्थ होता है - धोखा या छद्मवेश धारण करना, यही सब करने का जो प्रयत्न कर रहे हैं या पाखंड के अनुरूप साधन करने का प्रयत्न कर रहे हैं, उन्हें आपश्री 'पाषंडैकप्रयत्नः' कह रहे हैं । ऐसे भक्त भी मर्यादामिश्रित हैं, शुद्ध नहीं हैं क्योंकि वे केवल पुरुषोत्तम से सायुज्यफल प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं । अतः पुष्टिमार्ग की तुलना में तो स्वार्थी ही सिद्ध हुए, इस कारण आचार्यचरण इन्हें पाखंडी कह रहे हैं । यही कारण है कि सेवाफलग्रंथ के विवरण में आचार्यचरणों ने सायुज्यमुक्ति को ''भगवत्सेवा करने में तीन फल प्राप्त होते हैं, इसमें दूसरा फल सायुज्यमुक्ति मर्यादापुष्टि का फल है'' इस प्रकार से मध्यमफल कहा है । और भी, आचार्यचरणों ने तत्वार्थदीपनिबंध में ''देह-वाणी द्वारा बाह्यरूप से एवं मन द्वारा आंतरिक रूप से सांसारिक विषयों का त्याग करके केवल कृष्ण में ही मन लगाना चाहिए । अन्य देवताओं को श्रीकृष्ण की विभूति जानकर सम्मान करना चाहिए । इस प्रकार देहपात होने तक करने से सायुज्यफल शीघ्र प्राप्त होता है (सर्व./२१८)'' इस वाक्य द्वारा सायुज्यफल को केवल मर्यादा-भक्ति का फल बताया है । पुष्टिफल तो इस श्लोक में कहे गये प्रकार से भगवत्कृपा द्वारा केवल स्वार्थरहित भाव को साधने से प्राप्त होता है अतः मर्यादामिश्र पुष्टिभक्त का संग भी साधक नहीं है, इस कारण आचार्यचरण कृष्ण एव इत्यादि शब्दों से केवल श्रीकृष्ण की शरणागति का ही निरूपण कर रहे हैं ॥६॥

नन्वेवं सकलमार्गीयसाधनफलानां बाधकत्वेन पुरुषार्थरूपत्वाभावात्पुष्टिमार्गीयस्य के पुरुषार्थाः? कीदृशया वा कथं वा सिद्धा भविष्यन्तीति प्रश्ने तादृशस्य भगवानेवं चतुर्विधपुरुषार्थरूपः, तत्सिद्धौ शरणमेव साधनं नान्यदिति भगवतस्त-द्रूपनिरूपणपूर्वकं चतुर्भिः श्लोकैः शरणं निरूपयन्ति । तत्र प्रथमं धर्मरूपत्वेन निरूपयन्ति--अजामिलादिदोषाणामिति ।

अजामिलादिदोषाणां नाशकोनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोर्थो हरिरेव हि । कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेत् ध्रुवमि'त्यत्रोक्ताः पुरुषार्था मर्यादामार्गीयेभ्यो भिन्ना उपाधिरहिता इति । तत्र हरेर्दास्यं धर्म उक्तः । तच्च 'पुरुषभूषण देहि दास्यमि'त्यत्र स्वरूपात्मकत्वेन निरूपितमिति भगवतो धर्मरूपत्वं सिद्धम् ।

परंतु प्रश्न यह होता है कि, इस प्रकार से तो समस्त मार्गों के साधन एवं फल बाधक सिद्ध हो गये और किसी प्रकार का पुरुषार्थ भी नहीं बचा ? अब पुष्टिमार्गीय के लिए कौन से पुरुषार्थ हैं ? कैसे हैं अथवा तो किस प्रकार की भक्ति द्वारा सिद्ध होंगे ? यह प्रश्न होने पर अग्रिम श्लोक द्वारा आचार्यचरण यह बता रहे हैं कि ऐसे शुद्ध-पुष्टिमार्गीय जीव के लिए चतुर्विध-पुरुषार्थरूप स्वयं भगवान-श्रीकृष्ण ही हैं, इन पुरुषार्थों को सिद्ध करने का एकमात्र साधन उनकी शरणागति ही है, अन्य कुछ भी नहीं । अतः आपश्री आगे के चार श्लोकों द्वारा शरणागति का निरूपण कर रहे हैं । इनमें सर्वप्रथम अजामिलादिदोषाणां इत्यादि शब्दों से भगवान का धर्मरूप निरूपित कर रहे हैं ।

आचार्यचरणों की वृत्रासुर चतुःश्लोकी के चौथे श्लोक की कारिका में कहे ''पुष्टिमार्ग में हरि का दास्य धर्म है, 'अर्थ' भी हरि है, उनको देखने की लालसा ही 'काम' है और अगर हम इस प्रकार से हरि के हैं, तो हमारा मोक्ष निश्चित् है'' इस वाक्य के अनुसार पुष्टिमार्गीयों के पुरुषार्थ मर्यादामार्गीयों से भिन्न है एवं स्वार्थरहित हैं । इस श्लोक में हरि का दास्य करना 'धर्म' कहा गया है । यही बात ''हे पुरुषभूषण ! भगवान ! हम तुमसे मिलने को तड़प रही हैं । तुम हमें अपनी दासी के रूप में स्वीकार कर लो (श्री. भा. १०/२९/३८)'' इस श्लोक में निरूपित की गई है अतः भगवान ही धर्मरूप सिद्ध होते हैं ।

एवं सति धर्मेण यथा दोषनिवृत्तिर्निर्दोषतासिद्धिश्च भवति तथा भगवान् स्वरूपेणैव दोषनिवर्तक इष्टप्रापकोपि भवतीति धर्मनिरूपणपूर्वकं शरणं निरूपयन्ति । तथाहि-अजामिलादयः प्रबलदोषदुष्टास्तद्रूपा अत्र सकलेन्द्रियसङ्घातास्तेषां दोषाणां नाशकः स्वरूपेणैव न साधनैः । अयं भावः, पुष्टिमार्गीयस्य स्नेहोत्पत्त्यनन्तरं स्वव्यसनतः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणायां 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्तप्रकारकभावनायामन्तर्लीलासहितसाक्षात्स्वरूपप्राकट्ये सति या सेवोत्तमपुष्टिरूपा तत्रेन्द्रियाणां प्राकृतपदार्थसंसर्गदर्शनस्मरणादिना यः प्रतिबन्धः सोत्र दोषस्तन्नाशकः । यथाऽजामिलस्य नाममात्रेण दोषा दूरीकृतास्तथा प्रकृते तादृशस्य मिथो गुणगानलक्षणनामात्मकलीलया तत्तदिन्द्रियाणां दोषं नाशयतीति तथोक्तम् । अनेन दोषनिवृत्तिर्धर्मकार्यमुक्तम् ।

ऐसे में यह समझना चाहिए कि जिस प्रकार धर्म का आचरण करने से दोषों की निवृत्ति एवं पवित्रता प्राप्त होती है, उसी प्रकार भगवान अपने

स्वरूप द्वारा ही दोष-निवारक बन जाते हैं एवं इष्ट को प्राप्त करा देते हैं अतः इस श्लोक में भगवान के धर्म का निरूपण करते हुए आचार्यचरण उनकी शरण का ही निरूपण कर रहे हैं। वह इस प्रकार कि, जिस प्रकार अजामिल जैसे जीव प्रबल दोषों से दुष्ट थे, वैसे ही यहाँ जीव के समस्त देह-इंद्रिय भी वैसे ही प्रबलदोषों से दुष्ट हैं, उन जीवों के दोषों का नाश प्रभु अपने स्वरूप द्वारा ही करते हैं, जीव के द्वारा किए गये साधनों से नहीं। यहाँ भाव यह है कि - पुष्टिमार्गीय को भगवान के प्रति स्नेह उत्पन्न होने के पश्चात् अपने व्यसन के द्वारा भक्तिरूप स्वतंत्र पुरुषार्थ करने से "भगवान के संग वार्तालाप, उनके दर्शन, उनसे मिलना आदि (सु. १०/१८/७; कारिका - ८) इत्यादि वाक्यानुसार की गई भावना में अन्तर्लीला सहित साक्षात् भगवद्-स्वरूप के प्रकट होने पर जो पुष्टिरूपा उत्तमसेवा सिद्ध होती है, उसमें देह-इंद्रियों को प्राकृतपदार्थों के संसर्ग-दर्शन-स्मरण आदि से जो प्रतिबंध होता है, वह दोष है और प्रभु उन दोषों के नाशक हैं। जिस प्रकार भगवान ने अजामिल के दोष केवल उनका नाम ले लेने से दूर कर दिए थे, उसी प्रकार यहाँ ऐसे भक्त के संग भगवान परस्पर गुणगानलक्षण नामात्मक लीलाओं द्वारा भक्त की उन-उन इंद्रियों के दोषों का नाश कर देते हैं अतः आचार्यचरण 'अजामिल' का उदा. देकर शरणागति का भाव समझा रहे हैं। इससे आपश्री ने भगवान के दोषनिवृत्तिरूपी 'धर्म' का कार्य कहा है।

इष्टप्राप्तिं निरूपयन्ति अनुभवे स्थित इति। दोषं दूरीकृत्य तत्तदिन्द्रियादिषु स्वयं स्थितो भूत्वा स्वरूपानन्दमनुभावयतीतिभावः। अनेनेष्टप्राप्तिरूपं धर्मकार्यमुक्तम् एतत्सर्वं निरोधवर्णने 'संसारावेशदुष्टानामि'त्यारभ्य 'हरिवत्सुखमि'त्यन्तेन स्फुटीकृतम्। ततोपि विशेषमाहुः-ज्ञापिताखिलमाहात्म्य इति। ज्ञापितमखिलं पुष्टिलीलारूपं माहात्म्यं येन। अत एव व्रजस्थितानामपि च लीलानुभवः। पुष्टिप्रवाहमर्यादायामपि 'पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञा' इत्युक्तम्। भगवति साक्षादन्तःप्रकटे तल्लीलाधर्माणामप्याविर्भावात्तज्ज्ञानमप्याविर्भवतीति न किञ्चिदनुपपन्नम्। एवं सति तादृशस्य तादृग्भावपोषणादौ ईदृग्धर्मरूपो भगवानेव शरणमिति कृष्ण एव गतिर्ममे-त्युक्तम् ॥ ७ ॥

अब जीव को इष्टप्राप्ति कराने वाला कार्य **अनुभवे स्थितः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, भगवान इस प्रकार से भक्तों के दोष दूर करके उसकी समस्त देह इंद्रियों में स्वयं बिराज कर उसे उनके स्वरूपानंद का आनंद कराते हैं, यह भाव है। यह भगवान का इष्टप्राप्तिरूप धर्म का कार्य आचार्यचरणों ने बताया है। यह सभी कुछ निरोधलक्षणग्रंथ में "संसारावेश (१२)" से लेकर "हरिवत्सुखम् (१३)" तक के श्लोक में आपश्री ने स्पष्ट किया है। इससे भी कुछ विशेष कहने के लिए वे यहाँ **ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। भगवान ने अपना समस्त पुष्टिलीलारूप एवं माहात्म्य जगत में ज्ञापित कर दिया है। अतः आपश्री उन्हें 'ज्ञापिताखिलमाहात्म्य' शब्द से संबोधित कर रहे हैं। इसी कारण व्रजवासियों को भी उनकी लीला का अनुभव हुआ। यही बात पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदग्रंथ में भी "पुष्ट्या..... (१५)" इस श्लोक द्वारा कही गई है। जब जीव के अन्तःकरण में साक्षात् भगवान प्रकट हो जाते हैं, तब उनकी लीलाएँ एवं भगवद्-ज्ञान भी आविर्भूत हो जाता है अतः यहाँ पर कहा कुछ भी अनुचित नहीं है। इन परिस्थितियों में ऐसे पुष्टिजीव के लिए, ऐसे भाव का पोषण करने के लिए, ऐसे धर्मवाले भगवान ही शरण हैं अतः आचार्यचरण कह रहे हैं - कृष्ण ही मेरी गति हैं॥७॥

ननु तेषामिन्द्रियादीनां प्राकृतत्वात्तदधिष्ठातृणां च तथात्वात्कथं दोषनिवृत्तिरित्याशङ्क्य तेषां सर्वसङ्घातरूपः कृष्ण एव भवतीति तस्यैवार्थरूपत्वं निरूपयन्तः शरणगतिमाहुः-प्राकृत इति।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्रपञ्चनिरूपणप्रस्तावे 'जडे सदंशः प्रकट इतरावाच्छन्नौ, जीवे आद्यौ प्रकटौ आनन्दांशस्तिरोहित' इतिनिरूपितम्। पुष्टिमार्गीयस्य तु साधनदशायां सेवागुणगानादिपरस्य स्वत एवानन्दांशः प्रकटो भवति। तथाचोक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'ततः संसारदुःखस्ये'ति। तत्रैव पुनः विवरणे 'यद्यप्यनभिलषिते ते तथापि वस्तुस्वभावाद्भवत' इत्युक्तम् । सिद्धान्तरहस्येपि 'सर्वेषां ब्रह्मता तत' इत्युक्तम्। 'सच्चिदानन्दता स्वत' इति निरोधविवरणेप्युक्तम्।

परंतु इस संदर्भ में शंका यह होती है कि, जीवों की देह-इंद्रिय आदि तो प्राकृत हैं और उन-उन इंद्रियों में रहने वाले देवता भी तो प्राकृत ही होंगे, तो फिर उनके दोषों की निवृत्ति कैसे होगी ? (यहाँ समझना चाहिए कि श्रीमद्-भागवत के तृतीयस्कंध में सृष्टि का वर्णन है। यहाँ बताया गया है कि भगवान के विराट-स्वरूप से जीव की एवं उसके देह-इंद्रियों की उत्पत्ति हुई। यहाँ वर्णित है कि जीव की देह-इंद्रियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के देवताओं का वास है, जिनके सामर्थ्य से ये इंद्रियाँ अपने-अपने कार्य कर पाने में सक्षम होती है। जैसे मुख में अग्निदेव का, रसना में वरुणदेव का, नाक में अश्विनीकुमार, नेत्रों में सूर्यदेवता एवं त्वचा में वायुदेवता का निवास है। विशेष जानने के लिए देखें श्री.भा.३/६/

१०...२९ । ये समस्त देवता प्राकृत हैं ।) तो आपश्री अग्रिम श्लोक द्वारा यह बता रहे हैं कि जब जीव पुष्टिभाव के अनुसार भगवान की शरणागति लेता है, तो फिर उसकी समस्त देह इंद्रियों का संघात (समूह) कृष्ण ही बन जाते हैं । भगवान के उसी अर्थ-स्वरूप का निरूपण करते हुए आचार्यचरण **प्राकृता** इत्यादि शब्दों से शरणागति बता रहे हैं ।

यहाँ यह समझना चाहिए कि आचार्यचरणों ने प्रपंच का निरूपण करने में "भगवान ने जड़ में अपना संदश प्रकट किया एवं चित्-आनंद दोनों को तिरोहित कर दिया । जीव में सत्-चित् दोनों प्रकट किए परंतु आनंदांश को तिरोहित कर दिया" इस प्रकार से निरूपित किया है । परंतु पुष्टिमार्गीय जीव में तो भगवत्सेवा भगवद्-गुणगान आदि से जीवन निर्वाह करने पर साधनदशा में ही स्वतः आनंदांश प्रकट हो जाता हैं । यही बात सि.मुक्तावली में "भगवत्सेवा को सिद्ध करने के लिए तनुवित्तजा सेवा करनी चाहिए, इससे संसार के क्लेशों की निवृत्ति एवं ब्रह्मज्ञान होगा (२)" इस वाक्य द्वारा कही गई है । इसी श्लोक के विवरण में श्रीमत्-प्रभुचरणों ने "भगवत्सेवा में रत जीव को यद्यपि संसारक्लेश से मुक्ति एवं ब्रह्मबोध की चाहना नहीं होती है परंतु भगवत्सेवा के माहात्म्य से ही ऐसा हो जाता है, यह भाव है" इस प्रकार से कहा है । सि.रहस्य में भी यही बात "भगवान को सभी कुछ समर्पित कर देने से समस्त वस्तुओं में ब्रह्मता हो जाती है (८)" इस वाक्य से कही गई है । यही बात निरोधलक्षण में भी "समस्त प्रपंच का परित्याग करके सदानंद-श्रीकृष्ण में एकनिष्ठ होकर भगवदीयों को सदा प्रभु का गुणगान करना चाहिए, इससे सच्चिदानंदता स्वयं ही प्राप्त हो जायेगी (९)" इस वाक्य द्वारा आचार्यचरणों ने कही है ।

एवं सति ये पूर्वं प्राकृता देवा इन्द्रियाधिष्ठातारस्ते सच्चिदानन्दरूपाक्ष्यात्मकत्वे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावात्सकला जाताः । कला रसात्मकब्रह्मविद्यारूपा तत्सहिता जाताः । गणितानन्दरूपमक्षरं ब्रह्म, 'क'प्रत्ययेन ततोपि ह्रस्वोतितुच्छो जीवः स बृहज्जातस्तदपेक्षयापि महान् जातः । उभयत्र हेतुः पूर्णानन्दो हरिरिति । यतः सर्वेषां सच्चिदानन्दत्वे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावात्तत्सम्बन्धिरसात्मका भावा उत्पद्यन्त इति तज्जनितप्रचुरार्तिशान्त्यर्थमन्तस्तत्तदिन्द्रियादिषु तत्तत्स्वरूपः स्वयमेव भूत्वा सर्वेषु तेषु पूर्णस्वरूपानन्ददानेन दुःखं हरतीति तथोक्तम् । एवं सत्यक्षरात्मत्वेनाप्राकृतत्वे किं वाच्यम् । किन्तु तस्य समस्तसङ्घातः साक्षाद्रसात्मकलीलारूपपूर्णानन्दभगवद्रूप एव भवतीति कुतस्तत्र दोषावकाश इतिभावः । तदैव 'श्रीमद्गोकुलजीवात्मा श्रीमद्गोकुलमानसमि'त्याद्युक्तम् । यत एवं भगवत एवार्थरूपत्वं तस्मात्तस्य तथात्वसिद्ध्यै शरणमेव साधनमिति तन्निरूपयन्ति कृष्ण एवेति ॥ ८ ॥

इन परिस्थितियों में इंद्रियों में रहने वाले समस्त प्राकृत देवता भी अन्तःकरण में पुरुषोत्तम का आविर्भाव होने से सच्चिदानंदरूप ही हो जाते हैं । कला का अर्थ है - रसात्मक ब्रह्मविद्यारूप होना अर्थात् समस्त प्राकृत देवता पूर्णपुरुषोत्तम के संयोग से रसात्मक ब्रह्मरूप हो जाते हैं अतः आचार्यचरण इन्हें कलासहित 'सकला' कह रहे हैं । अब आगे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, गणितानंदरूप का अर्थ है - अक्षरब्रह्म; इस गणितानंद शब्द में आपश्री ने 'क' प्रत्यय का प्रयोग किया है जो अल्प-अर्थ को बताने के लिए प्रयुक्त किया जाता है अतः 'गणितानंदक' का अर्थ हुआ - जीव । ऐसा जीव जिससे गणितानंद भी छोटा है और अति तुच्छ है क्योंकि जब उस जीव के अन्तःकरण में पूर्णपुरुषोत्तम का आविर्भाव होता है, तब वह गणितानंद की तुलना में भी अधिक बृहद् बन जाता है अर्थात् वह जीव गणितानंद-अक्षरब्रह्म से भी महान बन जाता है । इन दोनों का कारण **पूर्णानंद - हरि** हैं । आपश्री का तात्पर्य यह है कि, चूँकि जीव के समस्त देह-इंद्रियों में पुरुषोत्तम का अविर्भाव होने से जीव संपूर्ण रूप से सच्चिदानंदात्मक हो जाता है और उसमें पूर्ण-पुरुषोत्तम से संबंधित रसात्मक भाव उत्पन्न होते हैं । ऐसे में जब जीव में उस रसात्मक भाव के द्वारा भगवद्-विरहताप उत्पन्न होता है, तो उसकी शांति के लिए उसकी देहइंद्रियों में उसी का स्वरूप लेकर भगवान बिराज जाते हैं एवं उन समस्त जीवों को पूर्णस्वरूप का आनंद देकर उसके दुःखों को हर लेते हैं अतः आचार्यचरण श्रीकृष्ण को यहाँ पूर्णानंद हरि कह रहे हैं । अब जहाँ ये समस्त प्राकृत देवता भी इस प्रकार से अप्राकृत (अलौकिक) बन जा रहे हों, वहाँ जीव अक्षरब्रह्म-स्वरूप से भी अप्राकृत हो जाय तो इसमें क्या कहना ? अतः जीव का संपूर्ण शरीर ही साक्षात् रसात्मक लीलारूप-पूर्णानंद भगवद्-रूप ही हो जाता है तो अब दोष के लिए कहाँ स्थान रह जाता है, यह भाव है । यही बात "श्रीमद्गोकुलजीवात्मा" इत्यादि श्लोकों में कही गई है । क्योंकि भगवान का रूप ऐसा ही है अतः जीव को भगवान के ऐसे स्वरूप का अनुभव प्राप्त करने के लिए उनकी शरण ही एक साधन है, इस कारण आचार्यचरण **कृष्ण एव** इत्यादि शब्दों से शरणागति निरूपित कर रहे हैं ॥८॥

एवमर्थरूपं निरूप्यैतादृशस्य प्रचुरार्तिशान्त्यर्थं बहिःप्रकटस्य कोटिकन्दर्पलावण्यसाक्षाद्भगवतः सङ्गस्यैवापेक्षितत्वात्कामरूपत्वं निरूपयन्तः शरणं प्रार्थयन्ति विवेकेति ।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

अत्रेदमाकूतम् । पुष्टिमार्गीयभावाविर्भावानन्तरं विरहानुभवार्थे त्यागस्यावश्यकत्वात्यागानन्तरं पुन : क्रमेण मिथो गुणानुवादजनितप्रचुरभावानामुच्छलितत्वात्तादृशस्य देहप्राणेन्द्रियान्त:करणादीनि स्वरूपात्मकानि भवन्तीति पूर्वश्लोकद्वयेन निरूपितम्। एतावत्पर्यन्तं विरहानुभवे चक्षूरागादित्रपानाशान्ता: सप्तावस्था: संपन्ना:। अस्मिञ्श्लोके उन्मादाद्यवस्थात्रयं निरूप्यते।

इस प्रकार से आचार्यचरणों ने भगवान के अर्थ-स्वरूप का निरूपण किया। अब ऐसे जीव के प्रचुर तापक्लेश की शांति के लिए उसे बाह्यरूप से प्रकट हुए कोटिकंदर्पलावण्यस्वरूप साक्षात् भगवान का संग ही चाहिए होता है अतः आचार्यचरण भगवान के कामस्वरूप का निरूपण करते हुए विवेक इत्यादि शब्दों से शरणागति के लिए प्रार्थना कर रहे हैं।

इस श्लोक का अर्थ समझने से पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि, पुष्टिमार्गीय भाव के आविर्भूत होने के पश्चात् भगवद्-विरह का अनुभव करने के लिए समस्त सांसारिक पदार्थों का त्याग करना आवश्यक होता है। त्याग करने के पश्चात् क्रमशः परस्पर भगवद्-गुणानुवाद करने से जीव में भगवान के प्रति प्रचुर भाव उच्छलित होता है और उसके देह-इंद्रिय-अन्तःकरण आदि भगवद्-स्वरूपात्मक हो जाते हैं, यह हम पिछले दो श्लोकों द्वारा निरूपित कर चुके हैं। इस अवस्था तक भगवान के प्रति विरह का अनुभव करने में चक्षुराग (सर्वप्रथम नेत्रों द्वारा प्रेम उत्पन्न होना) से लेकर लज्जा-त्याग (लज्जा छूट जानी प्रेम की दस अवस्थाओं में से सातवीं अवस्था है) तक की सात अवस्थाएँ पूरी हो चुकी हैं, यह समझना चाहिए। इस श्लोक में शेष बची उन्माद-आदि प्रेम की तीन अवस्थाओं का निरूपण किया गया है।

तथाहि-विवेक:, धैर्यं, भक्तादयस्तै रहितस्य। विवेकराहित्ये विकलत्वं भवति यतो वैकल्ये विवेको न तिष्ठति। तच्चोन्मादावस्थायां भवतीति सा निरूपिता। धैर्यराहित्येनाहर्निशं साक्षात्सङ्गाभावजप्रचुरा-र्तिजनितमस्वास्थ्यं तिष्ठति। ननु पूर्वं गुणगानेऽन्त: साक्षादनुभवस्योक्तत्वात्कथं धैर्याभावेनास्वास्थ्यं तत्राहु:- भक्त्यादिरहितस्येति। गुणगानदशायां पूर्वमन्त:प्राकट्ये साक्षाद्भक्तिरूपमुखारविन्दसुधास्वादात्। आदिपदेन साक्षाद्भोग:। साक्षाद्भोगस्याप्यनुभवात्स्वास्थ्यं स्थितमिदानीं प्रलापावस्थायां फलप्रतिबन्धकत्वेन साक्षात्सुधादानतदुपयोगिवाक्याद्यकरणादस्वास्थ्यमेव तिष्ठतीति तद्रहितस्येत्युक्तम्। तत्रापि यत्किञ्चित्स्वास्थ्येपि फलप्रतिबन्धकत्वेन विशेषतो रहितस्येत्युक्तम्। तथाचोक्तं संन्यासनिर्णये 'भगवान् फलरूपत्वात्' 'स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्य' मित्यादि । एवमस्वास्थ्येपि स्वास्थ्यवाक्याद्यकरणे प्रचुरार्त्या मूर्च्छामापतति सा दशा निरूपिता।

वह तीन अवस्थाएँ हैं विवेक-धैर्य-भक्ति; जीव इनसे रहित है, यह अर्थ है। विवेकरहित होने पर मन में विकलता होती है क्योंकि विकलता होने पर विवेक नष्ट हो जाता है। यह तो उन्माद-अवस्था में होता है, इसलिए विवेकरहित होना अर्थात् उन्माद-अवस्था होनी, यह समझना चाहिए। और धैर्यरहित होने पर अहर्निश साक्षात् भगत्संग न मिलने से उत्पन्न हुए विरहताप द्वारा जीव अस्वस्थ हो जाता है। परंतु यहाँ एक संदेह यह होता है कि पहले यह बात बताई जा चुकी है कि पुष्टिभाव के अनुसार भगवद्-गुणगान करने से जीव को अन्तःकरण में साक्षात् भगवान का अनुभव होता है, तो फिर यहाँ ये कैसे कहा जा सकता है कि धैर्य के बिना वह अस्वस्थ हो जायेगा ? इस शंका का निवारण भक्त्यादिरहितस्य शब्द द्वारा किया जा रहा है। यहाँ यह समझिए कि उस समय गुणगान दशा में तो सर्वप्रथम अन्तःकरण में जब प्रभु प्रकट होते हैं, तब मुख से भगवद्-गुणगान करने के कारण भगवान की भक्तिरूप अधरसुधा का आस्वादन होता है, अन्तर्मन में साक्षात भोग भी प्राप्त होता है परंतु अभी जीव इस लाभ से वंचित है। उस समय तो साक्षात् भोग अनुभव करने के कारण स्वस्थता थी परंतु इस समय विरहदशा में प्रलापावस्था (भगवान के विरह में विलाप करने की अवस्था) में तो साक्षात् भगवान को अनुभव करने का फल प्राप्त नहीं हैं और इसी कारण भगवद्-अधरामृत प्राप्त होने का भी अवकाश नहीं है अतः जीव अस्वस्थ ही रहता है, इस कारण आचार्यचरण उसे इन समस्त वस्तुओं से रहित कह रहे हैं। चलो विरहताप में जीव को थोड़ी बहुत स्वस्थता हो भी जाय परंतु साक्षात् भगवत्प्राप्ति का फल उसे प्राप्त नहीं होता इसलिए आचार्यचरण उसे विशेषरूप से रहित कह रहे हैं। यही बात संन्यासनिर्णय में "भगवान स्वयं फलरूप हैं, विघ्नकर्ता नहीं हैं। और भक्त को विरहदशा में सांत्वना मिले ऐसा आश्वासन देना उनका कर्तव्य नहीं है (१३)" इस वाक्य द्वारा कही गई है। अतएव जीव को इस प्रकार से विरह में अस्वस्थ देखकर भी भगवान द्वारा उसे सांत्वना या आश्वासन न मिलने पर प्रचुर विरहताप से वह मूर्छित हो जाता है अतः इसे प्रेम की नौंवी दशा 'मूर्छा' समझनी चाहिए।

ततः पुनर्जाग्रदवस्थायां स्वरूपस्थितौ सङ्गाभावेन स्थातुमशक्तं गुणावलम्बितचित्तं पुनर्भवति तेन च यत्किञ्चित्स्वास्थ्ये तदैव फले प्रतिबन्धकं भवतीति तस्य पापरूपत्वमिति तत्रासक्तस्येत्युक्तम्। अत एवोक्तं 'ज्ञानं गुणाश्च तस्यैव वर्तमानस्य बाधका' इति संन्यासनिर्णये। तत: क्षणानन्तरं स्थितिरेव न भवतीति दशम्यवस्था निरूपिता। एतसर्वं फलप्रकरणीय-तृतीयाध्यायान्ते स्फुटीकृतम्। तत्र गुणगानानन्तरमनाविर्भावे मूर्च्छान्तावस्थानिरूपणपूर्वकं लीलाप्रवेशप्रलाप: स्वरूपस्थितौ

गुणगानमिति निरूपितम्। अग्रे पुनरतिदैन्ये जाते 'रुरुदुः सुस्वरं' 'तन्वः प्राणमिवागत' मित्यादिनाग्रिमा सा सूचितेति सर्वमुपपन्नम्। एतादृश्यस्य पुनः शीघ्रमाविर्भावार्थं शरणमेव भावनीयमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम्। एतदनन्तरं सर्वथाऽऽविर्भूय परमानन्दं ददातीति ज्ञापनाय कृष्णपदं, शरणं निरूपितम्। तथाचोक्तं 'ब्रह्मा विष्णू रुद्रश्च भूत्वा पुनः कृष्ण एव जात' इति 'तासामाविरभूत्कृष्ण' इत्यस्याभासे ॥ ९ ॥

इसके पश्चात् पुनः जागृत अवस्था में आने पर जब उसे उसके स्वरूप का ज्ञान होता है तब फिर सत्संग न मिलने के कारण जीवन व्यतीत करना कठिन हो जाता है। अब ऐसी दशा में जब वह पुनः भगवद्-गुणगान का सहारा लेता है तो वही गुणगान उसके मुख्यफल में अर्थात् भगवत्प्राप्ति में प्रतिबंध बन जाता है क्योंकि इस समय उसे भगवद्गुणानुवाद पर अवलंबित होने के स्थान पर सीधे भगवद्-स्वरूप पर अवलंबित होना चाहिए था। उसका यही कार्य पापरूप है अतः आचार्यचरण उसे 'पापासक्त' कह रहे हैं। इसी कारण संन्यासनिर्णय में "भगवद्-विरह में अस्वस्थ हुए जीव को स्वरूप-ज्ञान और भगवद्-गुणगान बाधक हैं (९)" इस प्रकार से कहा गया है। ऐसी अवस्था होने के पश्चात् एक क्षण भी भगवान के बिना रहना दूभर हो जाता है अतः यह दसवीं अर्थात् 'मृत्यु' की अवस्था है। यह सभी कुछ आचार्यचरणों ने फलप्रकरण के तीसरे अध्याय के अंत में विस्तार से समझाया है। (देखें सुबो. १०/२८/१९) वहीं पर सुबोधिनी में आपश्री ने विवरण दिया है कि, जब भगवान मध्यरास में अंतर्धान हो गये तब गोपियों ने उनका गुणगान किया परंतु वे फिर भी प्रकट न हुए। तब वहाँ मूर्छा तक की अवस्था का निरूपण किया गया है जहाँ उनका रुदन भगवद्-लीला प्रवेश का कारण बना है; यदि वे रुदन छोड़कर अपने देहानुसंधान में वापस आ जाएँ, तो वे पुनः भगवद्-गुणगान में रत हो जाएँ, परंतु भगवद्-लीला में उनका प्रवेश नहीं हो पायेगा क्योंकि इस प्रकार का निरंतर रुदन ही उन्हें भगवद्-प्राप्ति करा सकता है। इसी अध्याय के आगे (अर्थात् सुबो. १०/२९/१ और श्रीमद्-भागवत के अनुसार १०/३२/१) जब गोपिकाओं में अति दैन्य प्रकट हुआ तो "कृष्ण के विरह में गोपियाँ करुणाजनक स्वरों में फूट-फूट कर रोने लगीं (श्री.भा. १०/३२/१)", "अपने श्यामसुंदर को आया देखकर गोपियों के प्राणहीन शरीरों में मानों दिव्य प्राणों का संचार हो गया (श्री.भा. १०/३२/३)" इत्यादि आगे के श्लोकों में कृष्ण के विरह में गोपियों की मृत्यु दशा का ही निरूपण हुआ है, अतः हमारा कहा सब कुछ उचित ही है। ऐसी विरहदशा वाले जीव को पुनः शीघ्र भगवान के आविर्भाव (प्रकट होना) के लिए उनकी शरणभावना ही करनी चाहिए, अतः आचार्यचरणों ने "कृष्ण ही मेरी गति हैं" यह कहा है। इस प्रकार की विरहदशा होने के पश्चात् भगवान सभी प्रकार से आविर्भूत होकर परमानंद का दान करते हैं, यह बताने के लिए आचार्यचरणों ने भगवान के लिए 'कृष्ण' पद का प्रयोग किया है और उनकी शरणागति बताई है। यही बात आचार्यचरणों ने सुबोधिनी में भी "तब ठीक उनके बीचों बीच भगवान श्रीकृष्ण प्रकट हो गये (श्री. भा. १०/३२/२)" इस श्लोक के विवरण में बताई है कि, श्रीकृष्ण ने सर्वप्रथम गोपियों में विरह उत्पन्न कराया जिससे वह ब्रह्मा हुए, तत्पश्चात् उन्हें विरह की स्थिति में रखा जिससे वह विष्णु हुए, तत्पश्चात् उस विरह का नाश करके आप पुनः प्रकट हुए, जिससे वह शिव हुए और पुनः कृष्ण बन गये ॥९॥

एवं दशावस्थाभिः पूर्णविप्रयोगानुभवे जाते प्रतिबन्धकदेहनिवृतौ तस्यालौकिकं रसात्मकं लीलोपयोगिदेहादिकं संपाद्य स्वयं साक्षात्प्रकटीभूय बहिः स्वरूपानन्दं ददातीति मोक्षरूपत्वं निरूपयन्ति सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृदिति।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥
कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोब्रवीत् ॥ ११ ॥

सर्वं यावदलौकिकैश्वर्यवीर्यादिगुणानां कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं यत्सामर्थ्यं तत्सहितःसन् तं प्रति स्वरूपानन्दं दातुं स्थितो भवतीत्यर्थः। एतदेवोक्तं 'भगवानपि ता रात्री'रित्यत्र 'भगव'त्पदेन स्वतन्त्रलिखने।

इस प्रकार दस अवस्थाओं के द्वारा पूर्ण रूप से विप्रयोग का अनुभव होने पर एवं भगवत्प्राप्ति में प्रतिबंध बनी हुई इस भौतिक देह के निवृत्त हो जाने पर भगवान उस जीव को अलौकिक रसात्मक भगवद्-लीला में उपयोगी देह प्रदान करते हैं और स्वयं साक्षात् प्रकट होकर बाह्यरूप से अपने स्वरूपानंद का दान देते हैं। पुष्टिमार्गीय जीव का मोक्ष यही है अतः मोक्ष के इस स्वरूप को आचार्यचरण सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् इत्यादि शब्दों से निरूपित कर रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रभु कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथा कर्तुम् समर्थ हैं इसलिए उनके अलौकिक ऐश्वर्य-वीर्य इत्यादि गुणों के सहित होकर जीव को स्वरूपानंद का दान देने के लिए तत्पर रहते हैं। यही बात "भगवानपि ता रात्री (श्री.भा. १०/२९/१)" इस श्लोक की सुबोधिनी में कही गई है।

ननु प्रभोः सर्वं संभवति परं तादृशेन प्रभुणा सहसाम्येन स्वरूपानुभवः कथं सुवचो जीवस्य तत्राहुः सर्वत्रैवाखिलार्थकृदिति। 'पुष्टिं कायेने' तिवाक्यात्तादृशं तं भक्तं साक्षाद्रसात्मकस्वचरणारविन्दमकरन्दरजसाऽलौकिक-देहादिसम्पत्तिपूर्वकं लीलासमाजे प्रकटीकृत्य सर्वत्रैव देहप्राणेन्द्रियादिष्वखिलार्थान् रसात्मकालौकिकवयोगुणादिरूपान-लौकिकैश्वर्यगुणादिसामर्थ्यरूपान् करोतीति तथोक्तमत एवालौकिकसामर्थ्यं पुष्टिफलं निरूपितं सेवाफले। एतत्सर्वं 'यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रम' इत्यस्य विवरणे स्फुटीकृतं 'स्वसामर्थ्यादियोजने' त्यादि। एवं स्वरूपात्मकतां संपाद्य स्वरूपानन्दं ददातीति मोक्षस्वरूपत्वं निरूपितम्। अत एव 'मोक्षः कृष्णस्य चेद्ध्रुव' मित्युक्तम्।

परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि प्रभु तो सर्वसमर्थ हैं, किंतु जीव उनकी बराबरी करके उनके स्वरूपानंद का अनुभव कैसे कर सकता है ? तो आचार्यचरण इसे सर्वत्रैवाखिलार्थकृत इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद ग्रंथ में कहे हुए "भगवान ने पुष्टिजीवों की रचना स्वयं अपने श्रीअंग से की है (पु.प्र.म./९)" इस वाक्यानुसार भगवान ऐसे भक्त को अपने साक्षात् रसात्मक चरणारविंद के मकरंदरूपी रज के द्वारा अलौकिक देह इत्यादि प्रदान करके उसे अपने लीलासमाज में स्थान लेकर सर्वत्र अर्थात् देह-प्राण-इंद्रियों में अखिलार्थान् अर्थात् रसात्मक अलौकिक-आयु गुण-आदि अलौकिक ऐश्वर्य, गुण आदि सामर्थ्य का दान करते हैं। इसी कारण सेवाफलग्रंथ में "अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त होना पुष्टिफल है - इस प्रकार से कहा गया है। यह सभी कुछ आचार्यचरणों न श्रीमद्-भागवत के "यथार्भकः (१०/३३/१७)" इस श्लोक के विवरण में" "स्वसामर्थ्यादि योजने" इत्यादि शब्दों द्वारा कहा है। इस प्रकार जीव को भगवद्-स्वरूपात्मक बना कर भगवान उसे अपने स्वरूपानंद का दान देते हैं, यह उनका मोक्ष-स्वरूप आचार्यचरणों ने यहाँ निरूपित किया है। इसी कारण आपश्री ने "यदि भगवान को धर्म-अर्थ-काम तीनों मान लिया है तो आपका मोक्ष निश्चित् है (वृत्रासुर चतुःश्लोकी के चौथे श्लोक पर आचार्यचरणों की कारिका)" यह कहा है।

ननु मोक्षे आनन्दमग्नता तिष्ठति प्रकृतेपि तथैव चेत्स्यात्तदा कथं लीलानुभव इत्याहुः शरणस्थसमुद्धारमिति। अत्र शरणपदं सर्वात्मभावपरम्। अलौकिकसृष्टिः सर्वैतादृभावत्वेवेति शरणस्थस्य-सर्वात्मभावस्थस्य-पूर्वोक्तभक्तत-त्तल्लीलानन्दसमुद्रमग्नस्य-तत उद्धारं करोतीति शेषः। अन्यथैकस्यां लीलायां मग्नस्य द्वितीया सानुभूतैव तिष्ठेत्। एतत्सर्वं 'यत एतद्विमुच्यत' इत्यत्र स्फुटीकृतम्। यद्वा, लीलानुभवदशायामापि तत्प्रभावादेव दैन्यभाव उत्पद्यत इत्यपि ज्ञापनाय शरणस्थेतिपदम्। अथवा, अतःपरं सर्वांशेन शरणस्था जाता इति वा ज्ञापनार्थं शरणे स्थित्यर्थ उक्तः। तथासति शरणसमाप्तिर्ज्ञापिता। किञ्च, एवं पूर्णस्वरूपानन्दानुभवानन्तरं श्रीमदुद्धवोपदिष्टज्ञानेन यादृशो निरोधः सिद्धस्तादृशो निरूपित इति ज्ञापनायोद्धारे सम्यक्त्वमुक्तम् एवं सति सदा फलरूपपूर्णनिरोधस्थित्यनन्तरं तस्य स्वस्मिन् साक्षात्पुरुषोत्तमाभिन्नत्वज्ञानं भवतीति मुक्तिलीला निरूपिता।

परंतु यहाँ एक संदेह यह होता है कि, मोक्ष का तो अर्थ है आनंदमग्न हो जाना, अब यदि भगवद्-आश्रय से भी आनंदमग्नता ही प्राप्त होती हो तो भगवद्-आश्रय करने वाले को विभिन्न-विभिन्न प्रकार की भगवद्-लीलाओं का अनुभव कैसे होगा ? क्योंकि वह तो आनंद में डूब चुका है। इसका स्पष्टीकरण आचार्यचरण शरणस्थसमुद्धारं शब्द से कर रहे हैं। यहाँ प्रयुक्त 'शरण' पद सर्वात्मभावपरक है। समस्त अलौकिक सृष्टि ऐसे ही सर्वात्मभाववाली है अतः शरणागत का, अर्थात् सर्वात्मभाववाले जीव का, अर्थात् पूर्व में कही भगवद्-लीला के आनंदरूपी समुद्र में मग्न जीव का भगवान वहाँ से उद्धार करते हैं, यह जान लेना चाहिए। अन्यथा तो एक ही लीला में मग्न हुआ जीव दूसरी लीला का तो अनुभव किए बिना ही रह जायेगा। यह सभी कुछ "जीव चाहे काम, क्रोध, भय, स्नेह, सौहार्द इत्यादि किसी भी भाव से अपनी वृत्तियाँ भगवान में जोड़ दे, तो उसे भगवान की प्राप्ति होती ही है (श्री.भा.१०/२९/१६) इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है। अथवा यों अर्थ कर लें कि भगवान की लीला का अनुभव करते समय भी शरणागति के प्रभाव से/भगवद्-लीला के प्रभाव से जीव में दैन्यभाव उत्पन्न होता है और वह प्रभु से अपनी समानता नहीं रखता, यह बताने के लिए आचार्यचरणों ने शरणस्थ पद का प्रयोग किया है। अथवा यों अर्थ कर लें कि लीला का अनुभव करने के पश्चात् अब जीव संपूर्णरूप से भगवान के शरणागत हो जाता है, यह बताने के लिए आपश्री शरणस्थ पद का प्रयोग कर रहे हैं। इस परिस्थिति में उसकी पूर्ण-शरणागति हो चुकी है, यह ज्ञापित होता है। और भी, यह समझ लीजिए कि इस प्रकार से भगवान के पूर्णरूपेण स्वरूपानंद का अनुभव होने के पश्चात् जिस प्रकार से श्रीमद्-उद्धवजी के उपदेश द्वारा जैसा निरोध गोपिकाओं को सिद्ध हुआ, वैसा निरोध उस भक्त को सिद्ध होता है, यह बताने के लिए आचार्यचरण यहाँ 'समुद्धारं' (भलीभाँतिपूर्वक उद्धार होना) शब्द में सम् उपसर्ग का प्रयोग कर रहे हैं। इस प्रकार से उद्धार होने पर जीव की फलरूप पूर्णनिरोध में स्थिति सदा बनी रहती है और इसके पश्चात् वह खुद को एवं साक्षात् पुरुषोत्तम को अभिन्न समझने लगता है, यही भगवान की मुक्तिलीला यहाँ आचार्यचरणों ने निरूपित की है।

तत आश्रयलीलां निरूपयन्ति कृष्णमिति। तं पुनः केवलशुद्धभावात्मकत्वेन सङ्घातस्य स्वरूपत्वाधारत्वेन

स्वस्वरूपात्मकं केवलानुभवान्[1] (?) बालकभावरूपं कृष्णं करोतीत्याश्रयलीला निरूपिता। कृष्ण'मित्यत्रापि करोतीतिक्रिया योज्या। अत एव 'ततो विमोचनं स्वाश्रयप्रापणं प्रत्यापत्ति'रित्युक्तं 'बर्हापीडे'तिश्लोकविवरणे। एवं सति निरोधलीलानन्तरं 'मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति:'। 'मुक्तानामाश्रय: कृष्ण:' इति स्कन्धद्वयार्थरूपं मुक्त्याश्रयलीलाद्वयं निरूपितं पदद्वयेन। एतावदेवेप्सिततममितिपदद्वयस्य कर्मत्वेन निरूपणम्। पूर्वं सर्वसमर्थत्वेन स्वतन्त्रकर्ता प्रभुरिति प्रथमान्तपदं दत्तम्। अग्रे स्वेप्सितत्वेन पदद्वयं द्वितीयान्तमुक्तं, तेन तादृश: प्रभुरेव स्वेप्सितं करोतीतिक्रियाध्याहारेण कर्तृकर्मक्रियान्वयसम्बन्धोत्र ज्ञेय:। एवं ग्रन्थार्थोपि सम्यग्योजितो भवतीति सर्वमवदातम्।

इसके पश्चात् आपश्री भगवान की आश्रयलीला कृष्णं इत्यादि शब्दों से निरूपित कर रहे हैं। अब वह जीव केवल शुद्धभावात्मक होने के कारण एवं अब उसकी देह स्वरूपात्मक हो जाने के कारण केवल आनंद का ही अनुभव करने लगता है - इस प्रकार से आचार्यचरणों ने भगवान की आश्रयलीला का निरूपण किया है। इसी कारण सुबोधिनी में आपश्री ने "बर्हापीडं (श्री.भा. १०/२१/५)" श्लोक के विवरण में "ततो विमोचनं...." यह कहा है। इस परिस्थिति में निरोधलीला के पश्चात् "अन्यथाभाव का त्याग करके अपने मूलस्वरूप में अवस्थित हो जाना ही मुक्ति है (श्री.भा. २/१०/६)" "मुक्तजीवों के आश्रय श्रीकृष्ण हैं" इन द्वितीय स्कंध में कहे गये दो वाक्यों के अनुसार इन दो पदों में (अर्थात् 'शरणस्थसमुद्धारं' एवं 'कृष्णं') आचार्यचरणों ने मुक्तिलीला एवं आश्रयलीला का निरूपण किया है। जीव को मुक्ति एवं आश्रयदान करना प्रभु को सर्वाधिक अपेक्षित है, इसी कारण 'शरणस्थसमुद्धारं' एवं 'कृष्णं' यह दोनों द्वितीयान्त पद दिए गये हैं। इस प्रक्रिया में प्रभु सर्वसमर्थ हैं एवं स्वतंत्र भी हैं अत: इन दोनों पदों के पहले भगवान के लिए प्रयुक्त हुए "सर्वसामर्थ्यसहित:" एवं "सर्वत्रैवाखिलार्थकृत्" यह दोनों पद प्रथमान्त दिए गये हैं। इन दोनों प्रथमान्त के पश्चात् के दोनों पद अर्थात् 'शरणस्थसमुद्धारं' एवं 'कृष्णं' ये दोनों पद द्वितीयान्त हैं, जिससे ज्ञात होता है कि "जीव को कुछ जो भी वांछित होगा, वह स्वयं प्रभु ही पूर्ण करेंगे" यों इस प्रकार से करेंगे यह क्रिया जोड़ कर इस श्लोक में कर्ता-कर्म-क्रिया का संबंध समझ लेना चाहिए। ऐसा करने से संपूर्ण ग्रंथ का अर्थ भी सुंदर ढंग से बैठ जाता है।

अत:परं दशविधलीलानां पूर्णत्वादाश्रयाय सदा कृत् इति कृष्ण एवेत्यग्रेणोक्तम्। अत्र कृष्णावतारलीलानां नित्यफलावधित्वमुद्देशेन लक्षितमिति स्वरूपात्मकत्वेपि लीलानां नित्यत्वज्ञापनाय न कण्ठोक्त उपसंहार: कृत इतिभाव:। एवं साधनफलस्वरूपविवेकेनाश्रयं निरूप्य तस्य लोभनिष्ठसुधैकफलत्वेन तस्याश्च भगवद्भोग्यैक-भोग्यत्वाददेयतमत्वेन प्रभोर्निवेदनीयमिति तदग्रे कृत्वा निवेदयन्त आहु: विज्ञापयाम्यहमिति। किञ्चिदितिशेष:। किं तदित्याकाङ्क्षायामाहु: इदमिति। यदग्रे कृतं द्विनये मे प्रत्यक्षतोङ्गुल्या निर्दिष्टम्। किं ते तदपीति तत्राहु: स्तोत्रमिति। तर्हि समीचीनं कृतं प्रीतोहं किमियद्विज्ञाप्यत इति चेत्तत्राह कृष्णाश्रयमिति। कृष्ण आश्रयो यस्मिन्निति तत्स्वरूपनिवेदनं कृतम्। एतेनाश्रये कृते आश्रितपक्षपातस्य त्यक्तुमशक्यत्वात्तन्निर्बन्धेनादेयतममपि पराकाष्ठापन्नं वस्तु तस्मै देयं भवतीति स्वकीयानामार्तिघ्नं भवति अतिविनयेन विज्ञापनमेवोचितमिति श्रीमदाचार्याणां हृदयमिति ज्ञापितम्।

भगवान-श्रीकृष्ण दशविध लीलाओं से पूर्ण हैं अत: आश्रय केवल कृष्ण ही प्रदान कर सकते हैं, इस कारण आचार्यचरण प्रत्येक कारिका के बाद "कृष्ण ही मेरी गति हैं" यह कह रहे हैं। यहाँ कृष्णावतार लीलाओं की नित्यता आचार्यचरणों ने लक्षित की है अत: ये समस्त लीलाएँ स्वरूपात्मक होते हुए भी नित्य हैं, यह बताने के लिए आपश्री ने इस ग्रंथ की समाप्ति में उपसंहार करने वाले श्लोक नहीं लिखे हैं।

इस प्रकार से आचार्यचरणों ने भगवत्प्राप्ति के साधन, भगवत्प्राप्ति के फल के विवेक द्वारा 'आश्रय' का निरूपण किया है एवं वह 'आश्रय' भगवान की अधरसुधा का फल प्राप्त कराता है, जो केवल भगवद्-भोग्य वस्तु है एवं अदेय है। अत: आपश्री प्रभु से किंचित् मात्र 'आश्रय' के लिए निवेदन करते हुए विज्ञापयाम्हम् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तब भगवान ने कहा - वह निवेदन क्या है? तो वे इदम् शब्द के द्वारा अंगुलीनिर्देश करके बता रहे हैं; और वह अंगुलीनिर्देश किस और है, यह बताने के लिए स्तोत्रम् शब्द के द्वारा इस कृष्णाश्रयग्रंथ की ओर संकेत कर रहे हैं। तब भगवान के कहा - आपने उचित किया, मैं प्रसन्न हुआ परंतु आप क्या निवेदन कर रहे हैं? इसके प्रत्युत्तर में आपश्री 'कृष्णाश्रयं' शब्द से कह रहे हैं। अर्थात् आपश्री प्रभु से कह रहे हैं कि जिस स्तोत्र के द्वारा कृष्ण हमारे आश्रय बन जाएँ, मैंने उस आश्रय के स्वरूप का निवेदन इस स्तोत्र में किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि, भगवान श्रीकृष्ण का आश्रय करने पर स्वयं भगवान उस आश्रितजीव का कभी त्याग नहीं करते हैं और उससे बँधकर अदेयतम (कभी भी न दी जा सकने वाली वस्तु) परमकाष्ठापन्न वस्तु भी उसे दे देते हैं। अत: आचार्यचरण कह रहे हैं कि स्वकीयों की आर्ति दूर करनेवाले ऐसे श्रीकृष्ण से अतिविनयपूर्वक इस प्रकार प्रार्थना करनी ही उचित है, यह आपश्री का हार्द है।

---

१ केवलानन्दानुभवात्मकमिति युक्तं स्यात्।

अत एव एवं विज्ञाप्य तत्पाठफलं निरूपयन्ति य इति। कृष्णस्य भावात्मकस्य सन्निधौ सति पुष्टिमार्गीय-स्योद्भूतभावाङ्कुरस्य भावरूपत्वेना-न्तस्तत्सान्निध्यं भवतीति तथोक्तम्। तत्सान्निध्यार्थं वा पठेत्तस्यैवाश्रयो भवेदिति। य इति मदतिरिक्तोन्योपि स्वीकृत इत्यर्थः। इदं त्वतिकारुण्यमत्यौदार्यं चरित आचार्याणाम्। नन्वेवं विज्ञापनेपि भगवता तन्नोरीकृतं चेत्तदा कथं फलसिद्धिस्तत्राहुः श्रीवल्लभोब्रवीदिति। इतीति पूर्वोक्तं विज्ञापनं श्रीवल्लभः साक्षाद्गोपीशोऽब्रवीत् अङ्गीकृत्याज्ञ-प्तवानित्यर्थः।

इस प्रकार से आचार्यचरण प्रभु को प्रार्थना करके अब इस पाठ का फल यः इत्यादि शब्दों से निरूपित कर रहे हैं। आपश्री आज्ञा कर रहे हैं कि श्रीकृष्ण का स्वरूप भावात्मक है, अतः प्रभु के सन्मुख इस ग्रंथ का पाठ करने से पुष्टिमार्गीय-जीव में भावांकुर उद्भूत होता है और उसके अन्तःकरण में उसे प्रभु का सानिध्य प्राप्त होता है, इस कारण आपश्री ने इस ग्रंथ का भगवान - श्रीकृष्ण के सन्मुख पाठ करना कहा है। अथवा तो यों अर्थ कर लें कि जो कोई जीव प्रभु-सान्निध्य के लिए इस ग्रंथ का पाठ करता है, प्रभु उसके ही आश्रय बन जाते हैं। उससे यह सिद्ध होता है कि आचार्यचरण उनके तक ही यह बात नहीं कह रहे हैं अपितु जो कोई भी जीव प्रभु के सन्मुख इस ग्रंथ का पाठ करेगा, प्रभु उसके आश्रय बन जायेंगे, यह अर्थ है। यही आचार्यचरणों का अति करुणामयी उदारचरित्र है। किंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि इस प्रकार प्रार्थना करने पर भी यदि प्रभु जीव को अपना आश्रय प्रदान न करें, तो फिर कैसे फलसिद्धि होगी ? तो इस शंका के निवारण के लिए आचार्यचरण **श्रीवल्लभोब्रवीत** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ इस श्लोक में **इति** शब्द का अर्थ प्रथम श्लोक से लेकर अब तक के श्लोक में की गई प्रार्थना है अर्थात् आचार्यचरणों ने प्रभु से इतनी प्रार्थना की है। यहाँ **श्रीवल्लभ** का अर्थ है, साक्षात् गोपीश (भगवान-श्रीकृष्ण)। अर्थात् जिन्होंने आचार्यचरणों को जीवों को अंगीकार करने की आज्ञा दी है, वे गोपीश-श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि, वे जीवों के आश्रय बन जाते हैं, यह अर्थ है।

अथवा श्रीवल्लभः स्वयमेव श्रीरूपाणां स्वामिनीनां वल्लभः परमवात्सल्यास्पदीभूतः। अत एव ताः स्वरहस्यं सर्वं कथयन्तीति तासां गुरुत्वं निरूपितं संन्यासनिर्णये। अतिप्रियाय गुरुः स्वरहस्यं कथयतीत्युक्तत्वात्। एवं सति तद्वल्लभत्वेन प्रभोरपि परमप्रेमास्पदीभूत इति तदुक्तं सर्वमङ्गीकृतं भगवतेति ज्ञापितम्। अत एव यतोङ्गीकृतमिति हेतोरब्रवीदित्याह, फलमित्यर्थः। किञ्च तद्वल्लभत्वेन भगवदुक्ताङ्गीकारः स्वतः सिद्ध एवेति न पुनस्तदुक्तिः कण्ठोक्ता। अनेन फले सर्वथापि निःसन्दिग्धत्वं निरूपितमिति सर्वमवदातम् ॥ १०-११ ॥

अथवा तो श्रीवल्लभ शब्द का अर्थ स्वयं आचार्यचरण हैं अर्थात् श्रीस्वरूपागोपिकाओं के वल्लभ (प्यारे), जिनसे गोपिकाओं को परम वात्सल्य है, वे यह बात कह रहे हैं। अतः उनके कहे में संदेह नहीं करना चाहिए, यह अर्थ है। गोपिकाओं को आचार्यचरणों से परम वात्सल्य है, इसी कारण वे अपने समस्त रहस्य इनसे कहती हैं और स्वयं आचार्यचरणों ने भी संन्यासनिर्णय में इन गोपिकाओं को पुष्टिभक्तिमार्ग का गुरु बताया है। अपने अतिप्रिय व्यक्ति को तो गुरु अपना रहस्य बताते ही हैं। अतः गोपिकाओं के अतिप्रिय होने के कारण आचार्यचरणों से प्रभु को भी अति प्रेम है, इस कारण उनका कहा सभी कुछ भगवान स्वीकार लेते हैं, यह ज्ञापित होता है। अतएव चूँकि स्वयं आचार्यचरणों ने जीव को अंगीकार कर लिया है, इस कारण आचार्यचरण जीव से ऐसा कह रहे हैं अर्थात् इस पाठ का फल कह रहे हैं, यह अर्थ है। और चूँकि आचार्यचरण भगवान को अति प्रिय हैं अतः उनका अंगीकार तो कहे बिना स्वतः ही सिद्ध है अतः उन्होंने अपने अंगीकार की बात यहाँ नहीं कही है। सो उपर्युक्त समस्त विश्लेषणों से ज्ञात होता है कि आचार्यचरणों के कहे-अनुसार करने से भगवद्-आश्रयरूपी फल निःसंदिग्धरूप से प्राप्त होगा ही, यह समझ लेना चाहिए ॥१०-११॥

अतिमलिनतराशये मदीये किमयमपूर्वतरोदयो विलासः।
निरुपधिकरुणैकविभ्रमोपि वितरणशीलविभोरतोद्भुतं नः ॥ १ ॥
व्रतवतो महती किल ते कृपा मदपराधगणा अपि तादृशाः।
उभयतौल्यविचारणया विभो विजयते तव सैव गरीयसी ॥ २ ॥
अदेयदानैकपरान् महौदार्यगुणैः स्वके।
श्रीमदाचार्यचरणान् आश्रये करुणानिधीन् ॥ ३ ॥
प्रणतालोकसंजातकरुणादृष्टिभिः क्षणात्।
संतापं हरति श्रीमद्विट्ठलेशं तमाश्रये ॥ ४ ॥
इति श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं समाप्तम्।

मेरे अति मलिनतर हृदय में यह अभूतपूर्व विलास का उदय न जाने कैसे हो गया ?

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

सहज करुणा से सुसज्जित मेरे प्रभु की अद्‌भुत-कृपा मुझ पर हुई है ॥१॥
कहाँ तो तेरी महद्‌-कृपा अनन्यव्रत-जीवों पर होती है ओर कहाँ मेरे वैसे ही महद्‌-अपराधों का समूह ?
इन दोनों का विचार करने पर तेरी कृपा ही श्रेष्ठ सिद्ध होती है, अतः उसी की विजय हुई है ॥२॥
अपने महोदार गुण के द्वारा अपने जीवों को अदेय-दान देनेवाले करुणानिधि-श्रीमदाचार्यचरणों का मैं आश्रय करता हूँ ॥३॥
अपनी करुणादृष्टि द्वारा देखने से क्षणभर में शरणागत-जीव के संताप हरनेवाले श्रीमद्विट्ठलेश का मैं आश्रय करता हूँ ॥४॥
॥ यह श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्र का विवरण समाप्त हुआ ॥

ગુજરાતી વિભાગ

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

શ્રીરઘુનાથજી :- આપશ્રી પહેલા શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં લખે છે કે - કર્મમાર્ગ, જ્ઞાનમાર્ગ, ઉપાસનામાર્ગો વગેરેથી પ્રભુને પ્રાપ્ત કરવાના બધાં જ ઉપાયો નષ્ટ થઈ ગયા છે, તિરોહિત થઈ ગયા છે. આ શ્લોક વડે આચાર્યચરણો સૂચિત કરી રહ્યાં છે કે, આ બધા માર્ગ નષ્ટ થઈ જવાથી હવે આધુનિક સમયમાં જીવોની કોઈ ગતિ રહી ગઈ નથી. ભલે આ સમયમાં પ્રભુને પ્રાપ્ત કરવું અશક્ય બની ગયું હોય, છતાંય આપશ્રી આજ્ઞા કરે છે - હું, જેણે ભગવાનને સર્વસ્વ સમર્પણ કરી દીધું છે, એવા મુજ દાસની કૃષ્ણજ ગતિ થાય, મને શ્રીકૃષ્ણને જ પ્રાપ્ત કરવા છે, તે જ મારા આશ્રય છે - એવી આ શ્લોકમાં પ્રાર્થના છે. આ શ્લોકમાં આચાર્યચરણોએ **'એવ'** શબ્દનો પ્રયોગ કર્યો છે, જેનાથી જણાય છે કે કેવલ કૃષ્ણનો જ આશ્રય કરવો જોઈએ, બીજા કોઈ અન્ય દેવી-દેવતાઓનો નહિ. જે ધર્મ બહારથી કેવલ આભાસિત માત્ર થતો હોય પરંતુ અંદરથી દુષ્ટ હોય, તે ખલધર્મ કહેવાય છે. તાત્પર્ય આ કે દુષ્ટ અથવા દંભનો હેતુ રાખવાવાળા પાખંડીઓના ધર્મનો ફેલાવો જ્યાં થઈ ગયો હોય, એવા કળિકાળમાં કૃષ્ણજ આપણી ગતિ છે. એટલા માટે જ બૃહદ્-નારદપુરાણમાં ''કેવલ હરિનું નામ જ આપણું જીવન છે, તેનાથી અતિરિક્ત આ કળિકાળમાં આપણી બીજી કોઈ ગતિ નથી'' - આ પ્રકારે કહેવામાં આવ્યું છે.

શ્રીકલ્યાણરાયજી :- આપશ્રીએ ગ્રંથમાં આવેલ અગિયાર શ્લોકોની સંગતિ સમજાવી છે. આપશ્રી આચાર્યચરણોનું તાત્પર્ય સમજાવતાં કહે છે કે, ગ્રંથમાં પહેલા છ શ્લોક ધર્મના છ અંગો એટલે કે, દેશ-કાલ-દ્રવ્ય-કર્તા-મંત્ર અને કર્મને સુચવે છે અને આગળના ચાર શ્લોક ધર્મ-અર્થ-કામ અને મોક્ષને સુચવે છે. તેથી આ ગ્રંથમાં શ્લોકોની સંખ્યા દસ છે. બીજો અર્થ કરતાં આપશ્રી કહે છે કે, જેવી રીતે જીવનનો નિર્વાહ કરવા માટે શાસ્ત્ર માં દસ પ્રકારના પ્રાણો બતાવ્યા છે, તેવી રીતે આ ગ્રંથમાં પ્રયોગ થયેલ દસ શ્લોકો પણ આપણા જીવનના સાધક છે. અગિયારમાં શ્લોકમાં આ ગ્રંથની ફલશ્રુતિ છે. ત્રીજો અર્થ કરતાં આપશ્રી કહે છે કે, ભગવાન દસ પ્રકારના ભક્તો દ્વારા સેવ્ય છે, તેથી અહિંયાં શ્લોકોની સંખ્યા દસ છે. જે ધર્મનું સ્વરૂપ ભીતરથી દુષ્ટ હોય એટલે કે આડંબર હોય, તેને ખલધર્મ કહેવાય છે. વર્તમાનમાં સર્વત્ર આવી જ પરિસ્થિતિ દેખાતી હોવાનાં કારણે કેવલ શ્રીકૃષ્ણજ આપણો ઉદ્ધાર કરી શકે છે - આ આચાર્યચરણોનું તાત્પર્ય છે. ''કૃષ્'' શબ્દ સત્તાનો વાચક છે અને 'ણ' શબ્દ આનંદનો વાચક છે, આ બન્નેથી મિશ્રિત સ્વરૂપ હોવાને કારણે ભગવાનને 'કૃષ્ણ' કહેવાય છે - આવા સદાનંદ પુરુષોત્તમમાં પ્રીતિ થઈ જવાને આશ્રય કર્યું કહેવાય છે. કારણકે લૌકિક-અલૌકિક સમસ્ત કાર્યોના સાધક ભગવાન શ્રીકૃષ્ણ જ છે. તેથી લોકો માં પ્રચુર પાખંડ ફેલાઈ જવાની પરીસ્થિતિમાં કૃષ્ણજ મારી ગતિ થાય, એવો અર્થ છે. તેજ પાખંડતાને કારણે પુરુષાર્થ પ્રાપ્ત કરવાનાં ઉપાય કર્મ-જ્ઞાન વગેરે નષ્ટ થઈ ગયાં છે. લોકમાં એવો ભ્રમ ફેલાઈ ગયો છે કે સ્વર્ગસુખ આપણને આત્મસુખ આપશે. તેથી ચિત્તની શુદ્ધિ ન થવાના કારણે કર્મમાર્ગ; માયાવાદ જેવા ભ્રામક શાસ્ત્રોમાં ગુંચવાઈ જવાને કારણે જ્ઞાનમાર્ગ; નાસ્તિકતાના કારણે યોગ અને પ્રભુ શ્રીકૃષ્ણને છોડીને અન્યદેવતાઓની ઉપાસના કરવાથી ઉપાસનામાર્ગ નષ્ટ થઈ ગયો છે. કારણકે આ બધા માર્ગો મુખ્યફળ ભગવાન શ્રીકૃષ્ણની પ્રાપ્તિ કરવા માટે સહાયક નથી. આ શ્લોકમાં પ્રયુક્ત થયેલ **'એવ'** શબ્દ આ સૂચિત કરે છે કે, કેવલ શ્રીકૃષ્ણ જ મારી ગતિ થાય, અન્ય ભગવાનનાં બીજા અંશ-કલા વગેરે અવતારો નહિ. આપશ્રી અહિંયાં એક શંકા કરતાં કહે છે કે, ભક્તિમાર્ગીઓને પણ કલિકાલ બાધક તો થાય જ છે. તેઓની પણ ગૃહ-પરિવાર વગેરે માં આસક્તિ તો હોય છે. તેઓ પણ લૌકિક કાર્યો તો કરે છે અને તેમનાથી પણ પાપ થવાની શક્યતા તો બનીજ રહે છે, તો પછી આચાર્યચરણો આ ગ્રંથમાં ભક્તિમાર્ગને ઉદ્ધાર કરવાવાળો અને મુખ્યફલનો સાધક કેવી રીતે કહી રહ્યાં છે ? આ શંકાનું સમાધાન કરતાં આપશ્રી શ્રીમદ્-ભાગવત ના ઉદાહરણો આપતાં બતાવે છે કે, ભક્તિમાર્ગમાં આવા દોષોને કોઇ સ્થાન નથી. હે પરિક્ષિત્ ! આમ તો કલિયુગ દોષોનો ભંડાર છે પણ આમાં સૌથી મોટો ગુણ આ છે કે, કલિયુગમાં ભગવાનનું માત્ર સંકીર્તન કરવાથી ભગવદ્-પ્રાપ્તિ થઈ જાય છે (શ્રી.ભા. ૧૨/૩/૫૧)''; ''સતયુગમાં ભગવાનનું ધ્યાન કરવાથી, ત્રેતામાં યજ્ઞ દ્વારા, દ્વાપરમાં ભગવાનની સેવાથી જે ફળ મળે છે, તે કલિયુગમાં કેવલ તેમના નામનું કીર્તન કરવાથી મળી જાય છે (શ્રી.ભા. ૧૨/૩/૫૨)'' વગેરે વાક્યો દ્વારા સિદ્ધ થાય છે કે, કલિકાળ બાધક નથી અને અલ્પ સમયમાં જ ફળસિદ્ધિ કરાવી દેવાના કારણે ઉલટું સાધક છે. અને ''જે લોકોનો સમય મારી કથા વાર્તાઓમાં જ વીતે છે, તે ગૃહસ્થાશ્રમમાં પણ રહે તો પણ ઘર તેને બાંધી શકતા નથી (શ્રી.ભા. ૪/૩૦/૧૯)'' વગેરે વાક્યો દ્વારા ભગવદ્પરાયણ જીવો માટે ઘર બંધનનું કારણ થતાં નથી. ''જોકે સમસ્ત લૌકિકકર્મો મનુષ્યને સંસાર ચક્રમાં ફસાવે છે પંરતુ ભગવાનને બધુંજ સમર્પિત કરી દેવાથી તેની લૌકિકતા નષ્ટ થઈ જાય છે (શ્રી.ભા. ૧/૫/૩૪)'' વગેરે વાક્યોથી ભગવદીયોની લૌકિકક્રિયા પણ અલૌકિકની જેમ થઈ જાય છે અને જો જીવ ભગવદ્સેવા કરતો હોય,

તો તેને શાસ્ત્રોમાં કહેલ વૈદિકકર્મોને ન કરવાથી પણ દોષ લાગતો નથી. ''જે લોકો મારી ભક્તિ કરે છે તે દંડના પાત્ર હોતા નથી. તેઓ પાપકર્મ તો કરતાંજ નથી, જો કરે તો ભગવદ્‌ગુણાનુવાદ તે પાપોને તત્કાલ નષ્ટ કરી દે છે. (શ્રી.ભા. ૬/૩/૨૬)'' વગેરે વાક્યો દ્વારા જો તેઓ પાપ કરે તો પણ તેમને નર્કમાં જવું પડતું નથી કારણકે ભગવદ્‌કીર્તનથી તેમના પાપોનો નાશ થઈ જાય છે. ''અતિશય દુરાચારી પણ જો મારું ભજન કરે તો તેને સાધુ સમજવો જોઈએ. (ભ.ગી. ૯/૩૦)'' વગેરે વાક્યો દ્વારા જો આચાર વિચાર ન હોય, તો પણ ફલસિદ્ધિ થઈ જાય છે. આજ વાત આચાર્યચરણોએ તત્વાર્થદીપનિબંધમાં કહી છે કે - વર્તમાનમાં કલિયુગના પ્રભાવથી સમસ્ત ધર્મોના અધિકાર સમાપ્ત થઈ ગયા છે. તેથી જો ભક્તિપૂર્વક કૃષ્ણની સેવા કરવામાં આવે તો આ કલિયુગ તેમને ફળદાયી થશે. (શા.પ્ર./૧૯). તેથી ભક્તિથી પ્રાપ્ત કરેલું ફળ અન્ય બીજા માર્ગથી પ્રાપ્ત થઈ શકતું નથી, તેથી ભક્તિની તુલના કર્મથી લેશમાત્ર પણ થઈ શકતી નથી.

શ્રીદ્વારકેશ્વરજી :- આ શ્લોકનું વિવેચન કરતાં આપશ્રી પૂર્વપક્ષીની એક શંકા કરે છે કે, આ ગ્રંથમાં કૃષ્ણનો આશ્રય કરવાનું વિધાન તો છે પરંતુ આપણા શાસ્ત્રોમાં ભગવત્‌પ્રાપ્તિનાં અનેકો સાધન ઉપલબ્ધ છે જ, તો તેમને છોડી ને આચાર્યચરણો કેવલ આશ્રય કરવાનો જ ઉપદેશ કેમ આપી રહ્યાં છે ? અને, ભગવાનની નવવિધ લીલાઓનું જ્ઞાન થઈ જવા પછી આશ્રય અથવા તો આશ્રયજ્ઞાન આપમેળે જ થઈ જશે, તો પછી આચાર્યચરણોને આશ્રયનું જ્ઞાન કરાવવાવાળા આ કૃષ્ણાશ્રયગ્રંથની રચના કરવાની શી જરૂર પડી ? તો આ શંકાનું સમાધાન કરતાં આપશ્રી કહે છે કે ''ચતુર્વિધ-પુરુષાર્થ પ્રાપ્ત કરવા માટે જે જે સાધનોની આવશ્યકતા હોય છે, નારાયણનું આશ્રય કરવાવાળો મનુષ્ય તે સાધનો વગર જ તે પુરુષાર્થોને પ્રાપ્ત કરી લે છે'', ''આશ્રયથી બધું જ સિદ્ધ થઈ જશે. (વિ.ધૈ.આ/૯)'' વગેરે શ્લોકોમાં ભગવદ્‌આશ્રયને જ સર્વસાધક કહેવામાં આવ્યું છે. એટલે આચાર્યચરણો - કૃષ્ણજ મારી ગતિ થાય - આમ કહીને આશ્રયનો ઉપદેશ કરી રહ્યાં છે. અહિંયાં આશ્રય કરવાનો અર્થ આ નથી કે, આપણને ભગવાનનો આશ્રય કરવામાં રૂચિ છે કે નહિ, પહેલા આ જાણી લઇએ અને પછી આશ્રય કરીયે. પરંતુ આપણને આ વિચાર કરીને આશ્રય કરવો જોઇએ કે, ભગવદ્‌આશ્રય વગર આપણું કોઈ પણ કાર્ય સિદ્ધ થઈ શકતું નથી અને આપણે આપણા સામર્થ્ય દ્વારા કોઈપણ કાર્ય સિદ્ધ કરી શકતાં નથી. પ્રભુ આપણા આશ્રય બને, એ તો એમની ઈચ્છા પર આધાર રાખે છે પરંતુ ભગવાન આપણા આશ્રય બને કે ના બને, આપણને તો સર્વથા એમના આશ્રયની જ ભાવના કરવી જોઇએ. આવી ભાવના દ્વારા જેઓ ભગવાનને શરણાગત થાય છે, તેમને આશ્રય અવશ્ય સિદ્ધ થાય છે. નહીંતર તો ''જેઓ અનન્યભાવથી મારૂં ભજન કરે છે, તેમના યોગક્ષેમનો વહન હું સ્વયં કરું છું. (ભ.ગી. ૯/૨૨)'', ''મારા ભક્તનો કયારેય વિનાશ થતો નથી. (ભ.ગી. ૯/૩૧) વગેરે શ્લોકોમાં પોતાના શરણાગત થયેલા જીવો માટે કહેલ ભગવાના વ્રત જ ભંગ થઇ જશે. આ શ્લોકમાં ''**સર્વમાર્ગેષુ નષ્ટેષુ**'' વગેરે શબ્દોની વ્યાખ્યા કરતાં આપશ્રી કહે છે કે, શ્રુતિ-સ્મૃતિ-પુરાણ વગેરેમાં કહેલ ધર્મો તો ત્યાં બતાવેલ સાધનો દ્વારા જ ફલ આપી શકે છે પરંતુ આ કલિકાળમાં દેશ-કાલ વગેરે ધર્મના સાધનો આપણને ધર્મનું યોગ્ય ફલ આપી શકતા નથી કારણકે આ બધા સાધનો ભ્રષ્ટ થઈ ગયા છે. આજ વાત આપશ્રીએ આ શ્લોકમાં કહી છે. તાત્પર્ય આ છે કે આ કલિકાલમાં બધાંજ માર્ગો નષ્ટ થઈ જવાને કારણે હવે દૈવીજીવોએ ''કૃષ્ણજ મારી ગતિ છે'' આ પ્રકારે આશ્રય કરવો જોઇએ. અહિંયાં એક શંકા કરતાં આપશ્રી કહે છે કે જેવી રીતે સતયુગ વગેરે યુગો ધર્મના સાધક કહેવાતા હતાં, તેવીજ રીતે આ કલિયુગને પણ ધર્મનું સાધન માની લેવામાં શો દોષ છે ? આ શંકાનું સમાધાન કરતાં આપશ્રી કહે છે કે આ કલિયુગનું સ્વરૂપ ખલધર્મી થઈ ગયું છે. કલિયુગનું આવું સ્વરૂપ શ્રીમદ્‌-ભાગવતમાં ''શૂદ્રનાં રૂપમાં કલિયુગ ગાય-બળદ બનેલા પૃથ્વી અને ધર્મને લાકડી થી મારતો હતો (૧/૧૭/૧)'' આ શ્લોકમાં બતાવ્યું છે. પરંતુ અહિંયાં આ સંદેહ થાય છે કે આ પ્રકારે કલિયુગમાં ધર્મનો ત્યાગ કરવાવાળા થોડાક જ વ્યક્તિ તો હશે, બધાં તો નહિ. તો પછી બધાંને કેવી રીતે દુષ્ટ કહેવામાં આવ્યા ? આ શંકાના સમાધાને સમજવું જોઇએ કે આરંભમાં બધાંજ દુષ્ટ નથી હોતા, તેથી તેમનામાં પાખંડ એટલો બધો પ્રચુર હોતો નથી. પરંતુ અન્ય અધર્મીઓના સંસર્ગથી તેઓની બુદ્ધિ પણ મલિન થઇ જાય છે, આ આશયથી આચાર્યચરણોએ અહિંયાં પાખંડની પ્રચુરતા બતાવી છે. આનાથી સિદ્ધ થાય છે કે બહિર્મુખો નો સંગ થવાથી સન્માર્ગ છુટી જવાનો ભય રહે છે. આજ વાત ''જે વ્યક્તિ અનધિકારી થઇને પરમાત્માના સ્વરૂપ ને બીજી રીતે પ્રતિપાદિત કરે છે, શું તે ચોર, આત્માનું અપહાર કરવાવાળાએ કોઇ પાપ નથી કર્યો ? આ વાક્યમાં કહેવાઈ છે. તેથી આપશ્રી કહે છે કે, સમસ્ત માર્ગો નષ્ટ થઈ ગયા છે અને આવો ખલધર્મી કલિયુગ પ્રગટ થઈ ગયો છે અને લોકોમાં પ્રચુરપાખંડ ફેલાઈ ગયો છે. તેથી આવી સ્વનાશની પરિસ્થિતિ ઉત્પન્ન થઈ જવાને કારણે વિવિધ શંકાઓથી ગ્રસ્ત પોતાના નિજજનોના અંતઃકરણોને આચાર્યચરણ ઉપદેશ આપી રહ્યાં છે - કૃષ્ણ

જ મારી ગતિ છે. આવા નિઃસાધન જીવોના સમસ્ત પ્રતિબંધકોને દૂર કરી કેવલ ભક્તિથી પ્રાપ્ત થવાવાળા પૂર્ણપુરુષોત્તમ શ્રીકૃષ્ણ જ ઉદ્ધાર કરવામાં સમર્થ છે અને તે પણ ''હું તારો છું (તવાસ્મિ)'' કેવલ આટલું કહી દેવાથી. ટીકાકાર અહિંયાં 'એવ' શબ્દનો તાત્પર્ય સમજાવતાં કહે છે કે, ભગવાનના સમસ્ત અંશકલા-અવતારોને છોડી ને કેવલ કૃષ્ણજ મારી ગતિ છે - આ પ્રકારે આચાર્યચરણોએ કહ્યું છે. આજ ભાવ આગળના સમસ્ત શ્લોકોમાં પણ સમજી લેવી જોઇએ.

શ્રીવ્રજરાજચરણ :- આ શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં આપશ્રી કહે છે કે, આચાર્યચરણોએ ભગવદ્આજ્ઞા મુજબ જીવોનો ઉદ્ધાર કરવા માટે નિબંધમાં ભક્તિમાર્ગનો ઉપદેશ કરીને તેને દુઃસાધ્ય બતાવ્યું છે. કારણકે પ્રતિદિન કલિકાળ અધિકતાથી વધી રહ્યો છે. તે જ પ્રમાણે વિવેકધૈર્યાશ્રયગ્રંથમાં આપશ્રીએ વિવેક અને ધૈર્યસહિત આશ્રયનો ઉપદેશ આપ્યો છે. આશ્રય તો પૂર્ણરૂપથી સર્વદા ભગવાનને શરણાગત થવા પરજ સિદ્ધ થાય છે. ટીકાકાર આગળ બતાવે છે કે આશ્રય કાયિક-વાચિક-માનસિક આમ ત્રણ પ્રકારનો હોય છે. ભલે આવા ત્રણ પ્રકારની શરણાગતિ હોય પરંતુ કોઈપણ શરણાગતિને સિદ્ધ થવામાં મૂળકારણ તો ભગવદ્-અનુગ્રહ જ છે. જેવી રીતે શ્રીમદ્-ભાગવતમાં કહેલ ''હે પ્રભુ ! હું ભટકતો આપના ચરણકમલોની છાયામાં આવી પહોંચ્યો છું, જે દુષ્ટો માટે દુર્લભ છે. આને હું આપની જ કૃપા માનું છું (શ્રી.ભા. ૧૦/૪૦/૨૮)'' આ વાક્ય દ્વારા અક્રૂરજીએ પોતાના અનુભવથી શરણાગતિ પ્રગટ કરી છે, તેવી શરણાગતિ તો આજના સમયમાં થવી કઠિન છે. વિવેકધૈર્યાશ્રયગ્રંથમાં આ પણ નથી બતાવ્યું કે કલિકાળમાં ભક્તિ વગેરે માર્ગો શા માટે દુઃસાધ્ય છે ? જોકે આચાર્યચરણોએ આશ્રયની ચર્ચા નિબંધમાં કરી છે, તો પણ તેને સમજવું કઠિન છે. તેથી આપશ્રી આ ગ્રંથમાં આશ્રયનો ઉપદેશ કરી રહ્યાં છે. શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં ટીકાકાર કહે છે કે, જેવી રીતે અક્રૂરજીએ શરણાગત થઈને ભગવાનને પ્રાર્થના કરી અને ભગવાને પ્રસન્ન થઈને તેમને દર્શન આપ્યાં, તેવી રીતે આચાર્યચરણો દ્વારા પ્રકટ થયેલ ભક્તિમાર્ગનું ફલદાન કરવામાં પ્રસન્ન થયેલા ભગવાનથી આ ગ્રંથનો પાઠ કરવાથી આશ્રયદાન કરવા માટે આપશ્રીએ પ્રાર્થના કરી, ત્યારે ભગવાને પણ પ્રસન્નતાપૂર્વક સ્વીકાર્યું - આજ વાતને બતાવતો આ પ્રાર્થનારૂપી સ્તોત્ર છે, એમ જાણી લેવું જોઇએ. ''સર્વમાર્ગ'' શબ્દનો અર્થ કરતાં ટીકાકાર કહે છે કે, શાસ્ત્રોમાં પ્રભુપ્રાપ્તિમાટે બતાવેલ બધા જ માર્ગનો અર્થ સર્વમાર્ગ છે; વર્તમાનમાં આ બધા માર્ગો નષ્ટ થઈ ગયા છે. આનો અર્થ આ છે કે, આ માર્ગોનો ઉપદેશ કરવાવાળા હવે દુર્લભ થઈ ગયા છે, તેથી આ બધા માર્ગો તિરોહિત થઈ ગયા છે. આ કારણે આચાર્યચરણો આજ્ઞા કરે છે કે ભગવાન શ્રીકૃષ્ણ જ મારી ગતિ થાય અર્થાત્ શ્રીકૃષ્ણ જ મારા સાધન-ફલરૂપ બને. જે કાલમાં ધર્મનું આંતરિક સ્વરૂપ દુષ્ટ હોય, એવા ધર્મને ખલધર્મ કહેવાય છે. આનું વિશ્લેષણ કરતાં આપશ્રી કહે છે કે લોકોમાં પાખંડ પ્રચુર માત્રામાં ફેલાઈ ગયો છે, તેથી કાલનું સ્વરૂપ ખલધર્મી થઈ ગયું છે. ''પાષંડ'' નો અર્થ આ છે કે, જેવી રીતે જૈનધર્મમાં દયા-અહિંસા વગેરેનું કોરું નાટક કરવામાં આવે છે, તેવા પ્રકારના પાષંડની પ્રચુરતા થઈ ગઈ છે. સપ્તમીવિભક્તિ ઉપર વિશેષ પ્રકાશ પાડતા આપશ્રી કહે છે કે, આ શ્લોકમાં અનાદર-અર્થમાં સપ્તમીવિભક્તિ સમજવી જોઇએ. આનો અર્થ આ છે કે - ભલે કલિકાળમાં સર્વમાર્ગો નષ્ટ થઈ ગયા હોય, કાલનું સ્વરૂપ ખલધર્મી થઈ ગયું હોય, લોકમાં પાખંડ ફેલાઈ ગયો હોય છતાંય આ બધાનો અનાદર કરતાં એટલે કે પરવાહ ન કરતાં કેવલ કૃષ્ણ જ મારા આશ્રય થાય, એમ સમજવું. આપશ્રી આગળ કહે છે કે શ્રીમદ્-ભાગવતમાં કહેલ ''હે પરિક્ષિત્ ! કલિયુગમાં ભગવાનનું કીર્તન કરવાથી ભગવદ્પ્રાપ્તિ થઈ જાય છે (શ્રી.ભા. ૧૨/૩/૫૧)'', ''કલિયુગમાં ભગવાનનું કીર્તન કરવાથી કાર્ય સિદ્ધ થઈ જાય છે. એટલે શ્રેષ્ઠપુરુષો કલિયુગની ઘણી પ્રશંસા કરે છે (શ્રી.ભા. ૧૧/૪/૩૬)'' વગેરે વાક્યોમાં કલિયુગની સ્તુતિ કરવામાં આવી છે. તેથી લોકમાં આવો ભ્રમ ફેલાઈ ગયો છે કે કલિયુગ ભગવદ્પ્રાપ્તિમાં ઘણો સાધક છે. આવા ભ્રમનું નિરાકરણ કરવા માટે આચાર્યચરણોએ કલિકાલ અને લોકના દોષનું વિવરણ આ ગ્રંથમાં કર્યું છે. તાત્પર્ય આ છે કે મોહમાયાથી છુટવા માટે કેવલ કલિકાલમાં જ નહીં, પરંતુ અન્ય સમસ્ત કાલોમાં પણ ભગવાનની શરણાગતિ સિવાય બીજું કોઈ સાધન નથી - આ આચાર્યચરણોનો આશય છે.

કેષાંચિત્ :- પ્રથમ શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં ટીકાકાર આશ્રયના બે સ્વરૂપ બતાવે છે. એક મર્યાદામાર્ગીય-આશ્રય અને એક પુષ્ટિમાર્ગીય-આશ્રય. આપશ્રી કહે છે કે પુષ્ટિમાર્ગીય-આશ્રય ગૂઢ છે, તેથી આચાર્યચરણો તેના સાધન અને ફલસ્વરૂપને પરોક્ષવાદથી નિરૂપિત કરી રહ્યાં છે. જે વાત સીધેસીધી કહી દેવામાં આવે, તેને પ્રત્યક્ષરૂપથી કહેવું કહેવાય છે. અને જે વાત સીધેસીધી ન કહેતાં ફેરવી ફેરવીને કહેવાય, તેને પરોક્ષરૂપથી કહેવું કહેવાય છે. અહિંયાં ટીકાકાર કહી રહ્યાં છે કે, આ ગ્રંથમાં આચાર્યચરણોએ આશ્રયનો ઉપદેશ પરોક્ષરૂપથી આપ્યો છે. એનો અર્થ આ છે કે, પુષ્ટિમાર્ગીય-આશ્રય ગૂઢ છે જેથી બધા પ્રકારના અધિકારીઓ સામે પ્રત્યક્ષરૂપથી આની ચર્ચા ન હોવી જોઈએ. તેથી આચાર્યચરણો પરોક્ષરૂપથી ઉપદેશ આપી રહ્યાં

છે. આ ગ્રંથમાં કહેવાયું છે કે ધર્મના છ અંગો વિફલ થઈ ગયા છે, વર્તમાન પરિસ્થિતિયો બગડી ચૂકી છે, જીવમાં વિવેક, ભક્તિ વગેરે નથી, તે પાપાસક્ત થઈ ગયો છે, વગેરે વગેરે. આ બધા કારણોથી શ્રીકૃષ્ણનો આશ્રય કરવો જોઈએ. આ જ પરોક્ષરૂપથી કહેવું થયું. કારણકે માની લો, જો પરિસ્થિતિ આ પ્રકારે બગડેલી ન હોત તો શું કૃષ્ણનો આશ્રય નહોતો કરવો જોઈતો હતો ? પરંતુ આચાર્યચરણ બધા પ્રકારના અધિકારીઓને ધ્યાનમાં રાખીને બગડેલી પરિસ્થિતિનો હવાલો આપતાં પરોક્ષરૂપથી કહી રહ્યાં છે. ટીકાકાર કહે છે કે પરમકૃપાળુ ભગવાન જ્યારે સહજકરૂણાથી પુષ્ટિફલનું દાન કરવા માટે જીવનું વરણ કરે છે, ત્યારે તે જીવને ભગવાનમાં સહજ પ્રીતિ ઉત્પન્ન થઈ જાય છે અને ભગવદ્સેવા વગેરેમાં તેનું ચિત્ત ચોંટવા લાગે છે; ભગવાન સિવાય બીજા ધર્મોમાં પછી એની પ્રવૃત્તિ થતી નથી. તે પછી આવી રીતે પ્રેમપૂર્વક ભગવદ્સેવા કરવાથી જીવમાં પુષ્ટિમાર્ગીય ભાવાંકુર ઉત્પન્ન થાય છે. અર્થાત્ ''ભગવાનની સાથે વાર્તાલાપ, દર્શન મળવું (સુબો. ૧૦/૧૮/૭; કારિકા - ૮)'' વગેરે વાક્યોમાં કહેલ ભાવના ઉત્પન્ન થાય છે. પરંતુ જ્યારે લૌકિક દુઃસંગથી તેના ભાવમાં પ્રતિબંધો ઉત્પન્ન થાય છે, ત્યારે તેના મનમાં વિરહતાપ ઉત્પન્ન થાય છે, જે વિરહતાપ ભગવાન સિવાય બીજું કોઈ અન્ય દૂર કરી શકતું નથી. તેનાથી તેમાં ભગવાનની શરણાગતિનો ભાવ ઉત્પન્ન થઈ જાય છે. તેથી આચાર્યચરણો આ ગ્રંથમાં શરણાગતિના સ્વરૂપનું નિરૂપણ કરી રહ્યાં છે. ટીકાકાર કહી રહ્યાં છે કે, એક પુષ્ટિમાર્ગીયજીવ માટે કર્મ-જ્ઞાન-ઉપાસના વગેરે સમસ્ત માર્ગો નષ્ટ થઈ ગયા છે, કેવલ એક પ્રમેયમાર્ગ (પુષ્ટિમાર્ગ) શેષ રહી ગયો છે. અથવા તો 'નષ્ટ' શબ્દનો અર્થ આ રીતે લઈ શકાય છે કે - આ સમસ્ત માર્ગો જીવો માટે અજ્ઞાત છે કારણકે તેમને આ બધા માર્ગોનો ત્યાગ કરી દીધો છે. તાત્પર્ય એ છે કે પુષ્ટિમાર્ગીયજીવો માટે આ બધા માર્ગો તરફ દૃષ્ટિ કરવી અથવા તો તે માર્ગોને જાણવાની ઈચ્છા રાખવી, આ બધું પુષ્ટિમાર્ગમાં પ્રતિબંધક છે - આ ભાવ છે. ટીકાકાર આગળ કહે છે - જોકે શ્રીમદ્ભાગવતમાં ''હે પરિક્ષિત્ ! આમ તો કલિયુગ દોષોનો ભંડાર છે પરંતુ આમાં એક ગુણ આ છે કે, કલિયુગમાં ભગવાનનું કેવલ સંકીર્તન કરી લેવાથી ભગવદ્પ્રાપ્તિ થઈ જાય છે (૧૨-૩-૫૧)'', ''કલિયુગમાં કેવલ સંકીર્તન કરવાથી સમસ્ત સ્વાર્થ પરમાર્થ બની જાય છે. (૧૧-૫-૩૬)'' વગેરે વચનોમાં કલિયુગને ભગવદ્ભજનને અનુકૂલ કહેવામાં આવ્યું છે, તો પણ જાણી લેવું જોઈએ કે આ સમય ભગવાનના અવતારનો નથી અને આ સમયમાં ભગવાનના આધિદૈવિક સ્વરૂપનો પણ અભાવ છે, તેથી પુષ્ટિમાર્ગીયો માટે કલિયુગની અનુકૂલતા નષ્ટ થઈ ગઈ છે. તેથી આચાર્યચરણો કલિકાલને બાધક કહી રહ્યાં છે. ટીકાકાર આગળ લખે છે કે, આજના સમયમાં ભૌતિકરૂપથી જે પ્રત્યક્ષ દેખાવામાં આવે, તેને જ લોકો પ્રમાણ માને છે. તેથી મર્યાદામાર્ગની રીતથી જે પૂજા-અર્ચના કરવામાં આવે છે, તેને જ લોકો પ્રમાણ ગણે છે. તેથી કરીને મર્યાદામાર્ગીઓને તેનું ફળ પણ મુકિત જ મળે છે, સાક્ષાત્ પ્રભુપ્રાપ્તિ નહિ. આજ કારણે આચાર્યચરણો આજ્ઞા કરી રહ્યાં છે કે, લોકોમાં પાષંડ પ્રચુરમાત્રામાં ફેલાઈ ગયું છે. અર્થાત્ આજના સમયમાં લોકો ધર્મિસ્વરૂપ ભગવાનને છોડીને કેવલ સ્વાર્થપૂર્તિ કરવા માટે ધર્માચરણ કરી રહ્યાં છે. આ પરિસ્થિતિમાં પુષ્ટિમાર્ગીયજીવ જો આજના સમય મુજબ મર્યાદામાર્ગીય રીતે પૂજન વગેરે ન કરીને પુષ્ટિમાર્ગીય રીતે ભગવદ્સેવા કરે, તો સમાજ એને દોષદૃષ્ટિથી જુએ છે, તેથી આચાર્યચરણો કાલને અસાધક કહી રહ્યાં છે. આપણા ઘરમાં પણ આ જ પરિસ્થિતિ છે. આપણને ભગવદ્-સેવામાં રૂચિ હોય અને પરિવારજનો મર્યાદામાર્ગીય હોય, તો તેમનો સંગ આપણાં માટે બાધક બને છે. ટીકાકાર <u>પાષંડ</u> શબ્દનો બીજો અર્થ કરતાં કહે છે કે,પાષંડનો અર્થ છે- પોતાના પુષ્ટિમાર્ગીય સ્વધર્મને બીજાઓથી છુપાવી લેવું અને બહારથી કોઈ બીજા ધર્મને પ્રકટ કરવું. કારણકે અન્ય લોકો પુષ્ટિમાર્ગીય-ભાવવૃદ્ધિમાં વિજાતીય છે અને પ્રતિબંધ પેદા કરે છે, તેથી એવી રીતે પાષંડ કરવો જેનાથી આપણા પોતાના આંતરિક ભાવોને કોઈ ન જાણી શકે. આવા પ્રતિબંધકોનું નિવારણ કરવાવાળા સાક્ષાત્ શ્રીકૃષ્ણ જ છે. તેથી આચાર્યચરણો કૃષ્ણ જ મારી ગતિ છે, એમ આજ્ઞા કરી રહ્યાં છે.

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ।। २ ।।

શ્રીરઘુનાથજી :- આપશ્રી લખે છે કે ધર્મપાલન વગેરેની ઈચ્છા રાખવાવાળા વ્યક્તિઓને રહેવા લાયક કુરુક્ષેત્ર-ગંગાતટ વગેરે પુણ્યસ્થળો મ્લેચ્છોથી વ્યાપ્ત થઈ રહ્યાં છે. અહિંયાં બતાવેલ મ્લેચ્છ જાતિથી પણ મ્લેચ્છ છે અને કર્મથી પણ મ્લેચ્છ છે. એક શંકા કરતાં આપશ્રી કહે છે, ભલે ધર્મસ્થળો મ્લેચ્છોથી વ્યાપ્ત થઈ ગયા હોય, પરંતુ ત્યાં પુણ્યાત્માઓ પણ નિવાસ

કરે જ છે, તો તેમની સંગ ધર્માચરણ કેમ ન કરી શકાય ? આનું સમાધાન કરતાં આપશ્રી કહે છે કે કલિકાલથી ગ્રસ્ત થવાને લીધે આ બધાં ધર્મસ્થળો કેવળ પાપના જ ઘર બની ચૂકયાં છે. 'ચ' શબ્દથી આ જણાય છે કે, તે સ્થળો પણ આપણું કલ્યાણ કરી શકતા નથી. તો પછી એક શંકા આ થાય કે ભગવાનનું જપ, તપ, સ્મરણ આપણું કલ્યાણ કરી શકે કે નહિ ? આ શંકાનું સમાધાન કરતાં ટીકાકાર લખે છે કે સત્પીડા અર્થાત્ સત્પુરુષ-ધાર્મિક-ભગવદ્પરાયણોને પણ જે પીડા ન થવી જોઈએ, તેવી પીડા થતી હોવાને કારણે અન્ય બીજાઓનો ધર્મ પરથી વિશ્વાસ ડગાઈ જાય છે, તેથી ભગવદ્સ્મરણમાં તેમની પૂર્ણનિષ્ઠા થઈ શકતી નથી.

શ્રીકલ્યાણરાયજી :- આ શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં આપશ્રી લખે છે - દેશમાં હીનજાતિના લોકોનું આક્રમણ થઈ રહ્યું છે. પરંતુ એક શંકા આ થાય છે કે બધા મ્લેચ્છો તો દુષ્ટ નથી હોતા, કોઈ મ્લેચ્છો ન્યાયપ્રિય પણ હોય છે, તેવા મ્લેચ્છોનો સંગ કરવામાં શો દોષ છે ? આનું સમાધાન કરતાં આપશ્રી લખે છે કે, ભલે તેઓ ન્યાયપ્રિય હોય પરંતુ આખરે છે તો પાપરૂપ અને પાપનું ઘર જ. અથવા તો આ સમજવું જોઈએ કે અંગ, બંગ વગેરે દેશોમાં રહેવાવાળા દુષ્ટજનોનો સંગ થઈ જવા પર, કે જેવા દેશોમાં ફક્ત ગમન કરવાથી બધા વૈદિક સંસ્કાર ફરી પાછા કરવા પડતા હોય - આ દેશ એવા મ્લેચ્છોથી આક્રાંત થઈ ગયો છે. આપશ્રી આગળ લખે છે કે, આજના સમયમાં સત્પુરુષોને પીડા થતી જોઈને બધા લોકો વ્યગ્ર થઈ ગયા છે અને સ્વધર્માચરણ અર્થાત્ પોતાના ધર્મનું આગ્રહ રાખવો જ એમની પીડાનું કારણ બન્યું છે - આ પ્રત્યક્ષરૂપથી દેખાય છે. એટલે આ કલિયુગમાં શું કરવું, શું ન કરવું; ધર્મ કરવો કે લૌકિકકાર્ય કરવા, આ નિશ્ચિતરૂપથી કહી શકાતું નથી. અને, ધર્માચરણનું પરિણામ શુભ જ થશે, આ પણ આ કલિયુગમાં નિશ્ચિતરૂપથી કહી શકાતું નથી. તેથી આચાર્યચરણો લખે છે કે, આવી પરિસ્થિતિમાં કૃષ્ણ જ મારી ગતિ છે.

શ્રીદ્વારકેશજી :- આપશ્રી લખે છે કે, આ દેશ સાક્ષાતરૂપથી કે પરંપરાથી મ્લેચ્છો દ્વારા આક્રાંત છે. મ્લેચ્છો દ્વારા આક્રાંતનો અર્થ આ છે કે, આપણાં પુણ્યસ્થળો પર ધર્મનાશ કરવા માટે દ્વેષપૂર્વક ધર્મને વિપરીત કાર્ય કરવુંજ મ્લેચ્છો દ્વારા આક્રમણ કરવું છે. આપણા પુણ્યસ્થળોમાં ઉત્પન્ન થતી સમસ્ત ધનસંપત્તિ, ઐશ્વર્ય, ધર્મ, પુણ્ય વગેરેને કેવલ મ્લેચ્છો જ ભોગવી રહ્યાં છે. તેથી કોઈપણ ધર્મસ્થળ હવે ધર્મનું સાધન રહ્યું નથી. મ્લેચ્છોમાં ભગવદ્ધર્મનો આવેશ હોતો નથી અને તેઓ સર્વથા કલહ કરવાવાળા હોય છે. થોડાક દેશો ધર્મને અનુકૂલ પણ હોય છે પરંતુ અધિકતર સ્થલ પાપના ઘર બની ચૂકયા છે. અર્થાત્ જ્યાં પાપ સિવાય બીજું કાંઈ નથી, એવા બની ચૂક્યા છે. એના લીધે જ આજે ધર્મની વાતો કયાંય પણ સંભળાતી નથી. આનાથી વિપરીત જે મ્લેચ્છો પાપી નથી, તેમણે પૂર્વજન્મમાં વૈષ્ણવ થઈને વેદનિંદા કરી હતી. તેથી તેમણે આ જન્મમાં મ્લેચ્છ દેશમાં જન્મ લીધો. પરંતુ પૂર્વસંસ્કારને લીધે તેમનો રૂઝાન સત્પુરુષો તરફ જ છે, પાપીઓ તરફ નહિ. પરંતુ અહિંયાં એક શંકા આ થાય છે કે, આ મ્લેચ્છોની સાથે સાથે ચારે વર્ણના લોકો અર્થાત્ બ્રાહ્મણ, ક્ષત્રિય, વૈશ્ય અને શૂદ્ર પણ રહી જ રહ્યાં છે, તો આ લોકો ધર્માચરણમાં કેમ સહાયક બની શકતા નથી ? આ શંકાનું સમાધાન કરતાં આપશ્રી લખે છે કે સ્થાયીચિત્ત/એકાંતચિત્તમાંજ ધર્મનું અનુસંધાન રહે છે. પરંતુ આજના સમયમાં સત્પુરુષ અને એમનું અનુકરણ કરવાવાળાઓને પીડીત જોઈને બધા લોકો વ્યગ્ર થઈ ગયા છે, ધર્મમાં તેમનું ચિત્ત એકાગ્ર થઈ શકતું નથી. આધુનિક સમયમાં સત્પુરુષોને પીડીત થતા જોઈને, હવે સત્પુરુષો પ્રાપ્ત થતા નથી. જેથી બીજાઓને સત્પુરુષોનો સંગ ન મળવાથી ધર્મ સિદ્ધ થતો નથી, જેનાથી લોકોમાં વ્યગ્રતા વધી ગઈ છે. આવી પરિસ્થિતિમાં શ્રીઆચાર્યચરણ આજ્ઞા કરે છે કે, શ્રીકૃષ્ણજ મારી ગતિ છે. અર્થાત્ આપણી પાસે જો સાધનોનો સર્વથા અભાવ હોય, ધર્મ પણ ન હોય, તો પણ કલ્પતરૂ (એવો વૃક્ષ જે માંગી વસ્તુ આપી દે) સ્વભાવવાળા, સમસ્ત ફલથી પણ અધિક ફલ આપવાવાળા શ્રીકૃષ્ણજ મારી ગતિ છે - આ પ્રકારે નિરંતર આશ્રય કરતાં રહેવું જોઈએ, આ આચાર્યચરણોના મહાવાક્યો છે.

શ્રીવ્રજરાજજી :- દ્વિતીયશ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં આપશ્રી લખે છે કે, શ્રીમદ્ભાગવતમાં કહેલ "મારા ભક્તજન, સાધુજન જે પવિત્ર દેશોમાં નિવાસ કરતાં હોય, ત્યાં નિવાસ કરવો જોઈએ. (૧૦-૨૯-૧૦)" વગેરે વાક્યોથી આ પ્રતીતિ થાય છે કે, પવિત્રસ્થળો પર નિવાસ કરવાથી ભગવદ્માર્ગો પર ચાલવું અનુકૂળ બની જાય છે. આ ભ્રમનું નિરાકરણ કરવા માટે આચાર્યચરણો મ્લેચ્છ વગેરે શબ્દોથી આવા પુણ્યસ્થળોમાં આવેલા દોષોને બતાવી રહ્યાં છે. એમ તો આચાર્યચરણોએ આ શ્લોકમાં આજ્ઞા કરી છે કે દેશ મ્લેચ્છો/યવનોથી આક્રાંત થઈ ગયો છે, પરંતુ આપશ્રીનું વાસ્તવિક તાત્પર્ય આ છે કે, અતિ તામસી લોકોથી દેશ આક્રાંત થઈ ગયો છે, વ્યાપ્ત થઈ ગયો છે. તામસી લોકોથી વ્યાપ્ત થવાનો અર્થ આ છે કે, આપણને

આવા લોકોની આજ્ઞાનુસાર જીવન વ્યતીત કરવું પડે છે. પાપૈક શબ્દની વ્યાખ્યા કરતાં આપશ્રી લખે છે કે, ધર્મસ્થળ એક માત્ર પાપ, વ્યભિચાર, દુર્જનતા, ચોરી વગેરેના ઘર બની ચૂક્યા છે. આ લોકોની દેખાદેખી બીજા અન્ય લોકો પણ ચુગલખોરી, વેશ્યાવૃત્તિ કરવા લાગી પડ્યા છે. સત્પીડા શબ્દની વ્યાખ્યા કરતાં આપશ્રી લખે છે કે, સતાં શબ્દનો અર્થ થાય છે - સ્વધર્મનું નિષ્ઠાથી પાલન કરવાવાળા લોકો; એમને પીડા થવાનો અર્થ આ છે કે, એમને વ્યર્થની ગાળાગાળી અને દંડ મળવાના કલેશને કારણે સજ્જનો ઉદ્વિગ્ન થઈ ગયા છે. આપશ્રી લખે છે કે, આ શ્લોકમાં આચાર્યચરણોએ કલિકાલ દ્વારા થવાવાળા ચાર દોષો કહ્યાં છે. (૧) તામસી લોકોનું પ્રભુત્વ (૨) પાપની બહુલતા (૩) સજ્જનોની પીડા (૪) તેમને થતો ઉદ્વેગ. આ ચાર પ્રકારના દોષોના ઉપદ્રવથી લોકોમાં ભલું કામ કરવાની શક્તિ રહી નથી. તેથી આ પ્રકારે સમસ્ત માર્ગોના નષ્ટ થઈ જવાપર આચાર્યચરણો આજ્ઞા કરે છે કે, કૃષ્ણજ મારી ગતિ છે.

કેષાંચિત્ :- આ શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં આપશ્રી લખે છે કે, જો સમસ્ત માર્ગ નષ્ટ થઈ ગયા હોય તો ભગવાનના લીલા સ્થળો પર અથવા તો હરિસ્થાનમાં જઈ સ્વધર્મનો નિર્વાહ કરવો જોઈએ - આવો વિચાર કરતાં હોય, તો આચાર્યચરણો આવા દેશોમાં પણ પ્રતિબંધકોની બહુલતા બતાવીને, આ દેશોને પણ અસાધક બતાવતા એક ભગવાનની શરણનું નિરૂપણ કરી રહ્યાં છે. આપશ્રી લખે છે કે જે કેવળ મલિન, અપવિત્ર, અશુદ્ધ પદાર્થની ઈચ્છા કરે છે, તે મ્લેચ્છ છે. મંત્રતંત્રના ઉપાસક અને કર્મમાર્ગિયો પણ મ્લેચ્છ છે. જો કે કર્મમાર્ગિયો એ જ કરી રહ્યાં છે, જે શાસ્ત્રમાં કહ્યું છે. પરંતુ પોતાના સ્વાર્થ માટે કરી રહ્યાં છે, ભગવદ્મુખ માટે નહિ. તેથી આચાર્યચરણો કર્મમાર્ગીયોને મ્લેચ્છ કહી રહ્યાં છે. આપશ્રી કહી રહ્યાં છે કે, સમસ્ત પુણ્યસ્થળો મ્લેચ્છોથી આક્રાંત છે, જેથી આવા ભગવદ્-સ્થળોથી ભગવાનની સમસ્ત લીલાઓ તિરોભૂત થઈ ચૂકી છે. જેનાથી ભગવદ્સ્થળો પણ ધર્મનાસાધક રહ્યાં નથી, આ ભાવ છે. આપણું ઘર તો, જો કે ભગવદ્ભાવને અનુકૂલ છે પરંતુ જો પરિવાર જનોનો ભાવ વિજાતીય હોય, તો આપણું ઘર પણ ભગવદ્ભજનમાં બાધક થઈ જાય છે. હવે જ્યાં માત્ર આટલાથી જ ગૃહ પણ ભગવદ્ભાવમાં પ્રતિબંધક બની જતો હોય, ત્યાં માત્ર સાંસારિક જીવોના સંસર્ગથી ભાવનાશ થઈ જાય તેમાં શું સંદેહ છે ? આજના લોકોના કર્મોમાં હિંસાની પ્રચુરતા થઈ જવાને કારણે આપશ્રી એવું કહી રહ્યાં છે. આ પરિસ્થિતિમાં કર્મમાર્ગોના અંતર્ગત ભગવાન માટે ઉપયોગી મંત્ર, ઉપાસના વગેરે તો અછૂતા જ રહી જાય છે અને તેમાં હિંસા, સ્વાર્થ વગેરેની જ પ્રાધાન્યતા રહે છે. તેથી આ શ્લોકમાં આચાર્યચરણો દેશની અસાધકતાની સાથે સાથે કર્મમાર્ગોમાં કહેલ મંત્ર-ઉપાસના-તાંત્રિક-અર્ચન વગેરેને પણ અસાધક કહી રહ્યાં છે. આદિ પદથી વિધિપૂર્વક કરવામાં આવતાં અર્થાત્ વિધિવિધાનથી કરવામાં આવતાં ભક્તિમાર્ગ, જ્ઞાનમાર્ગ, કર્મમાર્ગ વગેરે પણ પ્રભુપ્રાપ્તિમાં અસાધક જ છે, આ જણાય છે. સત્પીડા શબ્દની વ્યાખ્યા કરતાં આપશ્રી લખે છે કે, સજ્જનોએ આ સંસારથી નિવૃત્તિ લઈ લીધી છે, જેનાથી તેમના સદ્રૂપ દેહ-ઈન્દ્રિયોને પીડા આપવામાં આવે છે. તેને આપશ્રી સત્પીડા કહી રહ્યાં છે. આવા દુષ્ટદેશથી સંબંધ થઈ જવાને કારણે સજ્જનોની દેહ-ઈન્દ્રિયો પણ સંસારાવેશથી વિષયાસકત થઈ જાય છે. તેથી હવે આવી ઈન્દ્રિયોનું નિગ્રહ કરવું અશક્ય બની જાય છે, જેનાથી સંસારથી નિવૃત્તિ લઈ લેવાવાળા સજ્જનોને મનમાં ખેદ થાય છે. પોતાના સ્વધર્મનો નાશ થવાથી તેમને પીડા થાય છે અને તેઓ વ્યગ્ર થાય છે કે, હવે અમને પરલોકની પ્રાપ્તિ કઈ રીતે થશે ? આવી પરિસ્થિતિમાં જ્યાં સાધારણરૂપથી આચરણ કરવાવાળા લોકોથી ધર્મ-નિર્વાહ ન થતો હોય, ત્યાં ધર્મમાં અતિશ્રદ્ધા રાખવાવાળાઓનો ધર્મનિર્વાહ કેવી રીતે થાય ? તેથી ભગવદ્ભાવનું પોષણ કરવામાં પ્રતિબંધકોને દૂર કરવા ભગવાનનીજ શરણભાવના કરવી જોઈએ. આજ વાત આચાર્યચરણોએ વિવેકધૈર્યાશ્રયગ્રંથમાં ''મનને અલૌકિક બનાવવા માટે સર્વથા હરિની શરણભાવના કરવી જોઈએ (૧૩)'' આ વાક્ય દ્વારા કહી છે.

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

શ્રીરઘુનાથજી :- અહિંયાં આપશ્રી કોઈ પૂર્વપક્ષીની શંકા ઉપસ્થિત કરતાં કહે છે કે, ભલે ગંગા વગેરે પુણ્યદેશોમાં મ્લેચ્છોનો વાસ થઈ ગયો હોય, પરંતુ ત્યાં સાક્ષાત્ ગંગાજી તો વહે જ છે, શું ગંગાજીમાં પણ સામર્થ્ય નથી ? આ શંકાનું સમાધાન કરતાં આપશ્રી કહે છે કે, ગંગાતટ વગેરે તીર્થસ્થળોમાં આધિભૌતિક-આધ્યાત્મિક-આધિદૈવિક આમ ત્રણ સ્વરૂપો અવશ્ય છે અને આવા તીર્થસ્થળોમાં ભગવદ્રૂપજ સામર્થ્ય તરીકે વિદ્યમાન અવશ્ય છે, પરંતુ ભગવદ્-ઈચ્છાથી જ અધિકતર તે સામર્થ્ય

તિરોહિત થઈ ગયું છે, પૂર્ણરીતથી નહિ. તેથી ગંગાતટ જેવા મુખ્ય તીર્થસ્થળો મ્લેચ્છો અર્થાત્ દુષ્ટોથી ઘેરાઈ ગયા છે. અતઃ આ ભૂલોકમાં અથવા આ કાળમાં કૃષ્ણ જ મારી ગતિ છે, આ અર્થ છે.

શ્રીકલ્યાણરાયજી :- આપશ્રી લખે છે કે ગંગા જેવા ઉત્તમ તીર્થો દ્વારા સમસ્ત પુરુષાર્થોની સિદ્ધિ થઈ શકે છે, તો એને છોડીને આચાર્યચરણો કેવલ ભગવદ્આશ્રયનો જ ઉપદેશ કેમ કરી રહ્યાં છે ? અને ભલે આ બધા શ્રેષ્ઠતીર્થ દુષ્ટોથી ઘેરાઈ ગયા હોય અને તેનાથી કોઈ પુરુષાર્થની સિદ્ધિ ન થઈ શક્તી હોય, છતાંય ત્યાં બ્રાહ્મણ વગેરે ઉચ્ચજાતિના લોકો પણ રહે જ છે. તો પછી આ તીર્થો દુષ્ટોથી ઘેરાઈ ગયા છે, એમ કેમ કહેવાય ? આ શંકાનું સમાધાન કરતાં આપશ્રી લખે છે કે, આવા તીર્થક્ષેત્રોમાં નિવાસ કરતાં કરતાં બ્રાહ્મણોને પણ તીર્થોનો અતિ પરિચય થઈ જવાથી તેઓ તીર્થોનો અનાદર કરવા માંડ્યા છે. કહેવાય છે કે 'અતિપરિચયાદ્ અવજ્ઞા સતતં ગમનાદનાદરો ભવતિ' અર્થાત્ એક જ જગ્યાએ વારંવાર જવાથી માન ઘટી જાય છે અને અતિપરિચય થઈ જવાને કારણે કયારેક અપમાન પણ સહન કરવું પડી શકે છે. બ્રાહ્મણોને પણ એવી જ રીતે તીર્થોનો અતિપરિચય થઈ ગયો છે, તેથી તેમનામાં ભક્તિનો અભાવ થઈ ગયો છે તેમજ દાન લેવાની ઉપાધિથી તેઓ ગ્રસ્ત થઈ ગયા છે. પરંતુ એક સંદેહ આ થાય છે કે, ગંગાજલ તો પતિતોને પણ પાવન કરી દે છે, શું ગંગા જેવા તીર્થસ્થળો દુષ્ટોને પાવન નથી કરી શકતાં ? સમજવું જોઈએ કે ''ગંગાજલથી સો વાર સ્નાન કર્યા બાદ પણ જો કોઈના ભાવોમાં દુષ્ટતા હોય, તો તે વ્યક્તિ મરણપર્યંત સ્નાન કરતો રહે, તો પણ શુદ્ધ થઈ શકતો નથી'' - આ પુરાણવાક્યને અનુસાર અને ''માછલી, કાચબા, દેડકાઓ તો દિવસ-રાત ગંગાજલમાં નિવાસ કરે છે, પરંતુ તેમને ગંગાસ્નાનનું ફલ મળતું નથી'', ''જે મનુષ્ય શ્રદ્ધા-વિધિપૂર્વક શુદ્ધભાવથી કર્મ કરે છે, તે અનંતફલને પ્રાપ્ત કરે છે.'', ''અશ્રદ્ધાળુ-પાપાત્મા-નાસ્તિક-સંશયાત્મા-સ્વાર્થી આ પાંચ વ્યક્તિઓને તીર્થફળ પ્રાપ્ત થતું નથી.'' અને ''જેવી રીતે શરાબના ઘડાને નદિઓ પવિત્ર કરી શકતી નથી, તેવી રીતે ભગવાનથી વિમુખ વારંવાર પ્રાયશ્ચિત કરે, તો પણ પવિત્ર થઈ શકતો નથી. (શ્રી.ભા. ૬-૧-૧૮)'' વગેરે વાક્યોથી પણ આ સિદ્ધ થાય છે કે, ભગવદ્બહિર્મુખતા અને નાસ્તિકતા જેવા દોષોનું નિરાકરણ તીર્થક્ષેત્રો પણ નથી કરી શકતા. તિરોહિત શબ્દનો અર્થ થાય છે - અદૃશ્ય થવું; તેથી આચાર્યચરણોનું તાત્પર્ય એ છે કે, તીર્થોનું આધિદૈવિક સ્વરૂપ દુષ્ટો માટે તિરોહિત થઈ ગયું છે, પરંતુ સત્પુરુષો માટે તો પ્રકટજ છે. આ તીર્થોનું આધિદૈવિક સ્વરૂપ તિરોહિત થઈ ગયું છે અને તેમાં રહેલા દોષ પ્રત્યક્ષ તો દેખાતા નથી, તેથી સત્પુરુષ પણ તીર્થોને પાવન નથી કરી શકતા.

શ્રીદ્વારકેશ્વરજી :- આ શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં આપશ્રી લખે છે કે 'ગંગા માહાત્મ્ય' નામક ગ્રંથમાં તો ''જે વ્યક્તિ સો યોજન દૂરથી પણ ગંગા-ગંગા આવી રીતે નામ લે છે, તેના સમસ્ત પાપ ધોવાઈ જાય છે.'' આ પ્રકારે કહેવાયું છે તો પછી ગંગા જેવા તીર્થોને સંસર્ગદોષ કેવીરીતે બાધિત કરી શકે છે ? આ શંકાનું સમાધાન કરતાં આપશ્રી કહે છે કે, ગંગાના આધિદૈવિક, આધિભૌતિક અને આધ્યાત્મિક ત્રણ સ્વરૂપો અવશ્ય છે, પરંતુ દુષ્ટોથી ઘેરાઈ જવાના કારણે તેનો તીર્થરૂપ નષ્ટ થઈ ગયું છે. આનું કારણ સમજો કે પોતે ભગવાને ''હે રુદ્ર ! માયા દ્વારા જગતને મોહિત કરો. આપનું માહાત્મ્ય પ્રકાશિત કરો અને મારું માહાત્મ્ય લુપ્ત કરો. સત્યને અસત્ય બનાવો અને અસત્યને સત્ય બનાવો (પદ્મપુરાણ)'' વગેરે વાક્યાનુસાર ભગવાન-શંકરને માયાજાળ ફેલાવવાની આજ્ઞા આપી છે. તેમજ તીર્થસ્થળો પર તેનું સામર્થ્ય ભંગ કરવા માટે ભગવાન શંકરે ત્યાં પોતાના ગણ સ્થાપિત કર્યા છે. જે ઝૂંડ બનાવીને ગંગા વગેરે તટો પર પોતાનો ડેરો જમાવીને બેઠા છે. હવે જ્યારે તીર્થસ્થલો પર લોકો પ્રાણત્યાગ કરે છે, તો આવા શંકર ભગવાનના ગણો પૂરેપુરો પ્રયત્ન આ કરે છે કે, તેમનો તીર્થથી સંબંધ ન થાય. તેથી આચાર્યચરણો કહી રહ્યા છે કે, તીર્થોનું સામર્થ્ય નષ્ટ થઈ ગયો છે. આના પછી ટીકાકાર લખે છે કે, એવું સાંભળવામાં આવ્યું છે કે તીર્થસ્થળોપર પ્રાણત્યાગ કરવાવાળાઓને શિવજી કલ્યાણકારી બ્રહ્મોપદેશ કરે છે અને તેમને મુક્ત કરે છે. તો પછી તીર્થસ્થળો પર મુક્તિ થતી નથી, એવું કેમ કહેવાય છે ? આ શંકાના સમાધાને એવું સમજવું જોઈએ કે જ્યારે ભગવાને શંકરજીને જગતને વ્યામોહિત કરવાની આજ્ઞા આપી હતી, તેની પહેલા શંકરજી કલ્યાણકારી બ્રહ્મોપદેશ કરતાં હતા, ભગવાનની આજ્ઞા થઈ ગયા પછી નહિ. જો તેઓ ભગવદ્આજ્ઞા થઈ ગયા પછી પણ આવું કરે, તો ભગવદ્આજ્ઞાનો ભંગ થાય. તેથી શિવજી આવું કરી શકતા નથી કારણકે તેઓ વૈષ્ણવ છે અને ભગવદ્ધર્મના જ્ઞાતા છે.

શ્રીવ્રજરાજજી :- આપશ્રી લખે છે કે ''ગંગાજળ તો પતિતોને શીઘ્ર પાવન કરી દે છે'', અને ''મહાપુણ્યા કાવેરી વગેરેના જલ પીવાથી સમસ્ત પાપ ધોવાઈ જાય છે. (શ્રી.ભા. ૧૧-૫-૪૦)'' વગેરે વાક્યોમાં નદી અને પુણ્યક્ષેત્રોની મહિમા કહેવાઈ છે. તેથી લોકોને આ ભ્રમ થાય છે કે તીર્થસ્થલો આપણો ઉદ્ધાર કરી દેશે. આ ભ્રમનું નિવારણ કરવા માટે આચાર્યચરણો આ

શ્લોકમાં નદીઓના દોષ બતાવી રહ્યાં છે. ભારતવર્ષમાં ગંગા જેવા શ્રેષ્ઠ તીર્થસ્થળો દુષ્ટોથી ઘેરાઈ ગયા છે. આવા દુષ્ટો જે કર્મોથી પણ દુષ્ટ છે અને ભાવોથી પણ દુષ્ટ છે. તે આ પ્રકારે કે શ્રીમદ્‌ભાગવતમાં ''હે ભગીરથ ! તમે આ વાતનો વિચાર કરો કે જ્યારે હું પૃથ્વી પર જઈશ ત્યારે લોકો પોતાના પાપ મારા જળમાં ધોશે. (૯-૯-૫)'' આ વાત ગંગાજીએ ભગીરથને કહી છે. તેથી દુષ્ટોથી ઘેરાઈ જવાને કારણે શ્રેષ્ઠતીર્થોની શક્તિ પણ કુંઠિત થઈ ગઈ છે - આ અર્થ છે. ટીકાકાર **''तिरोहिताधिदैवेषु''** નો અર્થ સમજાવે છે. દેવોના સમુહને ''દૈવં'' કહેવાય છે. 'આધિ' શબ્દનો અર્થ થાય છે-પીડા. 'તિરોહિત' શબ્દનો અર્થ થાય છે - અદૃશ્ય થઈ જવું, દૂર થઈ જવું. એટલે **''तिरोहिताधिदैवेषु''** શબ્દનો અર્થ થાય ''દેવતાઓની પીડા દૂર થઈ ગઈ છે.'' શાસ્ત્રોમાં કહેવાયું છે કે, દેવતાઓ મનુષ્યોથી ઈર્ષ્યા રાખે છે. જ્યારે કોઈ મનુષ્ય પુણ્ય, સત્કર્મો કરે છે અને એની મુક્તિ થાય છે, ત્યારે દેવતાઓને ભય હોય છે કે, કયારેક મનુષ્ય તેમનું સ્થાન ન લઈ લે. તેથી તેઓ મનુષ્યના સત્કર્મોમાં, મુક્તિમાં વિઘ્ન ઉત્પન્ન કરતાં હોય છે. તાત્પર્ય આ છે કે, જ્યારે તીર્થસ્થળો દુષ્ટોથી ઘેરાઈ જવાને કારણે મનુષ્યોની મુક્તિ થતી નથી, ત્યારે દેવતાઓની વ્યાધિ તો તિરોહિત થઈ જ ગઈ કહેવાયને ? આ **'तिरोहिताधिदैवं'** નો અર્થ છે.

કેષાંચિત્ :- આ શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં આપશ્રીએ ગંગાનું વિશ્લેષણ કર્યું છે. આપશ્રી લખે છે કે ગંગાના અધિભૌતિક, આદિદૈવિક, આધ્યાત્મિક આ પ્રકારે ત્રણ સ્વરૂપો છે. અને 'गंगादितीर्थवर्येषु' શબ્દનો અર્થ થાય છે - શ્રેષ્ઠ ભક્તજન. આપશ્રી ગંગાને શ્રેષ્ઠ ભક્ત કહી રહ્યાં છે. આપશ્રી લખે છે - ગંગા જેવા શ્રેષ્ઠ ભક્તજનો દોષોથી ભરાઈ ગયા છે. તાત્પર્ય આ છે કે મર્યાદામાર્ગીય તંત્ર, મંત્ર, વૈદિકશાસ્ત્રમાં કહેલા વિધિવિધાનોવાળા ધર્મોથી તેઓ ઘેરાઈ ગયા છે. આજ ધર્મોએ ધર્મિ-સ્વરૂપના જ્ઞાનને અર્થાત્ પ્રમેયસ્વરૂપ શ્રીકૃષ્ણના જ્ઞાનને ઢાંકી દીધા છે. આ ભગવદ્‌ભક્ત ભગવાનની વિભૂતિઓનું ભજન કરે છે, એટલે તેમને ફળ પણ મર્યાદામાર્ગીયજ પ્રાપ્ત થાય છે. નથી તેમનું ભજન આધિદૈવિક કે નથી તેનું ફળ. વર્તમાન સમયમાં તો ભગવાનનું આધિદૈવિક સ્વરૂપજ સમસ્ત વસ્તુઓનું સાધક છે. તેથી આચાર્યચરણોએ પણ શરણાગતિ કરવા માટે ભગવાનના આધિદૈવિક-રસાત્મક-સદાનંદ સ્વરૂપને બતાવવાવાળું 'કૃષ્ણ' પદ જ સર્વત્ર કહ્યું છે.

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

શ્રીરઘુનાથજી :- 'અહંકાર' શબ્દની વ્યાખ્યા કરતાં આપશ્રી લખે છે - ''અમે સર્વજ્ઞ છીએ'', ''અમારાથી વધારે કોણ જાણે છે કે જેને અમે પૂછવા જઈએ'' આવા પ્રકારના અહંકાર દ્વારા વિશેષરૂપથી મૂઢ વ્યક્તિ અર્થાત્ આત્મોદ્ધારના ઉપાયને ન જાણવાવાળી વ્યક્તિ આજે ઘણાં બધા થઈ ગયા છે. સત્સુ એટલે મહાપુરુષ; મહાપુરુષોમાં પણ પાપ એટલે કે દુરાચરણ વધી ગયો છે. અર્થાત્ મહાપુરુષો પણ જીવિકા માટે નિષિદ્ધ-આચરણ કરવા માંડ્યા છે. 'લાભ' શબ્દનો અર્થ થાય છે - ધનસંપત્તિ પ્રાપ્ત થવી. 'પૂજા' શબ્દનો અર્થ થાય છે - પોતાની ઉન્નતિ ઈચ્છતા લોકોમાં સન્માન પ્રાપ્ત કરવાની ઈચ્છા રાખવી અને 'અર્થ' શબ્દથી તાત્પર્ય છે - પોતાના સ્વાર્થને પૂર્ણ કરવો. ભગવદ્‌પ્રાપ્તિને છોડીને કેવળ આ ત્રણ વસ્તુની પ્રાપ્તિ કરવા માટે જે યત્ન કરી રહ્યાં છે, તે દુષ્ટ છે. અને આવા દુષ્ટજનોથી વ્યાપ્ત થઈ જવા પર શ્રીકૃષ્ણજ મારી ગતિ છે, આ અર્થ છે.

શ્રીકલ્યાણરાયજી :- ટીકાકાર મુજબ સત્સુ શબ્દનો અર્થ થાય છે - પંડિતજનો. આપશ્રી લખે છે - વર્તમાન સમયમાં પંડિતોમાં અહંકાર પ્રસરિત થઈ જવાને કારણે ''અમે શાસ્ત્રોના જ્ઞાતા છીએ'' આ પ્રકારના અહંકાર દ્વારા તેઓ બીજાઓથી કંઈ પણ જાણવા, પૂછવા નથી ઈચ્છતા અને માયાવાદ જેવા શાસ્ત્રોમાં ભટકી જવાના કારણે ઓર અધિક મૂઢ થઈ ગયા છે. એની આગળ આપશ્રી લખે છે કે, તેઓ બધા કર્મો લાભપૂજા માટે જ કરી રહ્યાં છે. અલૌકિક કાર્યો પણ લાભપૂજા માટે એટલે કે પોતાના સ્વાર્થ માટે કરી રહ્યાં છે. આગળ આપશ્રી લખે છે કે, પાપીપુરુષ અથવા પાપનો અનુગમન કરવાવાળા સંગદોષ અને અન્નદોષ દ્વારા દુષ્ટ થઈ જવાને કારણે ધર્મ કરવાવાળાઓને સહજ રીતે ફળસિદ્ધિ મળતી નથી. અને, ભગવદ્‌આશ્રય કરવાથી ભગવદ્‌કૃપા વડે આપમેળે જ અને પોતાના દોષોનું જ્ઞાન થઈ જવાથી ફળસિદ્ધિ પ્રાપ્ત થઈ જાય છે.

શ્રીદ્વારકેશજી :- આ શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં ટીકાકાર કોઈ પૂર્વપક્ષીની શંકા ઉભી કરતાં કહે છે કે, સમસ્ત ધર્મોના પ્રવર્તક સત્પુરુષો તો ભૂતલ પર વિદ્યમાન છે જ. તો તેમના રહેતાં ધર્મનો નાશ થવાની વાત કેવી રીતે ગળે ઊતરી શકે ? આ શંકાનું

સમાધાન કરતાં આપશ્રી લખે છે કે, સત્પુરુષો જો વાસ્તવમાં સત્પુરુષો હોત ત્યારે તો કાર્ય સિદ્ધ થાત જ અને ધર્મની પણ રક્ષા થાત જ. પરંતુ વર્તમાનમાં તેમનું સ્વરૂપ કેવું છે, આ જાણીલો. રાજા પરિક્ષિત્‌ના સમયમાં જ્યારે કલિયુગ તેમને શરણાગત થયો હતો અને કાલમાં પ્રવિષ્ટ થઈ ગયો હતો, તે સમયે રાજા પરિક્ષિત્‌ને પોતાની ઉપર અહંકાર ઉત્પન્ન થઈ ગયો હતો. તે જ અહંકાર આજે સત્પુરુષોમાં પ્રવિષ્ટ થઈ ગયો છે. જે પ્રકારે કલિયુગથી સંબંધ થઈ જવાને કારણે પરમધાર્મિક રાજા પરિક્ષિત્‌માં પણ કલિયુગને પોતાના રાજ્યમાં સ્થાન દેવાને કારણે દોષ ઉત્પન્ન થઈ ગયા અને એમની બુદ્ધિ એવી થઈ ગઈ કે એમને મૂર્ખતા વશ બ્રાહ્મણ સાથે દુર્વ્યવહાર કર્યો, તે જ પ્રકારે સત્પુરુષોનો પણ કલિયુગથી સંબંધ થઈ જવાના કારણે તેમનામાં ધર્મપરિત્યાગ કરવાની બુદ્ધિ ઉત્પન્ન થઈ જાય છે અને અહંકારવશ મોહિત થઈ જાય છે. હવે જ્યાં ધર્મકરવાવાળોજ અહંકારથી મોહિત હોય ત્યાં તેના દ્વારા કરેલો ધર્મ અસાધક હોય, આમાં શું આશ્ચર્યની વાત છે. આચાર્યચરણો તેમને વિશેષરૂપથી મૂઢ શા માટે કહી રહ્યાં છે તેનું સ્પષ્ટીકરણ ટીકાકાર **'पापानुवर्ती'** શબ્દથી કરી રહ્યાં છે. તાત્પર્ય આ કે પોતાના અહંકારને લીધે તેઓ નિષિદ્ધકૃતિઓથી પ્રાપ્ત થવાવાણા ફલની ઈચ્છા રાખે છે અને નિષિદ્ધકૃતિઓથી પ્રાપ્ત થયેલા વિષયોને ભોગવવાનું અનુકરણ કરી રહ્યાં છે. પરંતુ અહિંયાં એક સંદેહ આ થાય છે કે, ભલે આ લોકો અહંકારી કે વિમૂઢ હોય પરંતુ પોતાના નિકટજનો પર ધર્મનો બોધ કરતાંજ દેખાતાં હોય છે, તો પછી તેમને દુષ્ટ કેવી રીતે માની શકાય ? આ શંકાનું સ્પષ્ટીકરણ કરતાં ટીકાકાર લખે છે કે, આવા લોકો પોતાના લાભ માટે કરાતી ભગવદ્‌પૂજા માટે જ પ્રયત્ન કરે છે. તેઓ શુદ્ધ ભગવદ્‌કીર્તન વગેરેથી સંતુષ્ટ થતા નથી. ભગવદ્‌ગુણાનુવાદ, ભગવદ્‌કીર્તન વગેરેથી સંબંધિત પૂજા તેમને અપેક્ષિત હોતી નથી. તેથી આવા પાપી લોકોનું અનુકરણ કરવાવાળા તો અયોગ્ય હશે જ. અર્થાત્‌ ''પોતે ડુબી ચુક્યો છે અને બીજાને ડુબાડે છે'' આવી પરિસ્થિતિ ઉત્પન્ન થઈ છે. આવા લોકો પોતાના ભરણપોષણ માટે ધર્મ કરી રહ્યાં છે. તેથી ભગવાને અર્જુનને ''ભિક્ષા માટે જેઓ મારું નામ ગ્રહણ કરે છે, તેઓ મારા ગૌણ ભક્તો છે. હે અર્જુન ! દૂરથી જ તેમનો ત્યાગ કરી દેવો જોઈએ'' આ વાક્ય કહ્યો છે. આવા લોકો ધર્મને યોગ્ય નથી હોતા અને આવી રાતે ધર્મધ્વજા લઈને આગળ ચાલવાવાળા લોકોનું કરેલું ધરેલું સર્વકાંઈ વ્યર્થ થાય છે. આવો સર્વનાશ સર્વત્ર ફેલાઈ ગયો છે પરંતુ સમસ્ત કાર્યોનો સાધક તો ભગવદ્‌આશ્રય જ છે, તેથી આચાર્યચરણ તે જ આશ્રયને ''કૃષ્ણ જ મારી ગતિ છે'' આ વાક્યદ્વારા ઉપદિષ્ટ કરી રહ્યાં છે.

श्रीव्रजराजजी :- આ શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં આપશ્રી લખે છે કે, શ્રીમદ્‌ભાગવતના ''તીર્થ તો દીર્ઘકાલ પછી પવિત્ર કરે છે પરંતુ સંતપુરુષો પોતાના દર્શનમાત્રથી પવિત્ર કરી દે છે. (૧૦-૪૮-૩૧;૧૦-૮૪-૧૧)'', ''આપણો સંગ કે આસક્તિ જો સંતો, મહાપુરુષોના પ્રત્યે થઈ જાય, તો તે મોક્ષનું દ્વાર બની જાય છે. (૩-૨૫-૨૦)'', ''સત્પુરુષોના સત્સંગ દ્વારા શીઘ્રતાથી શ્રદ્ધા, પ્રેમ અને ભક્તિનો વિકાસ થશે. (૩-૨૫-૨૫)'' વગેરે વાક્યોથી લોકોને આ પ્રતીતિ થાય છે કે સત્પુરુષોનો સંગ કરવો ભગવદ્‌માર્ગને સાધવામાં અનુકૂલ છે. આ ભ્રમનું નિરાકરણ આચાર્યચરણોએ આ શ્લોકમાં કહ્યું છે. ટીકાકાર લખે છે કે **सत्सु** અર્થાત્‌ માર્ગના પ્રચારક મહાપુરુષો પોતાના પાંડિત્યના અભિમાનને કારણે વિશેષરૂપથી મૂઢ થઈ ગયા છે. **'पापाः'** શબ્દનો અર્થ થાય છે - રાજસી, તામસી, મ્લેચ્છ અને આવા લોકો પર અવલંબિત થઈને પોતાની જીવિકા પર નિર્વાહ કરવાવાળા લોકો. આ કારણથી આચાર્યચરણ તેમને વિશેષરૂપથી મૂઢ કહી રહ્યાં છે. **'लाभपूजार्थयत्नेषु'** શબ્દનો અર્થ કરતાં આપશ્રી લખે છે કે, લાભ એટલે ધન-પ્રાપ્તિ; પૂજા શબ્દનો અર્થ છે - પોતાની ઉન્નતિ થવી; 'અર્થ' શબ્દ આ બંને શબ્દો સાથે જોડાશે. એટલે બધું મળીને (લાભ + અર્થ + પૂજા + અર્થ + યત્નેષુ) અર્થ આ થયો કે, વર્તમાન સમયમાં સત્પુરુષો કેવળ લાભપૂજા માટે જ યત્ન કરી રહ્યાં છે અર્થાત્‌ આંતરિક અને બાહ્ય બંને પ્રકારથી પોતાની ઉન્નતિ માટે જ પ્રયત્ન કરી રહ્યાં છે. તેમનો લાભપૂજા માટે પ્રયત્નો કરવો જ તેમની મૂર્ખતા દર્શાવે છે. આ પરિસ્થિતિમાં જ્યાં માર્ગ પ્રચારકજ આવા થઈ ગયા હોય ત્યાં સત્પુરુષો તો કેવી રીતે મળે ? તેથી સત્સંગ મળવોજ દુર્લભ થઈ ગયો છે. આચાર્યચરણ આજ્ઞા કરે છે કે, આવી પરિસ્થિતિમાં કૃષ્ણજ મારી ગતિ છે.

केषांचित्‌ :- આ શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં આપશ્રી લખે છે કે, જ્ઞાનીપુરુષ ''હું બ્રહ્મ છું'' આવા અહંકાર દ્વારા વિશેષરૂપથી મૂઢ થઈ ગયા છે. આવા જ્ઞાનમાર્ગીઓનું સાક્ષાત્‌ પુરુષોત્તમથી તો સંબંધ થતો નથી પરંતુ કેવળ અક્ષરબ્રહ્મથી સંબંધ થઈ જવાને આ લોકો પરમફલ માની લે છે. ભગવાન પૂર્ણપુરુષોત્તમ પ્રતિ તેમનો સેવ્ય-સેવક ભાવ પણ ન રહ્યો તેથી આ લોકો વિશેષરૂપથી મૂઢ છે. પરંતુ અહિંયાં એક શંકા આ થાય છે કે, જ્ઞાનથી તો અવિદ્યાની નિવૃત્તિ થાય છે અને આત્મસ્વરૂપનું જ્ઞાન થાય છે. આ બંને થવાથી જ્ઞાનીઓ સીધા બ્રહ્મમાં લીન થઈ જાય છે, તો પછી તેમને મૂઢ કેવી રીતે કહેવાય ? આ શંકાનું સમાધાન કરતાં

આપશ્રી લખે છે કે શ્રીમદ્‌ભાગવતના ''જે ભગવાનને શરણાગત હોય છે તેઓ કોઈનાથી પણ ડરતા નથી. તેમને સર્વત્ર સ્વર્ગ, મોક્ષ, નરક સર્વેમાં ભગવાનના જ દર્શન થાય છે. (૬-૧૭-૨૮)'' આ વાક્યાનુસાર ભગવદ્‌પ્રાપ્તિના જ્ઞાનથી વિપરીત સમસ્ત પ્રકારનું જ્ઞાન પુષ્ટિમાર્ગીય માટે તો ફલપ્રાપ્તિમાં પ્રતિબંધક છે. કારણ કે એવું જ્ઞાન જેમાં સાક્ષાત્ પુરુષોત્તમનું જ્ઞાન ન હોય, તે પાપરૂપ છે. આવા જ્ઞાનની પાછળ ભાગવાવાળાઓ પાપાનુવર્તી છે. સમજવું જોઈએ કે એકવાર અક્ષરબ્રહ્મમાં લીન થઈ ગયા પછી આવા જ્ઞાનીઓને પરમપુષ્ટિફલની તો સંભાવનાજ નથી રહેતી. આ કારણથી આચાર્યચરણો તેમને પાપરૂપ અને વિશેષરૂપથી મૂઢ કહી રહ્યાં છે. ટીકાકાર **'લાભપૂજાર્થયત્નેષુ'** શબ્દનો અર્થ કરે છે. આપશ્રી લખે છે કે જ્ઞાનમાર્ગમાં ન તો સાધનદશામાં અને ન ફલદશામાં ભગવદ્-આનંદનો અનુભવ થઈ શકે છે. કારણ કે જ્ઞાનમાર્ગનું અનુકરણ કરવાવાળા લોકો પોતાના લાભ માટે આવું કરી રહ્યાં છે. પોતાનો સ્વાર્થ સિદ્ધ કરવા માટે મનથી જ કોઈ દેવતામૂર્તિની કલ્પના કરીને ઉપાસના કરી રહ્યાં છે. જ્ઞાનમાર્ગીયો મુજબ બ્રહ્મમાં પોતાનું ઐક્ય થઈ જવાથી અથવા તો બ્રહ્મમાં લીન થઈ જવાથી સમસ્ત ઈન્દ્રિયોની સાર્થકતા થતી નથી અને ભગવદ્-આનંદનો અનુભવ પણ થતો નથી.પુરેપૂરા જલમાં ડુબેલા વ્યક્તિને જલ પીવાનો શું સ્વાદ આવી શકે ? તેને જલ પીવાનો સ્વાદ જલની બહાર જ આવી શકે. અહિંયાં પુષ્ટિમાર્ગમાં તો પુષ્ટિભાવથી ઓતપ્રોત થયેલા જીવને શ્રીસુબોધિનીજીમાં કહેલ ''ભગવાનની સાથે અંતરંગ વાર્તાલાપ, તેમનાં દર્શન અને તેમનું મળવું વગેરે (સુબો.૧૦-૧૮-૭; કારિકા - ૮)'' વગેરે વાક્યાનુસાર કેવળ આવી ભાવના કરવાથી પણ સમસ્ત ઈન્દ્રિયોને ભગવાનનો સાક્ષાત્ સ્વરૂપાનુભવ થાય છે, તો જ્યારે ભગવાન બહાર પ્રકટ થાય તો તેમના આનંદના અનુભવની વાત શું કરવી ? આનાથી સિદ્ધ થાય છે કે પુષ્ટિમાર્ગીયો માટે જ્ઞાનીઓનો સંગ પણ સાધક નથી. તેથી આચાર્યચરણો ''કૃષ્ણ જ મારી ગતિ છે'' આ વાક્યથી ભગવાનની શરણાગતિ જ નિર્દેશિત કરી રહ્યાં છે.

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

શ્રીરઘુનાથજી :- આ શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં આપશ્રી લખે છે કે આ કળિયુગમાં વૃદ્ધજનો, ગુરુ વગેરે મહાપુરુષો નો કોઈ સંગ કરવા નથી માગતા, તેથી મહાપુરુષોના સંગનો અભાવ થઈ રહ્યો છે. વિદ્વાનો નાશ થઈ રહ્યો છે અને ભગવદ્‌નામવાળા પાઠો માટે કયાં ? શું ? અને કોનો વિનિયોગ કરવો જોઈએ ? આનું પણ પરિપૂર્ણજ્ઞાન લોકોમાં નથી. તેથી આ પાઠોમાં રહેલા મંત્ર તિરોહિત થઈ ગયા છે. **અવ્રતયોગેષુ** શબ્દનો અર્થ કરતાં આપશ્રી લખે છે કે, જે લોકો વ્રતભ્રષ્ટ થઈ ગયા છે તે અવ્રતયોગી છે. આજના સમયમાં તેવા લોકોની સર્વત્ર બહુલતા છે. આ પરિસ્થિતિમાં જો આ મંત્ર વગેરે તિરોહિત ન પણ થયા હોય, તો પણ આવા વ્રતભ્રષ્ટો માટે કાંઈપણ કરી શકવાના નહોતા. આનો બીજો અર્થ કરતાં આપશ્રી લખે છે કે, પોત-પોતાના આશ્રમો અર્થાત્ બ્રહ્મચર્ય, ગૃહસ્થ, વાનપ્રસ્થ અને સન્યાસની મર્યાદાને નિભાવતા જે લોકો જીવનયાપન કરી રહ્યાં છે, તે યોગી છે. તે લોકો જ્યારે આની મર્યાદાભંગ કરે છે, ત્યારે તેને અવ્રતયોગી કહેવાય છે. તિરોહિત શબ્દનો અર્થ થાય છે - ગુપ્ત; અર્થથી તાત્પર્ય છે - મંત્રનો અર્થ અને દેવથી તાત્પર્ય છે - તે મંત્રમાં રહેવાવાળા દેવતા. પરંતુ જે મંત્રમાં રહેવાવાળા દેવ કે દેવતાનો જ અતોપતો ન હોય, તે મંત્રથી શું અર્થ ફલિત થશે ? આ ભાવ છે.

શ્રીકલ્યાણરાયજી :- આપશ્રી લખે છે કે વૈદિક અને પૌરાણિક મંત્રોના અપરિજ્ઞાનથી (અજ્ઞાનથી) અર્થાત્ મંત્રોનું તાત્પર્ય, મંત્રોના દેવતા અને મંત્રોના સ્વરૂપના અજ્ઞાનથી મંત્ર નષ્ટપ્રાયઃ થઈ ગયા છે. વૈદિકમંત્રો તો ગુરુકુલમાં રહી, બ્રહ્મચર્યનું પાલન કરી, શૂદ્રોના સન્મુખ ન બોલવાથી અને અધ્યયનમાં પ્રમાદ ન કરતાં ભણવાથી સાધક બની શકે છે. પરંતુ આજે આ વ્રતોનું પાલન કયાંય દેખાતું નથી. તેથી તે મંત્રો અસાધક બની ગયા છે. પૌરાણિક મંત્રોનું તાત્પર્યજ્ઞાન ન હોવાથી તેના અર્થ અને દેવતા બંને તિરોહિત થઈ ગયા છે. પરંતુ ભગવદ્-આશ્રય કરવાથી સમસ્ત અપૂર્ણ વસ્તુમાં પૂર્ણતા આવી જાય છે, અને આ મંત્ર પણ સાધક બની જાય છે.

શ્રીદ્વારકેશ્વરજી :- ટીકાકાર અહિંયાં એક પૂર્વપક્ષીની શંકા કરે છે કે ગોપાલમંત્ર, તાંત્રિક, વૈદિકમંત્ર, એકાદશી વ્રત વગેરે તો સર્વત્ર કરવામાં આવે છે. શું આ બધા પણ જીવને શુદ્ધ નથી કરી શકતા ? આ શંકાના સમાધાનરૂપે **અપરિજ્ઞાનનષ્ટેષુ** શબ્દનો અર્થ કરતાં આપશ્રી લખે છે કે, આ મંત્રોના અંગથી લઈને ફલપર્યંત સમજવું પરિજ્ઞાન કહેવાય છે. આજે એવું જ્ઞાન કોઈને નથી,

આ અર્થ છે. અને ગોપાલમંત્ર વગેરેનો ઉપયોગ પણ વેશ્યાઓને વશ કરવા માટે થતું સાંભળ્યું છે. તેથી જો કોઈ આ ભગવદ્‌મંત્રનો ઉપયોગ સાંસારિક વિષયો માટે કરે છે, તો તે અપરિજ્ઞાનને કારણે જ છે. હવે અહિંયાં જો કોઈ આવી શંકા કરે કે, વેદમંત્રતો ઉદ્ધાર કરવાવાળા છે અને ગુરુકુલમાં રહેતા, બ્રહ્મચર્યનું પાલન કરતાં, શૂદ્રોને ન સંભળાવતા અને તેના અધ્યયનમાં પ્રમાદ ન કરતાં જો આ મંત્રોનો પાઠ કરવામાં આવે તો ભલે મંત્રનું તાત્પર્યજ્ઞાન ન હોય, તો પણ તેના અધ્યયનમાત્રથી ધર્મના સાધક બની શકે છે. કારણકે ભલે અજાણતાં અગ્નિને સ્પર્શ કરવામાં આવે, છતાંય તે તો બાળશે જ ? ઠીક આજ પ્રકારે ભલે અજાણતા જ આ મંત્રોનો પાઠ કરી લેવામાં આવે, તો પણ ઉદ્ધાર તો થશે કે નહિ ? આ શંકાનું સમાધાન કરતાં આપશ્રી કહે છે કે, મંત્રોને સિદ્ધ કરવામાં જે આવશ્યક વ્રતનિયમ હોય છે, તે ન હોવાથી મંત્રો નિષ્ફળ બની જાય છે. એવા વ્રતનિયમોનું પાલન ન કરવાવાળાઓને આચાર્યચરણ અવ્રતયોગી કહી રહ્યાં છે. અને શ્રીમદ્‌ભાગવતમાં ભગવાન કહે છે કે ''મને, યોગ, સાંખ્ય, ધર્મ, તપ, ત્યાગથી તેવી રીતે પ્રાપ્ત નથી કરી શકાતું, કે જે પ્રકારે ભક્તિ દ્વારા કરી શકાય છે. (૧૧-૧૪-૨૦)'' ''ભગવાનને પ્રસન્ન કરવા દાન, તપ, યોગ, યજ્ઞ અને અનુષ્ઠાન પર્યાપ્ત નથી, ભગવાન તો કેવલ નિષ્કામ ભક્તિથી પ્રાપ્ત થઈ શકે. તે સિવાય તો બધું જ વિડંબના છે. (શ્રી.ભા. ૭-૭-૫૨)'', ''સમસ્ત ધર્મોનો ત્યાગ કરીને કેવલ મારી શરણમાં આવી જા (ભ.ગી. ૧૮-૬૬)'', ''હે અર્જુન ! મને ન તો વેદથી અને ન તપથી તેવી રીતે જોઈ શકાય છે, જેવી રીતે તે મને જોયા છે. (ભ.ગી. ૧૧-૫૩)'' વગેરે હજારો વાક્યો દ્વારા પુષ્ટિભક્તિ તો તેમને જ પ્રાપ્ત થઈ શકે છે, જેને પ્રભુ અંગીકાર કરી લે છે - આ સિદ્ધ થાય છે. અતઃ ભગવદ્‌આશ્રય પ્રાપ્ત કરવામાં આ કર્મ-વ્રત વગેરે પણ નિષ્પ્રયોજક થાય છે, આ સમજી લેવું જોઈએ. ટીકાકાર એક બીજી શંકા ઉપસ્થિત કરતાં કહે છે, શું મંત્રોના અધિષ્ઠાતા દેવતા આપણા કાર્યોને સિદ્ધ નથી કરાવી શકતા ? તેમના રહેતા મંત્રોના અપરિજ્ઞાન અથવા તો નાશની વાત કેવી રીતે કરી શકાય ? આ શંકાનું સમાધાન કરતાં ટીકાકાર **તિરોહિત** શબ્દથી આ બતાવી રહ્યાં છે કે, આ મંત્રોના અર્થરૂપ દેવતા તે મંત્રોથી તિરોહિત થઈ ગયા છે. તેથી મંત્રો પણ સારહીન થઈને પોતાનું સામર્થ્ય ખોઈ ચૂક્યા છે, આ ભાવ છે.

શ્રીવ્રજરાજજી :- આ શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં પૂર્વપક્ષીની શંકા ઉપસ્થિત કરતાં આપશ્રી કહે છે - આવી કલિયુગની પરિસ્થિતિમાં સત્પુરુષો તો મળવા દુર્લભ થઈ ગયા છે. તેથી ભગવદ્-પ્રાપ્તિ માટે મંત્ર-જપ વગેરે સાધન કરી લેવા જોઈએ. કારણકે કમ સે કમ આમાં બીજા કોઈની અપેક્ષા રહેતી નથી અને આપમેળે જ કરી શકાય છે. શાસ્ત્રોમાં પણ ''ગાયત્રીમંત્રનો જાપ કરતાં બ્રાહ્મણ નિર્ભય થઈ જાય છે.'', ''ભલે અંગસહિત વેદોનું આચરણ કરે પરંતુ ગાયત્રીમંત્રના જાપ વગર તે નિષ્ફળ છે.'', ''વાંછિત ફલ આપવાવાળું અને રક્ષા કરવાવાળું ગોપાલક મંત્ર જ છે'' - વગેરે વાક્યો કહેવાયા છે. તેથી લોકોને પ્રતીતિ થાય છે કે, મંત્રજાપ ધર્મને સાધવામાં અનુકૂલ હોય છે. તેથી આ ભ્રમનું નિરાકરણ આચાર્યચરણોએ આ શ્લોકમાં કહ્યું છે. શ્રીમદ્-ભાગવતના એકાદશસ્કંધમાં કહેલ ''મંત્રનો અર્થ સરખી રીતે સમજીને હૃદયંગમ કરી લેવાથી મંત્રની શુદ્ધિ થાય છે. (૧૧-૨૧-૧૫)'' આ ભગવત્-વાક્યને અનુસાર મંત્રોને ભલીભાંતિ સમજી લેવાથી મંત્રોની શુદ્ધિ થાય છે. પરિજ્ઞાન (સરખી રીતે સમજવું વિચારવું) શબ્દનો અર્થ છે - ગુરુને શરણાગત થઈ મંત્રોનું વિધાન, મંત્રોનું ન્યાસ, મંત્રપાઠનો અર્થ, મંત્રનું તાત્પર્ય, મંત્રોનો વિનિયોગ ક્યાં કરવો વગેરે સમસ્ત વાતોનું પરિપૂર્ણ જ્ઞાન થવું. જ્યાં આ બધી વાતોનું જ્ઞાન નથી, તે અપરિજ્ઞાન છે. આચાર્યચરણો આજ્ઞા કરે છે કે આવા અપરિજ્ઞાનને કારણે મંત્રોનો પ્રભાવ નષ્ટ થઈ ગયો છે. ભલે મંત્રોનું ઉચ્ચારણ સંભળાતું હોય તથાપિ પૂર્ણશુદ્ધિ ન રાખવાથી તે મંત્રો પોતાના સત્યસ્વરૂપના દર્શન નથી આપતા. **અવ્રતયોગિષુ** પદની વ્યાખ્યા કરતાં ટીકાકાર લખે છે કે, મંત્રોની આરંભ દશામાં જ ગુરુકુલમાં આવાસ, બ્રહ્મચર્ય, અધ્યયન, ધર્મપરિપાલન વગેરેનો અભાવ હોવાને કારણે આચાર્યચરણ એવા લોકોને અવ્રતયોગી કહી રહ્યાં છે. લોકોનું આવા અવ્રતોથી સંબંધ થઈ જવાથી મંત્રોની શક્તિ ક્ષીણ થઈ જાય છે. <u>તિરોહિત</u> શબ્દનો અર્થ છે - પ્રતીત ન થવું. અર્થ શબ્દથી તાત્પર્ય છે - મંત્રનું પ્રયોજન અથવા તાત્પર્ય. કહેવાનું તાત્પર્ય આ કે મંત્રનું પ્રયોજન, તે મંત્રમાં રહેવાવાળા દેવતાનું તિરોધાન થઈ ગયું છે. આને આચાર્યચરણ **તિરોહિતાર્થદેવેષુ** કહી રહ્યાં છે. તેથી આ બધા મંત્રો આ વર્તમાન સમયમાં ન તો આપણા માટે સાધક થઈ શકે છે અને ન આપણા ભગવદ્-માર્ગને અનુકૂળ થઈ શકે છે.

કેષાંચિત્ :- ટીકાકાર કહે છે કે જ્ઞાનીઓમાં પણ બે પ્રકારના ભક્તો છે, એક ભગવદ્‌નામમાં નિષ્ઠા રાખવાવાળા અને એક ભગવદ્‌સેવામાં નિષ્ઠા રાખવાવાળા. શ્રીમદ્‌ભાગવતમાં પણ કહેવાયું છે કે ''મહાપુરુષોનો સંગ કરવાથી શીઘ્ર શ્રદ્ધા, પ્રેમ અને ભક્તિનો વિકાસ થશે. (૩-૨૫-૨૪,૨૫).'' આ શંકાનું સમાધાન કરતાં ટીકાકાર લખે છે કે, આ વાત યોગ્ય છે કે ભગવદ્‌ભક્તો

માટે ભગવાનનું નામ જ મહામંત્ર છે. ભગવાનના કીર્તનમાં રત રહેવાવાળા પણ સજ્જન જ હોય છે. કીર્તન કરતાં કરતાં ભગવદ્-આનંદથી તેમના અશ્રુ વહેવા લાગે છે અને એમને ભગવદ્-રસનું રોમાંચ પણ હોય છે, પરંતુ આ બધા મર્યાદામાર્ગીય છે. આજ કારણે એમને પુષ્ટિપુરુષોત્તમના સ્વરૂપનું પૂર્ણરૂપે જ્ઞાન નથી. કારણકે 'કૃષ્ણ' પદનો જેવો રસાત્મક ભાવરૂપ અર્થ છે, તેનું તેમને પરિજ્ઞાન ન હોવાના કારણે આચાર્યચરણ આવું કહી રહ્યાં છે. વ્રતનો અર્થ થાય છે – અનન્યતા; એક પતિવ્રતા સ્ત્રીની જેમ રસાત્મકભાવથી કેવળ પોતાના પતિમાં નિષ્ઠા રાખવાવાળું આચરણ વ્રત કહેવાય છે. જે લોકોને આવી અનન્યતા પોતાના ભગવાનમાં નથી, તેમને આચાર્યચરણ અવ્રત કહી રહ્યાં છે. તિરોહિત શબ્દનો અર્થ કરતાં ટીકાકાર લખે છે – જે ભગવાન રસાત્મક સ્વરૂપથી પ્રકટ થયા હતાં, તેમનું તે સ્વરૂપ હવે તિરોહિત થઈ ગયું છે. તેથીજ મોક્ષની ઈચ્છા રાખવાવાળા ભગવાનને 'મુકુંદ', 'નારાયણ', 'યજ્ઞેશ્વર', 'જ્ઞાનનિધિ', 'વાસુદેવ' વગેરે નામોથી બોલાવે છે. પરંતુ પુષ્ટિમાર્ગીયોની જેમ પ્રેમપૂર્વક ''હે સ્ત્રીઓમાં વીરશિરોમણી ! તારા મંદ મુસ્કાનની એક રેખા જ સમસ્ત મદને ચૂર કરવા પર્યાપ્ત છે. (શ્રી.ભા. ૧૦-૩૧-૬)'' ''હે અમારા પ્રેમપૂર્ણ હૃદયના સ્વામી ! અમે તમારા વિનામૂલ્યની દાસી છીએ. (શ્રી.ભા. ૧૦-૩૧-૨)'' આ પ્રકારે ભગવાનના રસાત્મકનામ તેમના મુખેથી નીકળતા નથી, આવા અવ્રતયોગીઓને મર્યાદામાર્ગ મુજબ જ ભગવાનનો અનુભવ હોય છે, પુષ્ટિમાર્ગીયભાવ મુજબ નહિ.

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

શ્રીરઘુનાથજી :- આ શ્લોકનો અર્થ કરતાં આપશ્રી લખે છે કે, કુતાર્કિક બૌદ્ધમતના શાસ્ત્રોમાં કહેલ વાગ્જાલરૂપ (વાણીથી વ્યામોહિત કરી દેવાવાળા) **જે વાદો છે, એ નાનાવાદ છે. વિભિન્ન સંપ્રદાયોમાં એક નાસ્તિકોનો** પણ સંપ્રદાય છે, જે ચાર્વાક મત નામે ઓળખાય છે. આ સંપ્રદાય ભગવાન-વેદ-શાસ્ત્ર-કર્મકાંડ-પુનર્જન્મ વગેરેને **નથી માનતો. તેમાં** કહેવાયું છે કે ''જ્યાં સુધી જીવો સુખેથી જીવો. ઉધાર કરીને મોજમજા કરી લેવી જોઈએ. એકવાર મૃત્યુ થઈ ગયા પછી કોણ ઉધાર વસૂલ કરવા માટે આવવાનો છે ? ટીકાકાર અહિંયાં નાનાવાદના સંદર્ભમાં આવા જ વેદનિંદક સંપ્રદાયોને સૂચિત કરી રહ્યાં છે. આવા વ્યક્તિઓનું સંગ થઈ જવાને કારણે વૈદિકશાસ્ત્રોમાં કહેલ સમસ્ત કર્મવ્રત વગેરે વિશેષરૂપથી નષ્ટ થઈ ગયા છે. અર્થાત્ નાસ્તિકતાને કારણે લોકો ભગવદ્શાસ્ત્રથી વિપરીત થઈ ગયા છે. વેદશાસ્ત્ર વગેરેથી વિરૂદ્ધ કાર્ય કરવાનો જે વારંવાર પ્રયત્ન કરી રહ્યાં છે, તેઓ પાખંડી છે. તેથી આચાર્યચરણો કહે છે, ''કૃષ્ણજ મારી ગતિ છે.''

શ્રીકલ્યાણરાયજી :- આ શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં આપશ્રી લખે છે – કેટલાક લોકોનું એવુ માનવું છે કે આ સોમયજ્ઞ વગેરે સમસ્ત કર્મોમાં કેવળ પ્રપંચ છે અને આ મિથ્યા છે. વેદોને પણ કેટલાક લોકો મિથ્યા જ માને છે અને પોતાના અજ્ઞાનને કારણે કપોલકલ્પનાઓથી તેઓ એવું કહે છે કે, વેદમાં કહેવાએલી વાતો તો ફક્ત લૌકિક વ્યવહાર સાધવા માટે છે, વાસ્તવમાં આમાં કોઈ અલૌકિકતત્વ કે ભગવાન જેવી કોઈ વસ્તુ નથી. કેટલાક લોકોની માન્યતા એવી છે કે, યજ્ઞ વગેરે કર્મો કરવાથી જ ફલપ્રાપ્તિ થશે. આ સિવાય બીજું કોઈ ફલદાતા અથવા પ્રવર્તક નથી. કેટલાક લોકો એવું માને છે કે, દેવતાઓ પણ ચેતન નથી બલ્કે મંત્રમય જ છે. તેથી દેવતાઓથી પણ પ્રીતિ રાખવાથી કોઈ ફળ મળવાનું નથી. તે જ પ્રકારે કેટલાક વ્યક્તિઓનો મત આવો છે કે પોતાના આત્મસ્વરૂપને જાણી લેવુંજ ફળ છે, ભગવાન ફળ નથી. આ પ્રકારે જુદા જુદા પ્રકારના વાદો વડે સમસ્ત કર્મવ્રત નષ્ટ થઈ ગયા છે. વાસ્તવમાં તો ''ભગવાન જ ભૂત, ભવિષ્ય અને વર્તમાન સર્વકાંઈ છે. (પુ.સુ./૧૨)'', ''આ પરમાત્મા બધાને વશમાં રાખવાવાળો, બધા પર શાસન કરવાવાળો અને બધાનો અધિપતિ છે. (બૃ. ૪/૪/૨૨)'', ''આ પરમાત્મા જેનો ઉદ્ધાર કરવાની ઈચ્છા કરે છે, તેનાથી સારા કાર્યો કરાવડાવે છે'', ''દેવ, અસુર, મનુષ્ય, યક્ષ, ગંધર્વ કોઈપણ હોય, જો ભગવાનના ચરણકમલોનું સેવન કરે તો કલ્યાણનો ભાગી થાય છે. (શ્રી.ભા. ૭/૭/૫૦)'' વગેરે વગેરે શ્રુતિ-સ્મૃતિ-પુરાણના વાક્યો દ્વારા સંપૂર્ણ પ્રપંચ ભગવદ્સ્વરૂપ છે અને સત્ય છે. આ જ કારણે કર્મજ્ઞાન વગેરે સફલ થાય છે. ભગવાન સર્વશ્રેષ્ઠ થવાને કારણે સેવ્ય છે, બધાના પ્રવર્તક છે અને ફલદાતા છે. તેથી પૂર્વમાં કહેલી બધી માન્યતાઓ કપોલકલ્પિત છે. પોતાના મતના આગ્રહને કારણે લોકો નિષિદ્ધ માનેલી દશમીવેધ એકાદશી વગેરેનું વ્રત કરી લેતા હોય છે. જે એકાદશી ને દશમી સ્પર્શ કરી લેતી હોય, એવી એકાદશીના દિવસે વ્રત કરવું આપણા સંપ્રદાયમાં નિષિદ્ધ ગણાય છે. અર્થાત્ એકાદશીના દિવસે સૂર્યોદયથી

પહેલાં પહેલાં જો દશમી તિથિ સમાપ્ત થઈ જતી હોય ત્યારે તો એકાદશી-વ્રત કરવું જોઈએ, પરંતુ જો દશમી તિથિ નિવૃત્ત ન થતી હોય, તો તે એકાદશી નેં દશમી નો સ્પર્શ થયો છે તેથી તે એકાદશીએ વ્રત રાખવું નિષિદ્ધ છે. અને જો એકાદશીને દ્વાદશી સ્પર્શ કરતી હોય તો કોઈ હાનિ નથી પરંતુ દશમી સ્પર્શ ન થવી જોઈએ. જે લોકો મુખ્યરૂપથી પાખંડ માટેજ પ્રયત્નો કરી રહ્યાં છે, તેમને આપશ્રી **'પાષડૈકપ્રયત્નઃ'** કહી રહ્યાં છે. સ્વયં ભગવાન-કૃષ્ણે શંકરજીને મોહશાસ્ત્ર દ્વારા પાખંડ ફેલાવવાની આજ્ઞા આપી હતી. તેથી કરીને આવા લોકોની પ્રવૃત્તિ પાખંડ ફેલાવવામાં જ થઈ ગઈ છે. તેઓ સર્વપ્રથમ પોતે પાખંડ ફેલાવે છે અને પોતાનું માહાત્મ્ય સ્થાપિત કરીને બીજાને પણ એમાં પ્રવૃત્ત કરે છે. તેથી આધુનિક જીવો આમનાથી મોહિત થઈ ગયા છે.

શ્રીદ્વારકેશ્વરજી :- ટીકાકાર સર્વપ્રથમ કોઈ પૂર્વપક્ષીની શંકા ઉત્પન્ન કરે છે કે, ભલે તાંત્રિક-મંત્રાદિ વગેરે સામર્થ્યહીન થઈ ગયા હોય પરંતુ અગ્નિહોત્ર, ચાંદ્રાયણ, કૃચ્છ વગેરે પ્રાયશ્ચિત વિધિઓ તો ઉપલબ્ધ છે. શું પ્રાયશ્ચિત કરીને અશુદ્ધિને શુદ્ધિમાં ના ફેરવી શકાય ? આ શંકાનું સમાધાન કરતાં આપશ્રી લખે છે કે, જૈમિની-કણાદ-ગૌતમ વગેરે ઋષિઓ તામસી હતા અને એમણે જ્યારે શ્રુતિ-સ્મૃતિના અર્થનો વિચાર કર્યો, તો કાલસંબંધને કારણે તેમનો સ્વભાવ ઉગ્ર થઈ ગયો અને કર્મવ્રત વગેરે નિયમોનું પ્રતિપાદન કરવામાં એકબીજા પર વ્યંગ કરતાં પ્રતિકૂલ મિથ્યા તર્કોથી વેદનો મૂલ અભિપ્રાય ભગવદ્પ્રાપ્તિ એક બાજુ રહી ગઈ. તેનાથી મૂલ વસ્તુનું તો નિર્ધારણ થયું નહિ અને તેમના શિષ્યો પણ પરંપરાગતરૂપથી પહેલાની અપેક્ષા ઓર અધિક દોષયુક્ત થતા ગયા. આવા વિવિધ પ્રકારના તર્કો વિવેકોથી, અનેક પ્રકારના વાદવિવાદથી સમસ્ત કર્મવ્રત વિગેરે વિશેષરૂપથી નષ્ટ થઈ ગયા. આ જ કારણે શ્રીમદ્ભાગવતમાં ભગવાને પણ "આ સંસારી મનુષ્ય સમજ્યા વગર અનેક પ્રકારના કર્મોનું અનુષ્ઠાન કરે છે. એમાં જે સમજી વિચારીને કરે છે, તેના કર્મો સફલ થાય છે. ના સમજનારના નહિ. (શ્રી.ભા. ૧૦/૨૪/૬)" આ વાક્ય દ્વારા કહે છે. બીજાને પીડા આપવા માટે ધર્મનો ઢોંગ કરવો પાખંડ કહેવાય છે. આજે ભલે કેટલાક લોકો અગ્નિહોત્ર વ્રત વગેરે કરતાં દેખાતા હોય, પરંતુ પ્રાકૃતકર્મ-નિત્યકર્મ-વૈકૃતકર્મ અને કામ્યકર્મ વગેરે કર્મોના સ્વરૂપ-સાધન-ફલ નું પરિપૂર્ણ જ્ઞાન ન થવાથી આ કર્મો ચિત્ત, શરીર વગેરેની શુદ્ધિમાં સહાયક બની શકતા નથી.

શ્રીવ્રજરાજજી :- શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં ટીકાકાર લખે છે કે, શ્રીમદ્-ભાગવતના એકાદશસ્કંધમાં ભગવાને "હે ઉદ્ધવ ! યજ્ઞો દ્વારા નિસ્વાર્થ ભાવથી મારી આરાધના કરે અને નિષિદ્ધ કર્મોથી દૂર રહીને ધર્મના કાર્ય કરે, તો તેને સ્વર્ગ-નરક ના ચક્કર લેવા નથી પડતા (શ્રી.ભા. ૧૧/૨૦/૧૦)", "**એકાદશી તિથિ પુનર્જન્મનું ક્ષય કરવાવાળી છે. આના જેવું પુણ્ય કોઈપણ નથી,**" વગેરે વાક્યોથી **આવો ભ્રમ થાય છે કે ધર્મવ્રત કરવું વગેરે ધર્મના સાધક પ્રતીત થાય છે.** આચાર્યચરણ એવા ભ્રમનું નિવારણ આ શ્લોકમાં કરી રહ્યાં છે. **આપશ્રી લખે છે કે નાના પ્રકારના વાદ જે પોતપોતાના ઢંગથી પોતપોતાના સ્વરૂપ અને ફલને બતાવી રહ્યાં છે, તે આજ કલહને કારણે વિશેષરૂપથી નષ્ટ થઈ ગયા છે.** જેમકે કોઈ સંપ્રદાયમાં કહેવાયું છે કે "જ્યાં સુધી જીવો ત્યાં સુધી મોજમજા કરીને જીવો. ધર્મ, ભગવાન, વેદ આ બધી વ્યર્થ વાતો છે.", "અગ્નિહોત્ર કરવાવાળા, ત્રણવેદોનું પાલન કરવાવાળા, ત્રિદંડધારી, ભસ્મ-તિલક લગાવવાવાળા બુદ્ધિહીન અને પુરુષાર્થરહિત હોય છે અને આ બધાને પોતાની જીવિકાનું સાધન બનાવે છે." વગેરે વગેરે વેદવિરૂદ્ધ માન્યતાઓથી ધર્મનો નાશ થઈ ગયો છે. જોકે વેદમાં શું વિધિ કે શું નિષેધ છે, તે બધી વસ્તુઓનો નિર્ણય આપેલો છે જ, પરંતુ આ સમસ્ત વાક્યોનો અનાદર કરતાં આજે લોકો પોતે નિર્ણય કરવા માંડ્યા છે. પાષંડનો અર્થ થાય છે-દંભ; જે લોકો કેવળ દંભ કરવાનો પ્રયત્ન કરી રહ્યાં છે, તેમને આચાર્યચરણો **પાષડૈકપ્રયત્નઃ** કહી રહ્યાં છે. આને આ પ્રકારથી સમજો કે - "દુશ્ચરિત્ર સ્ત્રીઓના ઘરોમાં તેમના મુખથી માદક પેયોનું પાન કરતાં મદમત્ત થઈને કામઉત્સવના રસથી ઓતપ્રોત થઈને ચંદ્રમાની રાત્રીઓમાં રાત જાગ્યા છે અને તે જ લોકો દિવસમાં "અમે સર્વજ્ઞ છીએ" "અમે દીક્ષિત છીએ" "અમે અગ્નિહોત્રી છીએ" "અમે બ્રહ્મજ્ઞ અને તપસ્વી છીએ" એવું કહેતાં આવા ધૂર્ત લોકો જગતને ઠગી રહ્યાં છે."- આ વાક્યાનુસાર વર્તમાનમાં લોકોમાં ધર્મ કેવળ દેખાવ માટે રહી ગયો છે અને લોકો ધર્મના નામ પર જગતને ઠગી રહ્યાં છે.

કેષાંચિત્ :- ટીકાકાર અહિંયાં એક પૂર્વપક્ષીની શંકા કરતાં કહે છે કે, જે લોકો ભગવદ્સેવા પરાયણ છે અને અનન્યવ્રતથી રહીને ભગવદ્સેવા કરી રહ્યાં છે, શું તેમનો સંગ આપણા માટે સાધક નહિ બને ? આ શંકાનું સમાધાન કરતાં ટીકાકાર લખે છે કે, યદ્યપિ ભગવદ્સેવા-પરાયણ લોકો પૂર્વમાં કહેલા જ્ઞાનીઓની તુલનામાં તો સર્વોત્તમ છે પરંતુ તેમના સમસ્ત કર્મવ્રત વગેરે મર્યાદા-વિશિષ્ટ છે. પુષ્ટિમાર્ગીય સમસ્ત વસ્તુ તો પ્રમેય છે, અને પુષ્ટિમાર્ગીય કર્મ તો આ માર્ગમાં કહેલ ભગવદ્-સેવા છે. જે વાત "ભગવાનની સાથે અંતરંગ વાર્તાલાપ, તેમના દર્શન, તેમનું મળવું વગેરે (સુ.બો. ૧૦/૧૮/૭ કારિકા - ૮)" આ

વાક્યમાં કહેવાઈ છે. પુષ્ટિમાર્ગીય કર્મવ્રતનો અર્થ તો લોકવેદની અપેક્ષા ન રાખતાં ફક્ત પોતાના ભગવદ્સ્વરૂપમાં એકનિષ્ઠ થઈને રહેવું છે. તેવી જ રીતે પુષ્ટિમાર્ગીય શ્રવણકીર્તન-પરાયણ થઈને રહેવું છે. ટીકાકાર લખે છે કે, આવી રીતે પુષ્ટિમાર્ગીય પદ્ધતિથી ભગવદ્સેવા કરવામાં નાના પ્રકારના વાદ ઉપસ્થિત થઈ ગયા છે. નાનાવાદનો અર્થ છે – અનેકવિધ મર્યાદામાર્ગના પ્રમાણવચનોએ પુષ્ટિમાર્ગીય ભગવદ્સેવા કરવાવાળાઓને વિશેષરૂપથી નષ્ટ કરી દીધા છે. અર્થાત્ મર્યાદાપદ્ધતિથી મિશ્રિત થઈ જવાને કારણે લોકો પુષ્ટિમાર્ગીય ભગવદ્સેવાને પણ વિધિપૂર્વક અને શાસ્ત્રોક્ત પદ્ધતિથી કરવા માંડ્યા છે. તેમને પુષ્ટિપદ્ધતિનું જ્ઞાન નથી, આ ભાવ છે. પાષંડ નો અર્થ થાય છે – ધોકો અથવા છદ્મવેશ ધારણ કરવું; આ જ બધું કરવાનો જે પ્રયત્ન કરી રહ્યાં છે અથવા તો પાષંડને અનુરૂપ સાધન કરવાનો પ્રયત્ન કરી રહ્યાં છે, તેને આપશ્રી **'पाषैकप्रयत्नः'** કહી રહ્યાં છે. ભક્તિમાર્ગમાં નિષ્ઠા રાખવાવાળા ભક્તો પણ મર્યાદામિશ્રિત છે, શુદ્ધ નથી. કારણકે તેઓ પૂર્ણપુરુષોત્તમ શ્રીકૃષ્ણથી સાયુજ્ય ફલ પ્રાપ્ત કરવાનો પ્રયત્ન કરી રહ્યાં છે. તેથી પુષ્ટિમાર્ગની તુલનામાં તો તેઓ સ્વાર્થી સિદ્ધ થયા. આ કારણે આચાર્યચરણો તેમને પાખંડી કહી રહ્યાં છે. આચાર્યચરણોએ તત્વાર્થદીપનિબંધના ''દેહ વાણી દ્વારા બાહ્યરૂપથી અને મન દ્વારા આંતરિકરૂપથી સાંસારિક વિષયોનો ત્યાગ કરીને કેવળ કૃષ્ણમાં જ મન લગાડવું જોઈએ. અન્ય દેવતાઓને શ્રીકૃષ્ણની વિભૂતિ જાણીને સન્માન કરવું જોઈએ. આવી રીતે જીવનપર્યંત કરતા રહેવાથી શીઘ્ર સાયુજ્ય ફલ પ્રાપ્ત થશે. (સર્વ-૨૧૮)'' આ વાક્ય દ્વારા સાયુજ્યફલ કેવલ મર્યાદાભક્તિનું ફલ બતાવ્યું છે. પુષ્ટિફલ તો આ શ્લોકમાં કહેલ પ્રકારથી ભગવદ્કૃપા દ્વારા કેવલ સ્વાર્થરહિતભાવને સાધવાથી પ્રાપ્ત થાય છે. તેથી સિદ્ધ થાય છે કે મર્યાદામિશ્રિત પુષ્ટિભક્તનો સંગ પણ શુદ્ધપુષ્ટિજીવ માટે સાધક નથી.

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

શ્રીરઘુનાથજી :- અજામિલના દૃષ્ટાંત દ્વારા આચાર્યચરણો આજ્ઞા કરી રહ્યાં છે કે, અજામિલ વેશ્યાપતિ, મહાપાતકી અને અધમ બ્રાહ્મણ હતો. તેણે પોતાના પુત્રનું નામ નારાયણ રાખેલું હતું. મૃત્યુસમયે તેણે પોતાના પુત્ર નારાયણ – જેનાથી એને વિશેષ સ્નેહ હતો – તેનું નામ પોકાર્યું. તેણે તો પોતાના પુત્રનું નામ પોકાર્યું પરંતુ તે નામ ભગવાનનું હોવાથી ભગવાને તેનો ઉદ્ધાર કરી દીધો હતો. (જુઓ શ્રી.ભા. ૬/૨/૮) આ વાત આપણા અનુભવમાં છે જ. તેવી જ રીતે કેવલ ભગવદ્નામ લઈ લેવાથી ઉદ્ધાર થઈ જવાનો અનુભવ શાસ્ત્રોમાં પણ છે, આપણા બધાના અંતઃકરણમાં પણ છે અને પ્રત્યક્ષરૂપથી પણ છે. અજામિલાદિ પદમાં (અજામિલ + આદિ) આદિ શબ્દથી ગજેન્દ્રની મુક્તિ અને નારકીયજીવો પણ ગણી લેવા જોઈએ; ભગવાન તેમનો પણ ઉદ્ધાર કરે છે. નૃસિંહપુરાણમાં પણ ભગવાનનું આવું માહાત્મ્ય પ્રસિદ્ધ છે. તેથી દૈવીજીવોમાં પોતાના અખિલ માહાત્મ્ય જે શ્રીકૃષ્ણએ સ્થાપિત કર્યું છે, એવા શ્રીકૃષ્ણ મારી ગતિ છે.

શ્રીકલ્યાણરાયજી :- આ શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં ટીકાકાર લખે છે કે, આ વાત આપણા અનુભવમાં જ છે કે ભગવાને અજામિલ જેવા મહાપાતકી જીવોના દોષ નષ્ટ કરી દીધા હતાં. આવી રીતે ભગવાને પોતાનું સમસ્ત માહાત્મ્ય જ્ઞાપિત કરેલું છે. તેથી આચાર્યચરણો આ શ્લોકમાં ભગવાનના ધર્મના કાર્ય, જેમકે પાપોને દૂર કરવા અને ઈષ્ટની પ્રાપ્તિ કરાવવી જેવા કાર્યોને કહી રહ્યાં છે. તેથી ભગવદીયો માટે આવશ્યક છે કે પોતાનામાં દોષ હોવા છતાં પણ તેઓ ભગવાનનો જ આશ્રય કરે. અજામિલ મહાપાતકી હતો અને મૃત્યુના સમયે એને પોતાના પુત્ર 'નારાયણ' ને પોકાર્યો, પરંતુ ભગવાનનું નારાયણ નામ તો પરંપરાથી તેમના જ અર્થમાં પ્રયોગ થતો આવ્યો છે, તેથી પોતાનું માહાત્મ્ય પ્રદર્શિત કરવા માટે ભગવાને મહદ્-કૃપા કરીને પોતાના નામ ના સમાન પુત્રનું નામ લેવા પર પણ અજામિલનો ઉદ્ધાર કરી દીધો હતો – આ વાત આપણા અનુભવમાં છે. અહિંયાં આચાર્યચરણ પ્રભુને **ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः** કહીને સંબોધિત કરી રહ્યાં છે, કારણકે પ્રભુએ પોતાના આવા અખિલ માહાત્મ્યને સર્વત્ર જ્ઞાપિત કરી આપ્યું છે.

શ્રીદ્વારકેશ્વરજી :- ટીકાકાર અહિંયાં કોઈ પૂર્વપક્ષીની શંકા ઉપસ્થિત કરતાં કહે છે કે, આવા નિરંતર જીવન-મરણના ચક્રમાં ફરવાવાળા દોષયુક્ત જીવો કેવલ ''કૃષ્ણ જ મારી ગતિ છે'' આટલું કહી દેવાથી ભગવાન તેમના આશ્રય કેવી રીતે બની જશે ? આ શંકાનું સમાધાન આચાર્યચરણોએ આ શ્લોકમાં કર્યું છે. ભગવાનનો આશ્રય કરવો એ જીવનું પરમ કર્તવ્ય છે, તેથી જ્યારે કોઈ ભક્તિમાર્ગીયજીવ ભગવાનનો આશ્રય કરે છે, ત્યારે ભગવાનને તે વાતનો ઘણો ઉત્સાહ હોય છે. જેવી રીતે ભગવાને

પોતાના નામનું માહાત્મ્ય પ્રસિદ્ધ કરવા માટે મૃત્યુસમયે કેવલ તેમનું નામ લઈ લેવા માત્રથી અજામિલ જેવા મહાપાતકી જીવોના સમસ્ત દોષોનો નાશ કરી દીધો હતો, કારણકે ભગવાનને પોતાના ભક્તિમાર્ગનો વિશેષરૂપથી પક્ષપાત છે, તેવી જ રીતે ભક્તિમાર્ગીય આશ્રયના માહાત્મ્યને પ્રસિદ્ધ કરવા માટે કેવળ નામ લઈ લેવાથી જ ભગવાન તે જીવના આશ્રય બની જશે, આ ભાવ છે. તો પણ આપણને સંદેહ રહે છે કે, ક્યાં ક્ષુદ્રતમ જીવ અને ક્યાં બ્રહ્માદિને પણ દુર્લભ ભગવાન; આવા દુર્લભ ભગવાન આપણા આશ્રય બની જશે, તે નિશ્ચયપૂર્વક કેવીરીતે કહી શકાય ? તો આચાર્યચરણ તે શંકાનું સમાધાન કરતાં આજ્ઞા કરી રહ્યાં છે કે, ભગવાન આ પ્રકારે જીવના આશ્રય બની જાય છે, આ વાત આપણા અનુભવમાં છે. તેથી આ વાતનો નિર્ણય કરીને હું કહી રહ્યો છું, તેથી જ અજ્ઞાન-અન્યથાજ્ઞાનના પ્રતિકૂલ તર્કો દ્વારા આપણે અન્યથા શંકા ન કરવી જોઈએ. આચાર્યચરણો આગળ કહી રહ્યાં છે કે, આપણા ચિત્તમાં ભલે ભગવદ્-આશ્રય દૃઢ ન થયો હોય, તો પણ નિરંતર ભગવાનનું અનુસંધાન કરવાથી મારા કહ્યા અનુસાર મારા દ્વારા અનુભૂત ભગવાન તમારા અનુભવમાં પણ આવી જશે. આપશ્રી કહે છે કે, ભગવાનનું માહાત્મ્ય અજ્ઞાત નથી. ભગવાને સાક્ષાત્‌રૂપથી અથવા પરંપરારૂપથી અથવા શ્રુતિપુરાણ-શ્રીભાગવત જેવા શાસ્ત્રો દ્વારા પોતાનું માહાત્મ્ય જ્ઞાપિત કરી રાખ્યું છે. જેવી રીતે ''આ પરમાત્માથી સર્વપ્રથમ આકાશ ઉત્પન્ન થયું, આકાશથી વાયુ, વાયુથી અગ્નિ, અગ્નિથી જળ, જળથી પૃથ્વી, પૃથ્વીથી ઔષધિ, ઔષધિથી અન્ન અને અન્નથી મનુષ્ય ઉત્પન્ન થયો. (તૈ.ઉ.૧/૨/૧)'' વગેરે શ્રુતિઓ દ્વારા ભગવાનને સૃષ્ટિકર્તાના રૂપમાં બોધ કરાવવાવાળી શ્રુતિ દ્વારા ભગવાનનું માહાત્મ્ય સર્વત્ર પ્રસિદ્ધ છે. જે જીવોની પ્રવૃત્તિ કર્મમાર્ગમાં છે, તેમને ભગવાન કર્મમાહાત્મ્યના રૂપથી; જે જીવોની પ્રવૃત્તિ જ્ઞાનમાર્ગમાં છે, તેમને ભગવાન જ્ઞાનમાર્ગથી માહાત્મ્ય જ્ઞાન કરાવી દે છે. ભક્તિમાર્ગીયોને તો ''માતા યશોદાને તેમના મુખમાં સંપૂર્ણ બ્રહ્માંડના દર્શન થઈ ગયાં (શ્રી.ભા. ૧૦/૭/૩૫)'', ''માતા યશોદાની ગોદમાં શ્રીકૃષ્ણ અચાનક ચટ્ટાનની જેમ ભારે થઈ ગયા. (શ્રી.ભા.૧૦/૭/૧૮)'' વગેરે વાક્યોને અનુસાર સાક્ષાત્‌રૂપથી પોતાનું માહાત્મ્ય દર્શાવી દે છે.

શ્રીવ્રજરાજજી :- ટીકાકાર અહિંયાં લખી રહ્યાં છે કે, અજામિલનું ચરિત્ર શ્રીમદ્‌ભાગવતના ષષ્ઠસ્કંધમાં પ્રસિદ્ધ છે. તે દાસીપતિ અને અધમ બ્રાહ્મણ હતો. 'અજામિલાદિ' શબ્દમાં પ્રયોગ થયેલા 'આદિ' પદથી ગજેન્દ્ર, અહિલ્યા અને નૃસિંહપુરાણના નવમા અધ્યાયમાં માર્કણ્ડેય-મૃત્યુના પ્રસંગમાં કહેલ નારકીજીવો પણ સમજી લેવા જોઈએ. અર્થાત્ ભગવાન આવા જીવોના અને પૂર્વજન્મના કરેલા પાપોના નાશક છે. ભગવાનનું માહાત્મ્ય બતાવવા માટે આચાર્યચરણોએ અજામિલ પદથી શબ્દપ્રમાણ આપ્યું છે અને પ્રત્યક્ષપ્રમાણ માટે તેઓ **અનુભવ** વગેરે શબ્દોથી કહી રહ્યાં છે. આપશ્રી કહી રહ્યાં છે કે, ભગવાનનું આવું સમગ્ર માહાત્મ્ય આપશ્રીના અનુભવમાં છે અને જીવ દ્વારા શરણાગત થવા પર એની માયા, પ્રતિબંધકો વગેરે દૂર થઈ જશે, અને તેને પણ પોતેજ ભગવદ્-માહાત્મ્યનો અનુભવ થઈ જશે.

કેષાંચિત્ :- ટીકાકાર અહિંયા એક પૂર્વપક્ષીની શંકા કરતાં કહે છે કે, જો પુષ્ટિમાર્ગીયોને ફક્ત ભગવદ્-આશ્રયજ કરવો હોય તો પછી તેને કરવા માટે કોઈ જાતના પુરુષાર્થ બાકી રહેતાં નથી. તો શું પુષ્ટિમાર્ગીયોને પુરુષાર્થ ન કરવા ? જો કરવા હોય તો કયાં કરવાં ? કેવી રીતે કરવાં ? તે પુરુષાર્થો કેવી રીતે સિદ્ધ થશે ? આ શંકાનું સમાધાન કરતાં આપશ્રી લખે છે કે શુદ્ધ-પુષ્ટિમાર્ગીયજીવ માટે ચતુર્વિધ-પુરુષાર્થરૂપ પોતે ભગવાન શ્રીકૃષ્ણ જ છે, આ પુરુષાર્થને સિદ્ધ કરવા માટે એક માત્ર સાધન એમની શરણાગતિ જ છે, અન્ય બીજું કંઈ નથી. આ શ્લોકમાં આચાર્યચરણ ભગવાનનો ધર્મરૂપ નિરૂપિત કરી રહ્યાં છે. પુષ્ટિમાર્ગીયોના પુરુષાર્થ મર્યાદામાર્ગીયોથી ભિન્ન છે અને સ્વાર્થરહિત છે. જેવી રીતે ધર્મનું આચરણ કરવાથી દોષોની નિવૃત્તિ અને પવિત્રતા પ્રાપ્ત થાય છે, તે જ પ્રકારે ભગવાન પોતાના સ્વરૂપ દ્વારા જ દોષનિવારક બની જાય છે અને ઈષ્ટ પ્રાપ્તિ કરાવી દે છે. આ શ્લોકમાં ભગવાનનું ધર્મસ્વરૂપનું નિરૂપણ કરતાં આચાર્યચરણ અજામિલનું દૃષ્ટાંત આપી રહ્યાં છે. જેવી રીતે અજામિલ જેવાં જીવ પ્રબળ દોષોથી દુષ્ટ હતાં, તેવી રીતે અહિંયાં જીવની સમસ્ત દેહ પણ તેવાજ પ્રબલદોષોથી દુષ્ટ છે. જીવોના તે દોષોનો નાશ પ્રભુ પોતાના સ્વરૂપ દ્વારા જ કરે છે, જીવ દ્વારા કરેલા સાધનો વડે નહિ. આ ભગવાનનું દોષનિવૃત્તિરૂપ ધર્મનું કાર્ય છે. ભગવાન જીવ ના દોષો દૂર કર્યા પછી તેની સમસ્ત દેહ-ઈન્દ્રિયોમાં પોતે બિરાજીને તેને સ્વરૂપાનંદનો આનંદ કરાવે છે - આ ભગવાનનો ઈષ્ટપ્રાપ્તિરૂપ કાર્ય છે. ભગવાને પોતાનું સમસ્ત પુષ્ટિલીલારૂપ અને માહાત્મ્ય જગતમાં જ્ઞાપિત કરી દીધું છે, તેથી આપશ્રી તેમને **જ્ઞાપિતાખિલમાહાત્મ્યઃ** શબ્દથી સંબોધિત કરી રહ્યાં છે. આજ કારણે વ્રજવાસીઓને પણ તેમની લીલાનો અનુભવ થયો.

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

શ્રીરઘુનાથજી :- શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતા ટીકાકાર કહે છે કે, બ્રહ્મા વગેરે સમસ્ત દેવતાઓ પ્રાકૃત છે. પ્રકૃતિનો અર્થ છે - માયા. અર્થાત્ આ સમસ્ત દેવતાઓ માયાથી બંધાયેલા હોવાને કારણે તેમની ઉત્પત્તિ-સ્થિતિ થતી રહેતી હોય છે. તેથી આ દેવતાઓનો આશ્રય કરવો આપણને કાલના ભયથી છૂટકારો આપી શકતો નથી પણ ઉલટો ભય ઉત્પન્ન કરાવી દે છે. આજ કારણે શ્રીમદ્-ભાગવતના દશમસ્કંધમાં માતા દેવકીએ ભગવાન પ્રતિ "હે પ્રભુ ! આ જીવ લોકાંતરમાં ભટકતો રહ્યો પરંતુ એને એવું કોઈ સ્થાન ન મળ્યું જ્યાં નિર્ભય થઈ શકે. હવે એને આપના ચરણારવિંદમાં સ્થાન મળી ગયું છે, જેનાથી આ સુખની નિદ્રા લઈ રહ્યો છે. (શ્રી.ભા. ૧૦/૩/૨૭)" આ વચનો છે. ટીકાકાર બીજી શંકા કરતાં કહે છે - ભલે સમસ્ત દેવતાઓ પ્રાકૃત હોય પણ અક્ષરબ્રહ્મમાં તો ઉદ્ધાર કરવાનું સામર્થ્ય છે જ, તો પછી શ્રીકૃષ્ણનું જ આશ્રય કરવાની શી આવશ્યકતા છે ? અક્ષરબ્રહ્મનું જ આશ્રય કેમ ન કરી લેવાય ? આ શંકાનું સમાધાન કરતા આપશ્રી કહે છે કે બ્રહ્માની અપેક્ષા અક્ષરબ્રહ્મમાં સો ગણો આનંદ વધારે છે, પરંતુ પૂર્ણપુરુષોત્તમ શ્રીકૃષ્ણની જેમ અપરિમિત આનંદ નથી. સકલદુઃખહર્તા-હરિ-શ્રીકૃષ્ણતો પૂર્ણાનંદ છે અને તેમનો આનંદ ક્યારેય ખંડિત થવાવાળો નથી. તેથી સર્વપ્રકારે શ્રીકૃષ્ણજ આપણી ગતિ છે.

શ્રીકલ્યાણરાયજી :- આપશ્રી લખે છે કે સમસ્ત દેવતાઓ પ્રાકૃત છે કારણ કે આ બધા સત્વગુણના અહંકાર દ્વારા ઉત્પન્ન થયા છે. અને બૃહદ્ અર્થાત્ અક્ષરબ્રહ્મ ગણિતાનંદ છે. કારણકે તૈતિરીયોપનિષદ (૨/૮/૨,૧૨) માં તેમના આનંદની ગણના કરવામાં આવી છે. પરંતુ શ્રીકૃષ્ણ તો પરમદુઃખહર્તા-હરિ છે અને પૂર્ણાનંદ છે. કેવળ ભગવાન શ્રીકૃષ્ણજ દ્વારા આનંદમાં પૂર્ણતા આવે છે. અન્ય દેવતાઓ જો સાયુજ્ય-મોક્ષ આપી દે, તો પણ તેઓ પ્રાકૃત છે અને સગુણ છે. તેથી તેમના દ્વારા આપેલ મુકિત પણ સગુણ જ હશે. જોકે અક્ષરબ્રહ્મ નિર્ગુણ છે તથાપિ તેનો આનંદ ગણિત છે અને અલ્પ પણ છે. તેથી જેવી રીતે કોઈ ભુખ્યા વ્યક્તિને કોળિયા બે કોળિયા ભોજન કરાવી દેવું તે ભોજન ન કરાવ્યા બરાબર છે, તેવી રીતે અક્ષરબ્રહ્મ દ્વારા આપેલ આનંદ પણ અલ્પ જ સિદ્ધ થાય છે. ભગવાન શ્રીકૃષ્ણની તુલનામાં અક્ષરબ્રહ્મની આજ અલ્પતાને બતાવવા માટે આચાર્યચરણોએ <u>ગણિતાનંદકં</u> શબ્દમાં 'ક' પ્રત્યયનો પ્રયોગ કર્યો છે. ભગવાન શ્રીકૃષ્ણની પૂર્ણતા બતાવવા માટે શ્રુતિઓમાં "જેવી રીતે મીઠાનો ગાંગડો અંદર બહાર સર્વપ્રકારે રસઘન હોય છે, તેવી રીતે આ ભગવાન પણ સંપૂર્ણરીતે આનંદમય છે. (બૃ.ઉ.૪/૫/૧૩)", "શ્રુતિમાં આનંદમય શબ્દ પરબ્રહ્મ પરમેશ્વરનો વાચક છે. (બ્ર.સૂ. ૧/૧/૧૨)", "હું સમજી ગયો કે આપજ સાક્ષાત્ પુરુષોત્તમ છો, આપનું સ્વરૂપ છે - કેવળ અનુભવ અને કેવળ આનંદ (શ્રી.ભા. ૧૦/૩/૧૩)", "ભગવાનના શ્રીહસ્ત, ચરણ, શ્રીમુખ, ઉદર વગેરે સમસ્ત અંગો આનંદમય છે. (શા.પ્ર.૪૪)", "ભગવાનમાં ન તો બહાર છે ન તો ભીતર, ન તો આદિ છે ન તો અંત. આપ જગતની પહેલાં હતાં અને પછી પણ રહેશે.", "તે પરબ્રહ્મ પૂર્ણ છે. આ જગત પણ પૂર્ણ છે કારણકે પૂર્ણ પરબ્રહ્મથી જ ઉત્પન્ન થયો છે. તે પૂર્ણમાંથી પૂર્ણને કાઢી દેવાથી પૂર્ણ જ શેષ રહી જાય છે (બ્ર.ઉ. ૫/૧/૧)" વગેરે શ્રુતિ, ન્યાય, પુરાણવાક્યોને અનુસાર ભગવાન શ્રીકૃષ્ણજ પૂર્ણ છે. અને, ભગવાન આનંદસ્વરૂપ છે અને આનંદનો આધાર છે - આ સમજી લેવું જોઈએ. આ બધુંજ આપણા પ્રભુચરણોએ વિદ્વન્મંડનગ્રંથમાં સમજાવ્યું છે, તેથી અમે અહિંયાં વિસ્તાર નથી કરતા.

શ્રીદ્વારકેશજી :- ટીકાકાર આ શ્લોકની વ્યાખ્યામાં કોઈ પૂર્વપક્ષીની શંકા ઉપસ્થિત કરતાં કહે છે કે, જેવી રીતે આકાશથી પડેલો જલ અંતમાં તો સાગરમાં જ મળી જાય છે, તેવી જ રીતે કોઈપણ દેવતાને કરેલો નમસ્કાર અંતમાં તો શ્રીકૃષ્ણને જ પ્રાપ્ત થાય છે. આ વાક્યને અનુસાર જો આપણે અન્ય દેવતાઓનું ભજન કરશું, તો તે આખરે ભગવાન શ્રીકૃષ્ણનેજ પ્રાપ્ત થવાનું છે. તો પછી આપ કેવળ શ્રીકૃષ્ણના આશ્રયમાં જ કેમ બાંધી રહ્યાં છો ? આ શંકાનું સમાધાન આચાર્યચરણ આ શ્લોકમાં કરી રહ્યાં છે. ટીકાકાર લખે છે કે, બ્રહ્માથી લઈને સમસ્ત દેવતાઓ પ્રાકૃત છે. કારણકે તેઓ આધિભૌતિક છે. બૃહદ્-અક્ષરબ્રહ્મ પણ ગણિતાનંદ છે, અને તેનો આનંદ ગણી શકાતો હોવાથી પૂર્ણપુરુષોત્તમ શ્રીકૃષ્ણથી ઓછું છે. આજ અલ્પતાને બતાવવા માટે આચાર્યચરણોએ ગણિતાનંદકં શબ્દ માં 'ક' પ્રત્યયનો પ્રયોગ કર્યો છે. જીવમાં તો આનંદ છે જ નહિ, તિરોહિત થએલો છે. તેથી જ્યાં ગણિતાનંદ અક્ષરબ્રહ્મ તેના આનંદને પૂર્ણ નથી કરી શકતા, ત્યાં પ્રાકૃતદેવોની ઉપાસનાથી પણ કયો પુરુષાર્થ

સિદ્ધ થવાનો છે ? તથાપિ એક સંદેહ થાય છે કે, ભગવાનનો વિરાટસ્વરૂપ અને અક્ષરબ્રહ્મસ્વરૂપ તો ભગવાનની સમાન જ છે. તો જ્યારે અક્ષરબ્રહ્મ આપણો ઉદ્ધાર ન કરી શકે, તો એમ કેમ કહી શકાય કે શ્રીકૃષ્ણના આશ્રયથી ઉદ્ધાર થઈ શકે ? આ શંકાના સમાધાને આચાર્યચરણોએ શ્રીકૃષ્ણને પૂર્ણ કહ્યાં છે. આપશ્રી કહે છે કે ભગવાન શ્રીકૃષ્ણ જીવોના આનંદને દૂર કરીને સંપૂર્ણ આનંદ આપી શકે છે, અને પૂર્વમાં કહેલા પ્રાકૃતદેવતા ગણિતાનંદ વગેરે કોઈપણ પૂર્ણ આનંદ આપી શકવામાં સમર્થ નથી. પૂર્ણાનંદ શ્રીકૃષ્ણ જીવોના સમસ્ત પ્રતિબંધોને દૂર કરીને તેને પૂર્ણ કરે છે. તેથી આચાર્યચરણ શ્રીકૃષ્ણને 'હરિ' શબ્દથી સંબોધિત કરી રહ્યાં છે.

શ્રીવ્રજરાજજી :- ટીકાકાર 'દેવા' શબ્દનો અર્થ કરે છે - આઠ વસુ, એકાદશ રુદ્ર, બાર સૂર્ય, ઈન્દ્ર, પ્રજાપતિ અથવા તો તેત્રીસ કરોડ દેવતા. અથવા તો દેવોમાં સૌથી નાના અગ્નિદેવથી લઈને સૌથી મોટા વિષ્ણુ સુધીના સમસ્ત દેવતાઓ અહિંયા 'દેવા' શબ્દથી કહેવાયા છે. અથવા તો સો ગણા આનંદવાળા દેવતાઓ દેવા શબ્દનો અર્થ છે. સકલા શબ્દનો અર્થ છે - ભગવાનની કલા-અંશ સહિત સમસ્ત દેવતાઓ. આ બધા દેવતાઓ માયાને આધીન છે. આ દેવતાઓને કાળ ભયભીત કરી શકે છે. આ દેવતાઓ તામસ, રાજસ, સાત્વિકગુણોથી યુક્ત છે, તેમણે પોતાના ગુણોનું અભિમાન છે. તેથી આચાર્યચરણ તેમને પ્રાકૃત કહી રહ્યાં છે. ગણિતાનંદ શબ્દનો અર્થ છે-બૃહદ્ અક્ષરબ્રહ્મ. તૈતિરીયોપનિષદ્ (૨/૮/૨) ને અનુસારે બૃહદ્ અક્ષરબ્રહ્મનું આનંદ ગણી શકાય છે. ભગવાન <u>હરિ</u> તો ભગવદ્ગીતાના ''હું ક્ષર-અક્ષર બંનેથી પરે છું, સૌથી ઉત્તમ છું તેથી સંસારમાં અને વેદોમાં પુરુષોત્તમ નામ થી પ્રસિદ્ધ છું. (ભ.ગી. ૧૫/૧૮)'' આ વાક્યને અનુસાર પુરુષોત્તમ છે. ટીકાકાર **પૂર્ણાનંદ** શબ્દની વ્યાખ્યા કરતાં કહે છે કે ''મન અને વાણી સહિત સમસ્ત ઇન્દ્રિયો પુરુષોત્તમના સ્વરૂપને જાણ્યા વગર જ પાછી ફરી જાય છે. (તૈ.ઉ. ૨/૯/૧)'' આ શ્રુતિમાં ભગવાન પુરુષોત્તમનો આનંદ મન અને વાણીના અનુભવથી ઉપર બતાવ્યું છે. તેથી પુરુષોત્તમનો આનંદ અક્ષરબ્રહ્મથી અધિક છે અને નિરવધિ છે. આ કારણે આચાર્યચરણ શ્રીકૃષ્ણને પૂર્ણ કહી રહ્યાં છે.

કેષાંચિત્ :- ટીકાકાર અહિંયાં એક સંદેહ કરે છે કે જીવોની દેહ, ઇન્દ્રિય પ્રાકૃત છે અને તે ઈન્દ્રિયોમાં રહેવાવાળા દેવતા પણ પ્રાકૃત જ હશે. તો પછી તેમના દોષોની નિવૃત્તિ કેવી રીતે થશે ? આ શંકાનું સમાધાન કરતાં આપશ્રી લખે છે કે, જ્યારે જીવ પુષ્ટિભાવને અનુસાર ભગવાનની શરણાગતિ લે છે, ત્યારે તેમની સમસ્ત દેહ-ઈન્દ્રિયોનો સંઘાત (સમૂહ) કૃષ્ણ જ બની જાય છે. ભગવાનના આ જ અર્થસ્વરૂપનું નિરૂપણ આચાર્યચરણોએ આ શ્લોકમાં કહ્યું છે. પ્રપંચ-નિરૂપણના વિષયમાં આચાર્યચરણ આપણને સમજાવે છે કે ભગવાને જડમાં પોતાનો સદંશ પ્રકટ કર્યો અને ચિત્ત-આનંદ બંનેને તિરોહિત કરી દીધા. જીવમાં સત્-ચિત્ત બંને પ્રકટ કર્યા પરંતુ આનંદાંશને તિરોહિત કરી દીધો પરંતુ પુષ્ટિમાર્ગીયજીવમાં તો ભગવદ્સેવા, ભગવદ્-ગુણગાન વગેરેથી જીવનનિર્વાહ કરવાથી સાધનદશામાં જ પોતે આનંદાંશ પ્રકટ થઈ જાય છે. સિદ્ધાંત-રહસ્યગ્રંથમાં પણ આજ વાત ''ભગવાનને બધું કંઈ સમર્પિત કરી દેવાથી સમસ્ત વસ્તુઓ બ્રહ્મમય બની જાય છે. (૪)'', આ વાક્ય દ્વારા કહેવાય છે. નિરોધલક્ષણગ્રંથમાં પણ ''સમસ્ત પ્રપંચનું પરિત્યાગ કરીને સદાનંદ શ્રીકૃષ્ણનો સદા ગુણગાન કરવું જોઈએ, તેનાથી સચ્ચિદાનંદતા પોતે જ પ્રાપ્ત થઈ જાય છે (૯)'', આ વાક્યો દ્વારા આચાર્યચરણોએ કહ્યું છે. આ પરિસ્થિતિઓમાં ઈન્દ્રિયોમાં રહેવાવાળા સમસ્ત પ્રાકૃત દેવતા પણ અંતઃકરણમાં પુરુષોત્તમનો આવિર્ભાવ થવાથી સચ્ચિદાનંદરૂપ થઈ જાય છે અર્થાત્ સમસ્ત પ્રાકૃત દેવતા પૂર્ણપુરુષોત્તમના સંયોગથી રસાત્મક બ્રહ્મરૂપ બની જાય છે. તેથી આચાર્યચરણો તેમને કલાસહિત ''સકલા'' કહી રહ્યાં છે. આગળ આપશ્રી લખે છે કે જીવના સમસ્ત દેહ-ઈન્દ્રિયોમાં પુરુષોત્તમનો આવિર્ભાવ થવાથી તે સંપૂર્ણરીતથી સચ્ચિદાનંદાત્મક બની જાય છે અને તેમાં પૂર્ણપુરુષોત્તમને સંબંધિત રસાત્મક ભાવ ઉત્પન્ન થાય છે. હવે જ્યારે જીવમાં તે રસાત્મક ભાવ દ્વારા ભગવદ્-વિરહતાપ ઉત્પન્ન થાય છે, ત્યારે તેની શાંતિ માટે તેની દેહ-ઈન્દ્રિયોમાં તેનું જ સ્વરૂપ લઈને ભગવાન બિરાજી જાય છે અને તે સમસ્ત જીવોને પોતાના પૂર્ણસ્વરૂપનું આનંદ આપી તેમના દુઃખોને હરી લે છે. તેથી આચાર્યચરણ શ્રીકૃષ્ણને પૂર્ણાનંદ-હરિ કહી રહ્યાં છે. તેથી જીવનો જ્યારે સંપૂર્ણ શરીર જ સાક્ષાત્ રસાત્મક લીલારૂપ પૂર્ણાનંદ ભગવદ્રૂપજ થઈ જાય છે, તો હવે દોષ માટે કયાં સ્થાન છે ? આ ભાવ છે. જીવને ભગવાનના એવા સ્વરૂપનો અનુભવ પ્રાપ્ત કરવા માટે તેમની શરણજ એકમાત્ર સાધન છે. આ કારણે આચાર્યચરણ કૃષ્ણ એવ વગેરે શબ્દોથી ભગવાનની શરણાગતિ નિરૂપિત કરી રહ્યાં છે.

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

શ્રીરઘુનાથજી :- ''હરિ જે કાંઈ કરશે તે તેમની પોતાની ઇચ્છાથી કરશે - આજ વિવેક છે'' આ વાક્યાનુસાર, મનમાં આવા પ્રકારનું અનુસંધાન રાખવું વિવેક કહેવાય છે. ત્રણ પ્રકારના દુઃખો (આધ્યાત્મિક, આધિદૈવિક, આધિભૌતિક) ને સહન કરવું ધૈર્ય કહેવાય છે. ભક્તિનો અર્થ થાય છે - આશ્રય. આદિ પદ દ્વારા ભક્તિના સાધનો ગણી લેવા જોઈએ; તાત્પર્ય આ થયું કે જીવ વિવેક, ધૈર્ય, ભક્તિ અને તેના સાધનોથી રહિત છે. ફક્ત એવા જીવોની જ નહિ પરંતુ વિશેષરૂપથી પાપમાં આસક્ત અર્થાત્ મહાપાતકી આચરણ કરવાવાળા જીવની પણ કૃષ્ણજ ગતિ છે, આ અર્થ છે. આવી વ્યક્તિઓ પાપનું આચરણ ત્યાગવામાં અસમર્થ હોય છે તેથી આચાર્યચરણો તેમને દીન કહી રહ્યાં છે. પોતે ભગવાને પણ આવા જીવોનો ઉદ્ધાર, ''હે અર્જુન ! સ્ત્રી, વૈશ્ય, શૂદ્ર, પાપયોનીવાળા જે કોઈ પણ હોય, મારી શરણમાં આવી ને પરમગતિને પ્રાપ્ત કરે છે. (ભ.ગી.૧/૩૨)'' ''યદિ કોઈ અતિશય દુરાચારી વ્યક્તિ પણ અનન્યભાવથી નિરંતર મારું ભજન કરે તો તેને સંત જ સમજવો જોઈએ (ભ.ગી. ૯/૩૦)'' વગેરે શ્લોકો દ્વારા એમની શરણ વડે જ કહ્યું છે.

શ્રીકલ્યાણરાયજી :- અહિંયાં કોઈ પૂર્વપક્ષીની શંકા ઉપસ્થિત કરતાં ટીકાકાર લખે છે - કેવળ વિવેકધૈર્ય પર અવલંબિત રહેતાં ભક્તિ કરવાથી પણ ભગવાન વશમાં થઈ જાય છે, તો પછી અહિંયાં દીનતાપૂર્વક આશ્રય માટે શા માટે પ્રાર્થના કરવામાં આવે છે ? આ શંકાનું સમાધાન કરતાં આચાર્યચરણ આ શ્લોકમાં ભગવાન શ્રીકૃષ્ણના કામ સ્વરૂપને બતાવી રહ્યાં છે. કારણકે ભગવાન સમસ્ત મનોરથોને પૂર્ણ કરવાવાળા છે અને સમસ્ત ફળની સિદ્ધિ માટે તેમની જ કામના કરાય છે. આની પહેલાં આચાર્યચરણોએ પ્રભુસ્વરૂપનો વિચાર કરીને આશ્રયનો ઉપદેશ આપ્યો છે અને હવે તેઓ જીવસ્વરૂપનો વિચાર કરીને આશ્રયનો ઉપદેશ આપી રહ્યાં છે. ભગવાન સર્વ કાંઈ એમની પોતાની ઈચ્છાથી કરશે પ્રાર્થના વડે નહિ - મનમાં આ પ્રકારનો નિશ્ચય કરવો જ વિવેક છે. ભગવદ્ભક્તિના દુઃખો સિવાય અન્ય બીજા લૌકિક દુઃખોની નિવૃત્તિનો ઉપાય ન કરવો ધૈર્ય કહેવાય છે. **ભક્તિ** પદથી સાધનરૂપા ભક્તિનો પણ અર્થ લઈ લેવો જોઈએ, અર્થાત્ જીવમાં ન ફલરૂપા-ભક્તિ છે અને નથી સાધનરૂપા-ભક્તિ. **આદિ** પદથી પુણ્યનો અર્થ લઈ લેવો જોઈએ. **વિશેષતઃ** શબ્દનો અર્થ છે - જીવ વિશેષરૂપથી સમસ્ત સાધનોથી રહિત છે. અથવા આવો અર્થ કરો કે જીવમાં ગણ્યા ગાંઠ્યા સાધનો છે, વિશેષ નહિ. તેથી તેને ફલસિદ્ધિ થતી નથી. **દીનસ્ય** ના અર્થ છે - જીવ દરિદ્ર છે અને આજ કારણે સમસ્ત સાધનોથી રહિત છે. **પાપાસક્તસ્ય** શબ્દનો અર્થ છે - જીવ પાપમાં આસક્ત છે અને પુષ્ટિમાર્ગના સિદ્ધાંતોને વિપરીત સાધનોમાં નિષ્ઠા રાખવાવાળો છે. આવા જીવોની ગતિ શ્રીકૃષ્ણજ છે. અન્યત્ર બીજા માર્ગોમાં તો જીવમાં થોડી ઘણી પણ વિગુણતા થઈ જાય તો સમસ્ત કર્મો વિફલ થઈ જાય છે, દેવતા કોપાયમાન થઈ જાય છે, અનિષ્ટ થઈ જાય છે અને દેવતા તેને અલ્પફળ જ આપે છે. પરંતુ પુષ્ટિભક્તિમાર્ગમાં તો આવા જીવને ભગવાન વિવેક, ધૈર્ય, ભક્તિ વગેરે આપીને આશ્રય પ્રદાન કરે છે. અથવા તો પરમકૃપાલુ કૃષ્ણ પોતે જ ફલદાતા બની જાય છે, આ વાત હૃદયંગમ કરવી જોઈએ.

શ્રીદ્વારકેશરજી :- આ શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં ટીકાકાર કોઈ પૂર્વપક્ષીની શંકા કરતા કહે છે કે પોતે આચાર્યચરણોએ ભક્તિને દૃઢ કરવા માટે વિવેકધૈર્યાશ્રય ગ્રંથમાં વિવેક-ધૈર્ય-આશ્રય નું નિરૂપણ કર્યું છે અને અહિંયાં આપશ્રી પોતે જ વિવેક ધૈર્યને છોડીને કેવલ આશ્રયનો જ ઉપદેશ આપી રહ્યાં છે, તેથી આપશ્રીના જ કથનમાં પરસ્પર વિરોધ ઉત્પન્ન થઈ રહ્યો છે. આ શંકાનું સમાધાન આચાર્યચરણોએ આ શ્લોકમાં આપ્યું છે. કોઈપણ પ્રકારની પ્રાર્થનાની અપેક્ષા રાખ્યા વગર ભગવાન બંધુ કોઈ તેમની પોતાની ઈચ્છાથી કરશે - મનમાં આ પ્રકારનો નિશ્ચય થઈ જવો વિવેક કહેવાય છે. દુઃખોને સહેતા રહેવું ધૈર્ય કહેવાય છે. **ભક્તિ** શબ્દથી આચાર્યચરણોનું તાત્પર્ય પ્રેમલક્ષણા-ભક્તિ અથવા તો તેની સાધનરૂપ ભક્તિ છે. **આદિ** પદથી મર્યાદા-ભક્તિના સાધનોનો અર્થ ગ્રહણ કરી લેવો જોઈએ. અહિંયાં આ વિચારવું જોઈએ કે ભગવદ્-પ્રાપ્તિ તો કેવલ ભક્તિથી પ્રાપ્ત થઈ શકે છે અન્ય બીજા કોઈથી નહિ. ભગવદ્-પ્રાપ્તિ સિવાય જે અન્ય ધર્મ, અર્થ, કામ, મોક્ષની કામનાઓ છે, તે કામનાઓની ભક્તિ વડે પૂર્તિ થવી તો ભક્તિનું બહુ નાનું ફળ છે. તેથી જ્યાં એવી ભક્તિ વગર પણ ફક્ત ભગવાનનો આશ્રય કરવાથી સમસ્ત

કાર્યો સિદ્ધ થઈ શકતા હોય, ત્યાં વિવેક-ધૈર્ય વગર પણ કેવળ આશ્રય થકી જ કાર્ય સિદ્ધ થઈ જાય, તો એમાં શું આશ્ચર્ય છે ? જીવ ત્યારે મનમાં આ દૃઢ નિશ્ચય કરી લે છે કે, કેવળ વિવેક-ધૈર્ય-ભક્તિ પ્રાપ્ત કરી લેવાથી તેનું કાર્ય સિદ્ધ થઈ શકતું નથી, ત્યારે તેમાં દીનતા પ્રકટ થાય છે અને એવા દીનરૂપથી ભગવાનને શરણાગત થવા પર જ આશ્રય પ્રાપ્ત કરવામાં તેનો અધિકાર સિદ્ધ થઈ શકે છે. દીન અને શરણાગત થયા વગર નહિ.

શ્રીવ્રજરાજજી :- ટીકાકાર લખે છે - આઠ શ્લોકો સુધી ભગવદ્-સ્વરૂપના વિચાર દ્વારા આચાર્યચરણોએ-બધા પ્રકારે ભગવદ્-આશ્રયજ જીવોનું એક માત્ર સાધન છે અન્ય બીજો કોઈપણ માર્ગ નથી-આ સિદ્ધ કર્યું, એના પછી આ શ્લોકમાં આચાર્યચરણો તે ઉપાય બતાવી રહ્યાં છે જેનાથી વિવેક, ધૈર્ય વગર પણ ભગવદ્આશ્રય ફલસિદ્ધિ પ્રાપ્ત કરાવી શકે છે. ટીકાકાર લખે છે કે જીવ વિવેક, ધૈર્ય, ભક્તિ વગેરેથી રહિત છે, તેનાથી સૂચિત થાય છે કે પ્રભુપ્રાપ્તિ માટે જેટલા સાધનો છે, જીવ તે બધાથી રહિત છે. આસક્તિનો અર્થ છે - જે સંગને છોડી ના શકાતો હોય તે. આ પ્રકારે વિવેક-ધૈર્ય-ભક્તિથી રહિત અને પાપાસક્ત આ બે પ્રકારના બાધક હોવા છતાં પણ જે સાધનથી ભગવદ્-આશ્રય સિદ્ધ થઈ શકે છે, તે સાધન આચાર્યચરણો **દીનસ્ય** શબ્દથી કહી રહ્યાં છે. તાત્પર્ય આ છે કે જીવમાં ભગવદ્પ્રાપ્તિના સાધનોનો તો અભાવ છે અને બાધકોની બહુલતા હોવાને કારણે તેને મનમાં ગ્લાનિનો અનુભવ થાય છે. તેથી આચાર્યચરણો તેને દીન કહી રહ્યાં છે. પોતાની એવી દુર્ગતિ જોઈને તે કાંતિહીન થઈ જાય છે. આજ દીનતા છે. આ પ્રકારની ગ્લાનિ દુષ્ટોને થવી તો દુર્લભ જ છે. મર્યાદાભક્તો-સત્પુરુષોને જ્યારે આવી ગ્લાનિનો અનુભવ થાય છે, ત્યારે ભગવદ્ સેવાના માર્ગને છોડીને તેમની પ્રવૃત્તિ અન્ય સાધનોમાં થઈ જાય છે. પરંતુ અહિંયાં પુષ્ટિમાર્ગીયજીવોને તો પોતાની અસમર્થતાની ગ્લાનિ અને ભગવદ્શરણાગતિ, આ બંનેની વિલક્ષણતાથી આશ્રયની સિદ્ધિ થઈ જાય છે.

કેષાંચિત્ :- ટીકાકાર લખે છે કે પૂર્વ શ્લોકમાં આચાર્યચરણોએ ભગવાનના અર્થસ્વરૂપનું નિરૂપણ કર્યું. હવે એવા જીવોને પ્રચુર તાપ-કલેશની શાંતિ માટે તેને બાહ્યરૂપથી પ્રકટ થયેલા કોટિકંદર્પલાવણ્ય-સ્વરૂપ સાક્ષાત્ ભગવાનનો સંગ અપેક્ષિત હોય છે. તેથી આચાર્યચરણો ભગવાન ના કામસ્વરૂપનું નિરૂપણ કરતાં વિવેક વગેરે શબ્દોથી શરણાગતિ માટે પ્રાર્થના કરી રહ્યાં છે. ટીકાકાર લખે છે - આ શ્લોકનો અર્થ સમજવા પહેલાં આ સમજી લેવું જોઈએ કે પુષ્ટિમાર્ગીયભાવ આવિર્ભૂત થયા પછી ભગવદ્-વિરહનો અનુભવ કરવા માટે સમસ્ત સાંસારિક પદાર્થોનો ત્યાગ કરવો આવશ્યક બની જાય છે. ત્યાગ કર્યા પછી ભગવદ્ ગુણાનુવાદ કરવાથી જીવમાં ભગવાન પ્રત્યે પ્રચુરભાવ ઉચ્છલિત થાય છે, અને તેના દેહ-ઈંદ્રિય, વગેરે ભગવદ્ સ્વરૂપાત્મક બની જાય છે. આ અવસ્થા સુધી ભગવાન પ્રત્યે વિરહ અનુભવ કરવામાં ચક્ષુરાગથી લઈને લજ્જા-ત્યાગ સુધીની પ્રેમની સાત અવસ્થાઓ પૂરી થઈ ચૂકી છે, આ સમજવું જોઈએ. શાસ્ત્રમાં બતાવેલી પ્રેમની દશ અવસ્થાઓમાંથી લજ્જાત્યાગ સાતમી અવસ્થા છે. આ શ્લોકમાં શેષ રહેલી ઉન્માદ, મૂર્છા, મૃત્યુ આ ત્રણ અવસ્થાઓનું નિરૂપણ આચાર્યચરણોએ કહ્યું છે. આ ત્રણ અવસ્થાઓ છે - વિવેક, ધૈર્ય અને ભક્તિ; જીવ આનાથી રહિત છે. વિવેકરહિત થવું એટલે કે ઉન્માદ થવો. કારણકે ઉન્માદાવસ્થામાં વિવેક નષ્ટ થઈ જાય છે. ધૈર્યરહિત થવા પર અહર્નિશ સાક્ષાત્ ભગવદ્સંગ પ્રાપ્ત ન થવાથી વિરહતાપ દ્વારા જીવ અસ્વસ્થ થઈ જાય છે. આને પ્રેમની નવમી દશા 'મૂર્છા' સમજવી જોઈએ. આના પછી તે પુનઃ જ્યારે જાગૃત અવસ્થામાં આવે છે ત્યારે તેને તેના સ્વરૂપનું જ્ઞાન થાય છે. ત્યારે તેને તેવો ઉચ્ચ કોટિનો સત્સંગ ન મળવાથી જીવન વ્યતીત કરવું કઠિન બની જાય છે. હવે આવી દશામાં તે જ્યારે પુનઃ ભગવદ્ ગુણગાનનો સહારો લે છે ત્યારે તે જ ગુણગાન તેના મુખ્યફલમાં અર્થાત્ ભગવદ્પ્રાપ્તિમાં પ્રતિબંધ બની જાય છે. કારણકે આવી અવસ્થામાં તેને ભગવદ્-ગુણાનુવાદ ને બદલે ભગવદ્-સ્વરૂપ પર અવલંબિત હોવું જોઈતું હતું. તેનું આજ કાર્ય પાપરૂપ છે, તેથી આચાર્યચરણો તેને પાપાસક્ત કહી રહ્યાં છે. આવી અવસ્થા થવા પછી એક ક્ષણ પણ ભગવાન વગર રહેવું મુશ્કેલ બની જાય છે. તેથી આ દશમી અર્થાત્ મૃત્યુની અવસ્થા સમજવી જોઈએ. આ બધું આચાર્યચરણોએ ફલપ્રકરણના ત્રીજા અધ્યાયના અંતમાં વિસ્તારથી સમજાવ્યું છે. (જુઓ સુબો. ૧૦/૨૮/૧૯). આ જ વાત શ્રીમદ્ભાગવતમાં ''કૃષ્ણના વિરહમાં ગોપીઓ કરૂણાજનક સ્વરોમાં ઝૂરી ઝૂરીને રડવા લાગી. (૧૦/૩૨/૧)'', ''પોતાના શ્યામસુંદરને આવ્યા જોઈને ગોપીઓના પ્રાણહીન શરીરોમાં માનો દિવ્ય પ્રાણોનું સંચાર થઈ ગયો. (૧૦/૩૨/૩)'' વગેરે શ્લોકો વડે કૃષ્ણના વિરહમાં ગોપીઓની મૃત્યુદશાનું જ નિરૂપણ થયેલું છે. તેથી અમારું કહેલું બધું કાંઈ ઊચિત જ છે.

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

શ્રીરઘુનાથજી :- આ શ્લોકની ઉત્થાનિકામાં આપશ્રી લખે છે કે, સર્વસ્વ નિવેદન કરવાવાળાઓના સાધન અને ફલ આપણાં પ્રભુ સંપાદિત કરે છે તેથી આચાર્યચરણ પ્રાર્થના પણ તેવી જ કરી રહ્યાં છે. **સર્વસામર્થ્ય** શબ્દની વ્યાખ્યા કરતાં આપશ્રી લખે છે કે ભગવાન શ્રીકૃષ્ણ કર્તુમ્ - અકર્તુમ્ - અન્યથાકર્તુમ્સમર્થ છે. તેથી તેમને આચાર્યચરણ **સર્વસામર્થ્યસહિતः** પદથી સંબોધિત કરી રહ્યાં છે, અને પ્રાર્થના કરી રહ્યાં છે કે આવા સામર્થ્યવાન તમે મારા પ્રભુ છો. **સર્વત્રૈવાખિલાર્થકૃત્** શબ્દની વ્યાખ્યા કરતાં આપશ્રી લખી રહ્યાં છે કે જ્યાં ત્યાં, યત્ર-તત્ર ભક્તિની જે કોઈ મનોકામના હોય, ભગવાન તેને પરિપૂર્ણ કરી દે છે. તેથી તેઓ **અખિલાર્થકૃત્** છે, તેથી આચાર્યચરણ પ્રાર્થના કરતાં કહી રહ્યાં છે કે હે કૃષ્ણ ! તમો મારા એવા સમર્થ સ્વામી છો, તેથી હે પરબ્રહ્મ ! શરણાગતનો સંપૂર્ણરૂપથી ઉદ્ધાર કરવાની હું આપને વિનંતી કરી રહ્યો છું, હું આપની સમક્ષ શરણાર્થી છું.

શ્રીકલ્યાણરાયજી :- આ શ્લોકની ઉત્થાનિકામાં ટીકાકાર કોઈ પૂર્વપક્ષીની શંકા કરતાં કહે છે કે, જો સર્વથા નિઃસાધનજીવ ભગવાનને શરણાગત થઈ જાય તો પણ તેને ફલસિદ્ધિ કેવી રીતે થાય ? કારણકે ભગવાન એ જીવથી કાંઈ ને કાંઈ સાધન કરવાની અપેક્ષા તો રાખે જ છે. અને તે સાધન અનુસાર જ તેને ફલ પણ આપે છે. અને કેવલ ભગવાન શ્રીકૃષ્ણને શરણાગત થવાથી અને કેવલ તેમનામાંજ મન લગાડવાથી બીજા દેવતાઓનો અનાદર થશે અને તેઓ જીવના કાર્યોમાં વિઘ્ન કરવા માંડશે. કહ્યું પણ છે કે ''ભલા કામમાં સો વિઘ્નો.'' આ શંકાનું સમાધાન કરતાં ટીકાકાર કહે છે કે, ભગવાન શ્રીકૃષ્ણથી જ મોક્ષ પ્રાપ્ત થાય છે. તેથી આ શ્લોકમાં તેઓ શ્રીકૃષ્ણના મોક્ષ-સ્વરૂપનું નિરૂપણ કરી રહ્યાં છે. ભગવાનમાં સમસ્ત કાર્યોને પૂર્ણ કરવાનું સામર્થ્ય છે. અન્ય સમસ્ત દેવતાઓમાં સામર્થ્યવાન શ્રીકૃષ્ણ જ છે તેથી કેવળ ઈચ્છા કરવા માત્રથી તેઓ બધું કાંઈ કરી લે છે. તેથી આચાર્યચરણો તેમને **સર્વસામર્થ્યસહિતः** કહી રહ્યાં છે. મર્યાદામાર્ગીય ભક્તને મર્યાદામાર્ગીયફલ આપીને તેના કાર્યો પૂર્ણ કરે છે. અને જો જીવ કદાચિત્ નિઃસાધન હોય તો તેને પણ પોતાની નિકટ લઈ લે છે. કારણકે સર્વત્ર બંધુ કાંઈ કરવામાં તેમનું જ સામર્થ્ય છે. હવે જો આવો પ્રશ્ન થતો હોય કે ભલે ભગવાનમાં બધા પ્રકારનું સામર્થ્ય હોય, તો પણ કદાચિત્ તેઓ આશ્રિતોની રક્ષા ન કરે તો શું કરવું ? આ શંકાના સમાધાને સમજવું જોઈએ કે ભગવાનના ''કેવળ એક જ વાર જે મારા શરણાગત થઈ જાય છે અને મારાથી 'હું તમારો છું' આ પ્રકારે યાચના કરે છે, તો હું તેને ચારેકોરથી અભયદાન આપી દઉ છું, આ મારું વ્રત છે'', ''જે ભક્ત સ્ત્રી, પુત્ર, ગૃહ, ગુરુજન, પ્રાણધન, આલોક અને પરલોક બધું છોડીને મારી શરણમાં આવી ગયાં છે, તેમને હું કેવી રીતે છોડી શકું (શ્રી.ભા. ૧/૪/૬૫)'' વગેરે વાક્યોથી સિદ્ધ થાય છે કે એકવાર પણ જે ભગવાનને શરણાગત થઈ જાય છે, તેની તેઓ રક્ષા કરે જ છે, તો પછી ભગવાનનું ભજન કરવાવાળાઓની વાત શું કરવી ? તેથી ઈશ્વરમાં સદૈવ દીનભાવ રાખવો જોઈએ કારણકે દીનભાવથી જ ભક્તિ કરવાથી ભગવાન પ્રસન્ન થાય છે.

શ્રીદ્વારકેશજી :- ટીકાકાર અહિંયાં એક શંકા કરી રહ્યાં છે કે, ભલા કામમાં અનેક વિઘ્નો આવે છે તો દેખાતાં અને ન દેખાતાં અનેક પ્રતિબંધકોના રહેતાં કેવળ ''કૃષ્ણજ મારી ગતિ છે'' આટલું જ કહી દેવાથી ભગવાન આપણા આશ્રય કેવી રીતે બની શકે ? આ શંકાનું સમાધાન કરતાં આપશ્રી લખે છે કે ભગવાન કર્તુમ્ - અકર્તુમ્ - અન્યથાકર્તુમ્ સામર્થ્યશાળી છે. આનું તાત્પર્ય આ છે કે, યોગ્ય-અયોગ્યના વિચારપૂર્વક બધાના અથવા બધાના અર્થને ભગવાન પૂરા કરે છે, કરશે અને કર્યું છે. ભગવાનમાં આ ગુણધર્મો અવિનાશી છે અને સર્વદા વિદ્યમાન રહે છે. તેથી તેમનો આશ્રય કરવામાં શું સમસ્યા આવી શકે ? પરંતુ અહિંયાં એક સંદેહ આ થાય છે કે, પ્રાર્થના વગર કેવળ ભગવદ્-આશ્રયથી ભગવાન જીવોનો ઉદ્ધાર કેવી રીતે કરી શકશે ? આનું સમાધાન કરતાં આપશ્રી કહી રહ્યાં છે કે, જે ભગવાનની શરણમાં જઈને નિષ્ઠાપૂર્વક શરણધર્મમાં જ ટકી રહેતાં હોય છે, તેઓ ભલે ભગવાનની પ્રાર્થના ન પણ કરે છતાંય તેનો ઉદ્ધાર કરવામાં ભગવાન હમેશાં પ્રયત્નશીલ રહેતાં હોય છે. જ્યારે ભગવાન એવા જીવોનો પણ ઉદ્ધાર કરે છે ત્યારે આચાર્યચરણ કહે છે કે, જે જીવ માટે મે પ્રાર્થના કરી છે, તેની તો વાત શી કરવી ? તેનો તો ઉદ્ધાર અવશ્ય કરશે.

શ્રીવ્રજરાજજી :- ટીકાકાર આ શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં લખે છે કે, પૂર્વના શ્લોકોમાં આ બતાવવામાં આવ્યું કે ભગવદ્પ્રાપ્તિ માટે સાધનો ન હોવા છતાં પણ આ ગ્રંથમાં કહેલ દીનતાથી ભગવદ્-આશ્રય સિદ્ધ થઈ શકે છે. હવે જે કોઈમાં

એવી દીનતા પણ ન હોય તો આપશ્રી અગ્રિમ બે શ્લોકો વડે (અર્થાત્ દસમું અને અગ્યારમું) અન્ય બીજા સાધનોને કહી રહ્યાં છે. ટીકાકાર લખે છે કે કર્તુમ્-અકર્તુમ્-અન્યથાકર્તુમ્ વગેરે જેટલી પણ સામર્થ્યો છે, તે બધી જ સામર્થ્ય પ્રભુમાં વિદ્યમાન છે - આ વાત આચાર્યચરણો પૂર્વનાં અજામિલવાળા પદ્યમાં કહી ચૂક્યા છે. સમસ્ત સ્થલો પર સમસ્તજીવોમાં સર્વત્ર અખિલવસ્તુઓના કૃત્ અર્થાત્ કર્તા શ્રીકૃષ્ણ પ્રભુ જ છે. આચાર્યચરણ આજ્ઞા કરી રહ્યાં છે કે, એવા સામર્થ્યશાળી શ્રીકૃષ્ણ મુજ આચાર્યવર વૈશ્વાનરને જગતનો ઉદ્ધાર કરવાની આજ્ઞા આપી છે, તેથી આ શરણમાર્ગનો અનુકરણ કરવાવાળાઓનો સમુદ્ધારં અર્થાત્ તેના પરમફલને પ્રાપ્ત કરાવા સુધીના ઉદ્ધારની હું શ્રીકૃષ્ણને પ્રાર્થના કરી રહ્યો છું. અથવા તો પૂરાશ્લોકનો અર્થ એવી રીતે કરી શકાય કે, પોતે આચાર્યચરણ સર્વસામર્થ્યસહિત છે અને સર્વત્રૈવાખિલાર્થકૃત્ છે. તેથી જીવોનું પૂર્ણરૂપથી ઉદ્ધાર કરવાવાળા શ્રીકૃષ્ણથી તેઓ ઉદ્ધાર કરવાની પ્રાર્થના કરી રહ્યાં છે. જીવમાં ભલે દીનતા ન હોય છતાંય આચાર્યચરણ આજ્ઞા કરી રહ્યાં છે કે મારી ઉપર વિશ્વાસ રાખતાં આ શરણમાર્ગમાં ટકી રહેવાથી ભગવાન જીવના સાધનોની અપેક્ષા ન રાખતાં મારા વડે પ્રાર્થના કરવાથી જ ઉદ્ધાર કરશે, આ અર્થ છે.

કેષાંચિત્ :- ટીકાકાર લખે છે કે, પૂર્વમાં કહેલ પ્રેમની દશ અવસ્થાઓ દ્વારા પૂર્ણરૂપથી વિપ્રયોગનો અનુભવ થવા પર અને ભગવદ્પ્રાપ્તિમાં પ્રતિબંધ બનેલી આ ભૌતિકદેહના નિવૃત થઈ જવાપર, ભગવાન તે જીવને અલૌકિક રસાત્મક ભગવદ્લીલામાં ઉપયોગી દેહ પ્રદાન કરે છે, અને સ્વયં સાક્ષાત્ પ્રકટ થઈને સ્વરૂપાનંદનું દાન આપે છે. પુષ્ટિમાર્ગીયજીવનો મોક્ષ આ જ છે. તેથી આચાર્યચરણોએ ભગવાનનું મોક્ષસ્વરૂપ આ શ્લોકમાં નિરૂપિત કર્યું છે. આગળ ટીકાકાર લખે છે કે પ્રભુ કર્તુમ્-અકર્તુમ્-અન્યથાકર્તુમ્ સમર્થ છે, તેથી તેમના અલૌકિક ઐશ્વર્ય, વીર્ય ગુણોની સાથે જીવને સ્વરૂપાનંદનું દાન આપવા માટે સદૈવ તત્પર રહે છે. પરંતુ અહિંયાં એક શંકા આ થાય છે કે, પ્રભુ તો સર્વસમર્થ છે પરંતુ જીવ તેમની સમાનતા કરીને તેમના સ્વરૂપાનંદનો અનુભવ કેવી રીતે કરી શકે ? તો આચાર્યચરણ **સર્વત્રૈવાખિલાર્થકૃત્** વગેરેથી સમાધાન કરતાં કહી રહ્યાં છે કે પુષ્ટિપ્રવાહમર્યાદાભેદગ્રંથમાં કહેલ, ''ભગવાને પુષ્ટિજીવોની રચના પોતાના શ્રીઅંગથી કરી છે (૯)'', આ વાક્યાનુસાર ભગવાન એવા ભક્તને પોતાના સાક્ષાત્ રસાત્મક ચરણારવિંદ-મકરંદરૂપી રજ દ્વારા અલૌકિક દેહ વગેરે પ્રદાન કરી <u>સર્વત્ર</u> અર્થાત્ દેહ-પ્રાણ-ઈન્દ્રિયોમાં <u>**અખિલાર્થાન્**</u> અર્થાત્ રસાત્મક અલૌકિક આયુ, ગુણ વગૈરે અલૌકિક ઐશ્વર્ય, ગુણ વગેરેનું સામર્થ્યદાન કરે છે. આજ કારણે આચાર્યચરણોએ વૃત્રાસુર ચતુઃશ્લોકીની કારિકામાં ''યદિ ભગવાનને ધર્મ, અર્થ, કામ ત્રણે માની લીધા છે તો તમારો મોક્ષ નિશ્ચિત્ છે, આ કહ્યું છે. અને આ પણ સમજીકે ભગવાનની લીલાનો અનુભવ કરતાં સમયે પણ ભગવદ્-લીલાના પ્રભાવથી જીવમાં દૈન્ય ઉત્પન્ન થાય છે અને તે પ્રભુથી પોતાની સમાનતા નથી રાખતો-આ બતાવવા માટે આચાર્યચરણોએ **શરણસ્થ** શબ્દનો ઉપયોગ કર્યો છે. ભગવાનના સ્વરૂપાનંદ નો અનુભવ થયા પછી જે પ્રકારે શ્રીમદ્-ઉદ્ધવજીના ઉપદેશ દ્વારા જેવો નિરોધ ગોપિકાઓને સિદ્ધ થયો, તેવો નિરોધ તે ભક્તિથી સિદ્ધ થાય છે - આ બતાવવા માટે આચાર્યચરણોએ અહિંયા <u>સમુદ્ધારં</u> શબ્દનો પ્રયોગ કર્યો છે. આ પ્રકારે ઉદ્ધાર થવા પર જીવની ફલરૂપ પૂર્ણનિરોધમાં સ્થિતિ સદૈવ બની રહે છે. એના પછી તે પોતાને સાક્ષાત્ પુરુષોત્તમથી અભિન્ન સમજવા માંડે છે.

કૃષ્ણાશ્રયમિદં સ્તોત્રં યઃ પઠેત્ કૃષ્ણસન્નિધૌ ।
તસ્યાશ્રયો ભવેત્ કૃષ્ણ ઇતિ શ્રીવલ્લભોઽબ્રવીત્ ॥ ૧૧ ॥

શ્રીરઘુનાથજી :- અંતિમ શ્લોકમાં આચાર્યચરણ કેવળ આ ગ્રંથનો કેવળ પાઠ કરી લેવાથી પણ શું ફળપ્રાપ્ત થશે, આ બતાવી રહ્યાં છે. ટીકાકાર લખી રહ્યાં છે કે, જે સ્તોત્રનો પાઠ કરવાથી કૃષ્ણ પોતાના ભક્તો પર આશ્રિત થઈ જાય, તેનું નામ કૃષ્ણાશ્રય છે. અથવા તો જે સ્તોત્રપાઠમાં આશ્રયરૂપથી કૃષ્ણનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવે છે, તે સ્તોત્રને ''કૃષ્ણાશ્રય'' કહે છે. આ ગ્રંથને શ્રીકૃષ્ણની સન્મુખ પાઠ કરવાથી અથવા તો શ્રીકૃષ્ણ ના જ કોઈ અનન્યભક્તની નિકટતામાં પાઠ કરવાથી ભગવાન કૃષ્ણના આશ્રયથી અનભિજ્ઞ જીવના પણ કૃષ્ણ આશ્રય બની જાય છે. હવે આવા અતિદુર્લભ શ્રીકૃષ્ણ આ ગ્રંથ નો કેવળ પાઠ કરી લેવાથી આપણાં આશ્રય કેવી રીતે બની શકે - આવી શંકા ન કરવી કારણ કે આ વાત પોતે શ્રીવલ્લભ કહી રહ્યાં છે. અહિંયાં તો ભગવદ્આશ્રય પ્રાપ્ત કરવામાં ફક્ત આચાર્યચરણોની વાણીનું સામર્થ્ય જ મૂળકારણ છે. કારણકે એમના જ વચનોથી પ્રેરિત થઈને ભગવાન જીવના આશ્રય બને છે, જીવવડે કરેલા સાધનોની તો લેશમાત્ર પણ અપેક્ષા નથી રાખતા. ટીકાકાર અંતમાં

સમસ્ત પુષ્ટિજીવો માટે એક સુંદર ઉપદેશ આપી રહ્યાં છે કે -

હે જીવો ! સંસારની આધિવ્યાધિથી કેમ ચિંતાતુર થઈ રહ્યાં છો ? તમો આચાર્યવાણીની અમૃતથી પરિપૂર્ણ છો, તેથી સુખેથી કૃષ્ણનો આશ્રય કરો, સંશય ના કરો.

શ્રીકલ્યાણરાયજી :- અંતિમ શ્લોકમાં ટીકાકાર લખે છે, આ ગ્રંથમાં પૂર્વમાં કહેલા દશશ્લોકો દશ પ્રકારના પ્રાણોની જેમ છે. આ દશ શ્લોકોનું નિરૂપણ કરીને આ ગ્રંથનું ફળ આત્માની જેમ અક્ષય છે - આ બતાવવા માટે આચાર્યચરણ આત્મારૂપ અગ્યારમાં શ્લોક વડે આ સ્તોત્રપાઠનું ફળ કહી રહ્યાં છે. જે સ્તોત્રના પાઠ દ્વારા શ્રીકૃષ્ણની ભલીભાંતિરૂપથી સેવા કરવામાં આવે અથવા જે સ્તોત્રનો પાઠ કરવાથી શ્રીકૃષ્ણ આપણા આશ્રય બની જાય, તેનું નામ કૃષ્ણાશ્રયસ્તોત્ર છે. ટીકાકાર લખે છે કે આ સ્તોત્ર સિવાય બીજો કોઈ અન્ય સ્તોત્ર શ્રીકૃષ્ણનો આશ્રય સિદ્ધ કરાવી નથી શકતો. કૃષ્ણસન્નિધૌ પદનો અર્થ આ છે કે ભગવાન શ્રીકૃષ્ણની સન્નિધિમાં અથવા તેમના નિમિત્ત જો કોઈ આ ગ્રંથનો પાઠ કરશે, કૃષ્ણ તેને આશ્રિત થઈ જશે. ઈદમ્ (આ) શબ્દથી જણાય છે કે, આ કૃષ્ણાશ્રયગ્રંથ સિવાય બીજા કોઈ અન્ય ગ્રંથનો પાઠ કરવાથી આ ફળ નહિ મળે. અહિંયા એક શંકા થાય છે કે, આ ગ્રંથનું ફક્ત પાઠ કરી લેવાથી શ્રીકૃષ્ણ આપણા આશ્રય કેવી રીતે બની શકે ? આ શંકાનું સમાધાન આચાર્ય ચરણોએ શ્રીવલ્લભ શબ્દથી આપ્યું છે. આનો અર્થ આ છે કે, આ ઉપદેશ સાક્ષાત્ શ્રીવલ્લભે આપ્યો છે, તેથી આમાં કોઈપણ પ્રકારનો સંદેહ ના કરવો જોઈએ. શ્રીવલ્લભ ભગવત્-સ્વરૂપ ને ઓળખે છે. સમસ્ત દૈવીસૃષ્ટિનો ઉદ્ધાર કરવા માટે પોતે ભગવાને તેમને પ્રકટ કર્યા છે, તેથી તેમના કહ્યાંમાં અપ્રામાણિકતાની શંકા ન કરવી જોઈએ. સત્યવાચી ભગવાન પોતાની વાણીની વિરૂદ્ધ તો નહિ જ કરે. અર્થાત્ જેવી રીતે નારદજી દ્વારા કહેલ વાતને સાર્થક બનાવવા માટે તેમના કહ્યાને પોતાનું કહ્યું માનીને પોતે ભગવાન-પુરુષોત્તમે વૃક્ષોના વચમાં જઈને નલકૂબર અને મણિગ્રીવનો ઉદ્ધાર કર્યો, તેવીરીતે સમસ્ત અર્થોને પૂર્ણ કરવા માટે પોતાના જ સ્વરૂપથી પ્રકટ થયેલા શ્રીવલ્લભની કૃતિ અથવા તો વચનને પૂર્ણ કરવા માટે ભગવાન શું શું નહિ કરી દેશે ? તેથી શ્રીવલ્લભની કૃપાથી સર્વકાંઈ સિદ્ધ થઈ જશે.

શ્રીદ્વારકેશ્વરજી :- આચાર્યચરણો આ અંતિમ શ્લોકથી સંપૂર્ણ પાઠનું ફળ બતાવી રહ્યાં છે. ટીકાકાર લખે છે કે, આ ગ્રંથનો પાઠ કરવાથી શ્રીકૃષ્ણ આપણા આશ્રય બની જાય છે. તેથી આ ગ્રંથનું નામ કૃષ્ણાશ્રય છે. આચાર્યચરણ સન્નિધૌ શબ્દ દ્વારા આ ગ્રંથનો પાઠ કરવાની વિધિ બતાવી રહ્યાં છે. અર્થાત્ આ ગ્રંથનો પાઠ કાં તો પોતાના સેવ્યસ્વરૂપની સન્મુખ કરવો જોઈએ અથવા તો પોતાના ગુરુની સમક્ષ. જો આ બંને વસ્તુ શક્ય ન બનતી હોય તો પોતાના કોઈ એવા સ્મરણીય વ્યક્તિની સમક્ષ પાઠ કરવો જોઈએ, જે આપણને અહર્નિશ ભગવદ્-સ્મરણ કરાવતો હોય. જ્યારે આપણા મનમાં આવો નિશ્ચય થઈ જાય કે કર્મ, જ્ઞાન, ઉપાસના વગેરે ધર્મ ભગવદ્પ્રાપ્તિ કરાવવામાં અસાધક છે અને આપણને કૃતાર્થ થવાની ઉત્કટ ઈચ્છા થઈ જાય, તો આ આપણી પ્રથમ અવસ્થા છે. આના પછી જ્યારે આપણા મનમાં એવો નિશ્ચય થઈ જાય છે કે, - આપણાં પ્રયત્નોને જોયા વગર ભગવાન કૃપા કરીને સ્વયં આપણાં સર્વસાધક બની જાય છે - તો આ બીજી અવસ્થા છે; આ અવસ્થા સુધી પાઠ કરતાં રહેવું જોઈએ. યઃ (જે કોઈ) શબ્દથી જણાય છે કે જેના અંતઃકરણમાં ભગવદ્-ધર્મ છે અથવા તો નથી; એવા કોઈપણ પ્રકારના લોકો જો આ પ્રકારે આ ગ્રંથનો પાઠ કરશે, તો આચાર્યચરણ કહી રહ્યાં છે કે, ભગવાન તેના આશ્રય બની જશે. કયા ભગવાન ? તો કહી રહ્યાં છે કે કૃષ્ણ. હવે જો કોઈ આ શંકા કરે કે, શું પ્રમાણ છે કે આ ગ્રંથનો પાઠ કરવાથી ભગવાન તેના આશ્રય બની જશે ? તો આચાર્યચરણ અહિંયાં પોતાના નામ શ્રીવલ્લભ નો પ્રમાણ આપી રહ્યાં છે. તાત્પર્ય આ કે જેવી રીતે 'શ્રી' અર્થાત્ સ્વામિનીજી ના પ્યારા ભગવાન છે, તેવી રીતે જ આચાર્યચરણો પણ છે. તેથી તેમના વાક્યોને પણ ભગવદ્-વાક્યોની જેમ વેદરૂપ જણી, મસ્તકપર ધરી તેમના કહ્યાં મુજબ જ કરવું જોઈએ, આ અર્થ છે.

શ્રીવ્રજરાજજી :- આ શ્લોકની વ્યાખ્યા કરતાં ટીકાકાર બતાવે છે કે, પોતાનો ઉદ્ધાર કરવા માટે ભગવાનની કયા પ્રકારે પ્રાર્થના કરવી અને તે પ્રાર્થનાનું સ્વરૂપ કેવું છે ? જે સ્તોત્ર દ્વારા કૃષ્ણ આપણા આશ્રય બની જાય અથવા તો જે સ્તોત્રમાં આશ્રયનો વિષય કૃષ્ણ છે, તે કૃષ્ણાશ્રયસ્તોત્ર છે. આશ્રયની ચર્ચા શ્રીમદ્ભાગવતના સપ્તમસ્કંધમાં પ્રહલાદચરિત્રમાં "પ્રહલાદજી ગુરુ દ્વારા ભણાવેલું રાજનીતિ અને અર્થનીતિ પાઠ ભણીતો લેતા પરંતુ મનથી તેમને સારું નહોતા માનતા, કારણકે તેમાં ભગવદ્ -આશ્રયની કોઈ ચર્ચા નહોતી (શ્રી.ભા. ૭/૫/૩)" આ વાક્યમાં અને અન્યત્ર ઘણાં સ્થાનો પર પ્રસિદ્ધ છે. આજ આશ્રયના અર્થ ને બતાંવતા કૃષ્ણાશ્રય નામક સ્તોત્ર નો જે કોઈ કૃષ્ણની સન્નિધિમાં અર્થાત્ ભગવાનની નિકટ પાઠ કરે છે, કૃષ્ણ તેના

આશ્રય બની જાય છે અથવા તો સહાયક બની જાય છે, આ વાત પોતે શ્રીવલ્લભે કહી છે. તેથી આ સમજવું જોઈએ કે વિવેકધૈર્યાશ્રયગ્રંથમાં કહેલી રીતિ-અનુસાર આપણામાં જો વિવેક વગેરે ન પણ હોય, તો પણ દીનતાપૂર્વક આ સ્તોત્રના અર્થનું અનુસંધાન કરતાં ભગવાનની સન્મુખ જ આ સ્તોત્રનો પાઠ કરવો જોઈએ. જો આટલું પણ ના થઈ શકે તો આચાર્યચરણો પર વિશ્વાસ રાખતાં ભગવાનની સમક્ષ કેવળ પાઠ જ કરી લેવો જોઈએ. આ પ્રકારે આચાર્યચરણોએ માનસવાચનિક (મનથી અર્થને સમજીને પાઠ કરવો) અને કેવલવાચનિક (ફક્ત મોઢેથી પાઠ કરવો) આમ શરણાગતિના બે સાધન બતાવી દીધા છે.

કેષાંચિત્ :- ટીકાકાર લખે છે કે અહિંયા સુધી આચાર્યચરણોએ ભગવદ્-પ્રાપ્તિના સાધન, ભગવદ્-પ્રાપ્તિના ફલના વિવેક દ્વારા આશ્રયનું નિરૂપણ કર્યું છે. તે આશ્રય ભગવાનની અધરસુધા નું ફળ પ્રાપ્ત કરાવે છે, જે કેવળ ભગવદ્ભોગ્ય વસ્તુ છે અને અદેય છે. તેથી આપશ્રી પ્રભુથી કિંચિત્ માત્ર આશ્રય માટે **વિજ્ઞાપયામ્યહમ્** વગેરે શબ્દોથી નિવેદન કરી રહ્યાં છે. તે નિવેદન માટે તેઓ **ઈદમ્** શબ્દથી આ સ્તોત્ર તરફ સંકેત કરી રહ્યાં છે. આચાર્યચરણો પ્રભુથી નિવેદન કરી રહ્યાં છે કે, જે સ્તોત્ર દ્વારા કૃષ્ણ આપણા આશ્રય બની જાય, તે આશ્રયના સ્વરૂપનું નિવેદન મે આ શ્લોકમાં કર્યું છે. આવો આશ્રય સિદ્ધ થવા પર પોતે ભગવાન તે આશ્રિતજીવનો કયારેય ત્યાગ નથી કરતા અને તેનાથી બંધાઈને અદેયતમ વસ્તુ પણ તેને આપી દેતા હોય છે. આપશ્રી લખે છે કે પ્રભુની સન્મુખ આ ગ્રંથનો પાઠ કરવાથી પુષ્ટિમાર્ગીયજીવમાં ભાવાંકુર ઉત્પન્ન થાય છે અને તેના અંતઃકરણમાં પ્રભુનું સાન્નિધ્ય પ્રાપ્ત થાય છે. તેથી આપશ્રીએ આ ગ્રંથને ભગવાનની સન્મુખ પાઠ કરવાનું કહ્યું છે. **યઃ** (જે કોઈ) શબ્દનો અર્થ આ છે કે, જે કોઈ પણ જીવ પ્રભુ-સાન્નિધ્ય માટે આ ગ્રંથનો પાઠ કરે છે, પ્રભુ તેના આશ્રય બની જાય છે. આનાથી આ સિદ્ધ થાય છે કે આચાર્યચરણ ફક્ત તેમના સુધીની વાત નથી કરી રહ્યાં પરંતુ કહી રહ્યાં છે કે, જે કોઈ પણ જીવ પ્રભુની સન્મુખ આ ગ્રંથનો પાઠ કરશે, પ્રભુ તેના આશ્રય બની જશે, આ અર્થ છે. આજ આચાર્યચરણોનું અતિકરૂણામય ઉદારચરિત્ર છે. પરંતુ અહિંયા એક શંકા આ ઉત્પન્ન થાય છે કે, આ પ્રકારે પ્રાર્થના કરવાથી પણ જો પ્રભુ જીવને પોતાનો આશ્રય પ્રદાન ન કરે તો પછી ફળસિદ્ધિ કેવી રીતે થશે ? તો આચાર્યચરણ આ શંકાનું સમાધાન **શ્રીવલ્લભોઽબ્રવીત્** શબ્દથી કહી રહ્યાં છે કે આ વાત ને **નિશ્ચયતાથી હું શ્રીવલ્લભ કહી રહ્યો છું.** શ્લોકમાં પ્રયુકત **ઈતિ** શબ્દનો અર્થ પ્રથમશ્લોકથી માંડી આ શ્લોક સુધીમાં કરેલી પ્રાર્થના છે. **અહિંયાં શ્રીવલ્લભ શબ્દનો અર્થ છે** - શ્રીસ્વરૂપા ગોપીકાઓના વલ્લભ (ધ્યારા), જેનાથી ગોપિકાઓને પરમવાત્સલ્ય **છે, તેવા શ્રીવલ્લભ આ વાત કહી રહ્યાં છે.** તેથી તેમના કહ્યામાં સંદેહ ન કરવો જોઈએ. ગોપિકાઓને **આચાર્યચરણોથી પરમ વાત્સલ્ય છે, આ કારણે તેઓ** પોતાના સમસ્ત રહસ્ય આમનાથી કહેતી હોય છે. પોતે આચાર્યચરણોએ **સંન્યાસનિર્ણયગ્રંથમાં આ ગોપિકાઓને પુષ્ટિમાર્ગના** ગુરુ બતાવ્યા છે. પોતાના અતિપ્રિય વ્યકિતને ગુરુ પોતાનું રહસ્ય બતાવેજ છે. ગોપિકાઓના અતિપ્રિય હોવાને કારણે આચાર્યચરણોથી પ્રભુને પણ અતિપ્રેમ છે. આ કારણે તેમનું કહેલું સર્વકાંઈ ભગવાન સ્વીકાર કરી લે છે. ઉપર્યુકત સમસ્ત વિશ્લેષણોથી આ જણાય છે કે, આચાર્યચરણો દ્વારા કહ્યા મુજબ કરવાથી ભગવદ્-આશ્રયરૂપી ફળ નિઃસંદિગ્ધ રૂપથી પ્રાપ્ત થશે જ.